बहुवचन

बहु सुमन, बहु रंग, निर्मित एक सुंदर हार

हिन्दी की अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक पत्रिका

सम्पादक

राजेन्द्र कुमार

सह सम्पादक

प्रकाश त्रिपाठी

मृत्युंजय

समन्वयक

राकेश श्रीमाल

ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय का प्रकाशन

बहुवचन

अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी त्रैमासिक

अंक : 23, अक्टूबर-दिसम्बर,2009

प्रकाशक : महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय

सम्पादकीय कार्यालय :
क्षेत्रीय कार्यालय, महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय
24/28, सरोजिनी नायडू मार्ग, इलाहाबाद-211001
फोनः 0532- 2424442, 2466529, मो. : 09415763049, 09918865005

बिक्री और प्रसार कार्यालय :
प्रकाशन विभाग,
महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय
पोस्ट बॉक्स सं0- 16, पंचटीला, वर्धा- 442001 (महाराष्ट्र)
फोनः 07152-230901, फैक्सः 091-7152-230903
ई-मेलः bahuvachan@gmail.com
तारः हिन्दीविश्व

© सम्बन्धित लेखकों एवं रचनाकारों द्वारा सुरक्षित

प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से म.गा.अ.हि.वि., वर्धा
या सम्पादकों की सहमति अनिवार्य नहीं है।

पंजीयन सं. अप्रैल-जूनः DELHIN/2000/1228

यह अंक : 50 रुपये, वार्षिक शुल्क 200 रुपये
विदेश में :
हवाई डाक : एक प्रति 15 अमेरिकी डॉलर/7 ब्रिटिश पाउंड
समुद्री डाक : एक प्रति 8 डॉलर/5 ब्रिटिश पाउंड

BAHUVACHAN
A QUARTERLY INTERNATIONAL JOURNAL IN HINDI
Published by Mahatma Gandhi International Hindi University
P.B. NO. 16, PANCHTEELA, WARDHA-442001 (MAHARASHTRA) INDIA

वार्षिक सदस्यता के लिए बैंक ड्राफ्ट **महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा**
के नाम से इस पते पर भेजें —
महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय,
पोस्ट बॉक्स सं.- 16, पंचटीला, वर्धा- 442001 (महाराष्ट्र)

मुद्रक : रुचिका प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-110032 (फोन : 011-22821174, 9212796256)

आवरण : अशोक सिद्धार्थ

अनुक्रम

संपादकीय

सपनों के स्यापे का समय नहीं है यह / ५

विचार-वीथी

आचार्य शुक्ल का काव्यालोचन : कुछ बिंदु / ११
अजितकुमार

स्वाधीनता और साहित्य / १७
रमेशचंद्र शाह

जातीयता और साहित्य / ३०
नंदकिशोर नवल

समकालीन कविता के आसंग में प्रयोगवाद / ३४
कर्मेन्दु शिशिर

मध्यकालीन भारतीय कला और समाज : कुछ पहलू / ४१
रमण सिन्हा

अंग्रेज़ी वर्चस्व : गांधी का हस्तक्षेप / ४६
शम्भुनाथ

उत्तर-आधुनिकता का दार्शनिक पसारा / ५६
प्रणय कृष्ण

उन्मुख

विज्ञान और अंतरराष्ट्रीय समझ / ७३
हाईजेनबर्ग

हेरेटा मुलर का आत्मवृत्त / ८३

सृजनभूमि

नौ कविताएँ / ९१
केशव तिवारी

बारह कविताएँ / १००
बख़्शीश सिंह

कहानी

विश्वास / १०६
विवेकानंद

डायरी

लापता क़िस्सों में / १११
पीयूष दईया

उपन्यासांश

सुल्तान रज़िया / ११७
मेवाराम

चित्र-वीथी में हेम ज्योतिका के चित्र

जो अलक्षित रह गया है

नज़रूल की हिंदी कविता / १३५

खिड़कियाँ

रसचक्र और शरत्चन्द्र (संस्मरण) / १४१
कालिदास राय

आधुनिकता और संस्कृत उपन्यास / १४९
बजरंग बिहारी तिवारी

समकालीन मलयालम कविता / १५६
पी.रवि

अनवरत

'छीले जा रहा मेरा यह निजत्व ही कोई' / १६९
(आपात्काल : रचनाकर्म और पत्रकारिता)
अमरेन्द्र कुमार शर्मा

भारतीय नवजागरण : स्त्री-प्रश्न और हिंदी साहित्य / १८७
रोहिणी अग्रवाल

मुख़ातिब में पाठकों के पत्र / २४५

सपनों के स्यापे का समय नहीं है यह

हिंदी के समकालीन रचना-परिदृश्य में सक्रियता का ग्राफ़ जिस तेजी से बढ़ा है, वह बहुत उत्साह-जनक है। लेकिन इस सक्रियता के मूल्यांकन की अनेक समस्याएँ भी हैं। क्या मूल्यांकन का आधार यह हो सकता है कि किस रचनाकार को लेकर कितनी चर्चाएँ हो रही हैं या कितने विवाद उठ रहे हैं? पत्र-पत्रिकाओं में किसकी कितनी रचनाएँ छप रही हैं या किसकी रचनाओं के कितने संग्रह शाया हुए? अथवा यह कि किस पर किन-किन पुरस्कारों या सम्मानों की वर्षा हुई? ज़ाहिर है, प्रबंधन और प्रायोजिकीकरण के इस दौर में, ऐसा कोई भी आधार बहुत विश्वसनीय नहीं माना जा सकता है।

घूम-फिर कर, अगर हम फिर आलोचना के दायित्व के सवाल पर आएँ, तो इस मुक़ाम पर भी फ़िलवक़्त जो कुछ है, वह हमारे लिए या तो शोक और क्षोभ का विषय है या फिर निरे छिद्रान्वेषण और उपदेश का विषय! वैसे भी, ऐसी मिसालों का अपना इतिहास है, जो बताता है कि किसी भी भाषा और किसी भी काल के रचनाकारों ने आलोचकों पर बहुत भरोसा किया हो, ऐसे अवसर विरल ही हैं। पश्चिम में तो एक समय एक मज़ाक ही चल पड़ा था— 'आलोचक, माने ऐसा व्यक्ति— जो अक्लमंदों पर राय देने की मूर्खता करता है!' पर हम समझते हैं कि इतना अतिवादी होना भी ठीक नहीं कि आलोचना को एकदम ही ग़ैर-भरोसे का अनुशासन मानकर किनारे कर दिया जाए। बल्कि आलोचना अगर संदेह के घेरे में भी हो, तो भी आलोचना के बारे में यह तथ्य तो विचारणीय होना ही चाहिए– जैसा कि जेम्स रसेल लॉवेल (1819-1891) ने लिखा—'बुद्धिमत्तापूर्ण संदेह जगाना एक अच्छी आलोचना का प्राथमिक गुण होता है' (A wise scepticism is the first attribute of a good criticism)।

असल में आलोचना का संकट आज दूसरा है। 'आलोचना' शब्द हिंदी साहित्य-चिंतन के क्षेत्र में आज महज़ कुछ 'मान लिए गए विशेषज्ञों' की राय का पर्याय बनकर रह गया है। हमारे समाज के 'सामान्य मन' की संवेदनाओं और सहज विवेक से विकसित किसी मूल्य-दृष्टि को वहाँ कसौटी के रूप में महत्त्व दे पाना निरंतर अनपेक्षित होता जा रहा है। 'सामान्य मन' की हिमायत का यह अर्थ न लिया जाए कि किसी भी प्रकार की विशेषज्ञता की ज़रूरत से ही इनकार किया जा रहा है। विशेषज्ञता की ज़रूरत अपनी जगह रहेगी, लेकिन यदि वह हमारे समाज के एक बड़े पाठक-वर्ग— जो कि विशेषज्ञ नहीं है लेकिन प्रबुद्ध है—के प्रति अनादर और अविश्वास का भाव जगाने में ही ख़र्च हो जाती है तो ऐसी विशेषज्ञता को आलोचना की सकारात्मक भूमिका में एक अवरोधक तत्त्व बनते देर नहीं लगती।

आलोचना का काम रचनाकारों के महत्त्व-क्रम का निर्धारण करने भर तक क्यों सीमित रह जाता है? या रचनाकारों की सूचियों को परिवर्द्धित करते रहने में ही वह बार-बार क्योंकर मगन होती रहती है? आलोचना का ज़्यादा ज़रूरी काम है कि वह साहित्य के ज़्यादा से ज़्यादा पाठकों के लिए, उनकी स्वयं की प्रबुद्धता के विकास में मददगार बने; उनको इस तरह परजीवी बनाकर न रख दे कि स्वयं के विवेक को लेकर उनके मन में हीनता का भाव जागे। यदि आज आलोचना अपने इस ज़रूरी कार्यभार को पूरी निष्ठा से समझ ले और संभाल ले, तो समाज के एक बड़े वर्ग को यह पात्रता अर्जित करने का अवसर मिलेगा कि वह अपने समय की रचनाशीलता के मूल्यांकन में सीधे खुद भी योग दे सके। नहीं तो, यही होता रहेगा-जो कि हो रहा है—कि रचनाकारों की जो भी सूचियाँ बनेंगी, वो महज़ कुछ 'मान लिए गए' विशेषज्ञों के एकाधिकार से ही बनेंगीं।

अभी हाल में कविता-कहानी की समकालीन दशा-दिशा पर हुई एक संगोष्ठी के मौक़े पर समकालीन रचनाशीलता के संदर्भ में यह रोना रोया गया कि आज के रचनाकारों के पास अपनी रचनाशीलता को लेकर कोई बड़ा सपना नहीं है। यह रोना भी कोई नया रोना नहीं है। लगभग पचीस बरस पहले महादेवी जी ने अपने एक साक्षात्कार में भी, अपने खुद के समय और बाद की पीढ़ियों के समय के अंतर को बताते हुए यही कहा था—'हम सबकी आँखों में कुछ स्वप्न थे। जिन आँखों के पास सपने ही न हों, वे आँखें संवेदनाओं का सच्चा साक्षात्कार कैसे कर सकती हैं? (द्रष्टव्य, 'अभिप्राय' का अक्टू.'83 अंक)।

हमें सोचना चाहिए कि सपनों का यह स्यापा भी हमें कहीं किसी ऐसी भावुकता के हवाले करने वाला तो नहीं है, जो हमारे अपने समय की तीखी सच्चाइयों से आँख मिलाने की क्षमता को कुंद करने के काम आ जाए! पंद्रह अगस्त 1947 की आधी रात, सुबह होते-होते, कितने सपने सौंप कर गई थी हमें? 'गाँधी के सपनों का भारत', 'नेहरू के सपनों का भारत' जैसे मुहावरों से नये जनमे लोकतंत्र की दिशा-दिशा गूंज रही थी! लेकिन क्या हुआ उस स्वप्नवानता का? 'स्वप्न' शब्द कैसा अभिशप्त होता गया— अपना अर्थ निरंतर खोते जाने के लिए!

मनोविज्ञान की मानें, तो स्वप्न बुनने का कारख़ाना हमारे अवचेतन में होता है। लेकिन जिसे हम 'उपभोक्तावाद' के रूप में चिन्हित कर रहे हैं, अब तो हमारे अवचेतन तक में उसने अपनी पहुँच बना ली है। इसलिए हमारे सपनों के कारख़ाने का मालिक भी अब उपभोक्तावाद हो रहा है। ऐसे में सपनों की बात करना अब कोई दार्शनिक कार्रवाई नहीं रह गयी है। पूंजी का निवेशीकरण यहाँ भी अपनी संभावनाएँ तलाशने में लगा है। उपभोक्तावाद भी हमें स्वप्नवान् बनाता है, लेकिन दर्शन-विहीन बनाकर! अब हमारे सपने न किसी जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति होते हैं, न किसी समाज-दर्शन की अभिव्यक्ति! और शायद किसी यथार्थ-दर्शन की भी अभिव्यक्ति नहीं! यहाँ, 'शायद' इसलिए लगाना पड़ रहा है कि हमारे सपनों का यथार्थ से संबंध, जिस तरह पहले हमारे वर्गगत आधारों से तय होता था, वैसा भी होने की गुंजाइश अब कम होती जा रही है। हमारे समाज का यथार्थ यह है कि उसमें वर्गगत विषमता बढ़ी है, लेकिन चूँकि उपभोक्तावाद सभी वर्गों में अपने 'उपभोक्ता' समान रूप से तलाशने निकला है, इसलिए उसकी कोशिश है कि सभी वर्ग जो भी सपने देखें, वो सपने एक-से हों, वर्ग-भेद से अप्रभावित!

यह विडम्बना नहीं तो और क्या है कि अपने उत्कृष्टतम रूप में वर्ग-विहीन समाज का जो सपना समाजवाद को देखना था, उसे विकृततम रूप में अब उपभोक्तावाद ने हथिया लिया है।

इसलिए यह समय सपनों के स्यापे का नहीं है। स्थितियों के प्रत्यक्ष यथार्थ से आँखें मिलाने का है।

'बहुवचन' (त्रैमासिक) का यह अंक इस वर्ष का अंतिम अंक है। पिछले तीन अंकों पर हमें अपने पाठकों की व्यापक प्रतिक्रियाएँ मिलीं। कुल मिलाकर लगभग डेढ़-सौ। फ़ोन पर अलग। अपने सभी लेखक और पाठक मित्रों का 'बहुवचन' से यह जुड़ाव हमारा संबल है। पर सभी पत्रों को छाप पाना संभव नहीं है। कुछ मित्रों ने तो इतने लंबे-लंबे पत्र लिखे कि वे पूरे लेख ही हो गये। उनमें से भी हम केवल कुछ बहस-तलब अंश ही रेखांकित कर पा रहे हैं। कृतज्ञ मगर हम सभी के हैं, और अगले अंकों के संयोजन-संपादन में हम उन सभी की सम्मतियों का मान रखने योग्य बनने की कोशिश करेंगे।

यदि हमसे कोई भूल होती है, तो उसे भी अपने पाठकों के संज्ञान में लाने में हम कभी कोई संकोच नहीं करेंगे। 'बहुवचन' (जुलाई-सितं. 2009) में छपे लेख 'हबीब के रंग' में 'जिन लाहौर नी देख्या वो जन्मयां ही नी' नाटक को असग़र वजाहत की कहानी पर हबीब द्वारा तैयार किया गया नाटक बताया गया है। उक्त लेख के लेखक इक़बाल रिज़वी ने असावधानीवश हुई अपनी इस भूल के लिए खेद व्यक्त किया है। दरअसल, 'जिन लाहौर नी देख्या.....' शीर्षक रचना कहानी का हबीब तनवीर द्वारा किया गया नाट्य रूपांतर नहीं, बल्कि अपने आप में स्वयं असग़र वजाहत द्वारा लिखित मौलिक नाटक ही है, जो श्री वजाहत की सूचनानुसार हिंदी ही नहीं, उर्दू, अंग्रेज़ी, पंजाबी और कन्नड़ में भी लोकप्रिय हुआ। देश-विदेश में इसके सैकड़ों शो हो चुके हैं।

कुछ मित्रों ने 'बहुवचन' में रचनात्मक विधाओं की अपेक्षा शोध और चिंतन-प्रधान सामग्री को अधिक स्थान देने की हमारी नीति पर भी प्रश्न उठाये। उनसे हमारा इतना ही निवेदन है कि 'बहुवचन' को एक ऐसा मंच बनने देने में हम कोई कसर उठा नहीं रखना चाहते, जिस पर समकालीन सृजन और चिंतन, दोनों एक-दूसरे से उपकृत और समृद्ध होते दिखें। वैसे भी भारत के एक बड़े बौद्धिक समुदाय को यह भ्रम है कि ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में जितना गंभीर शोध और अध्ययन-मनन का काम अंग्रेज़ी में लिखने वालों ने किया है, हिंदी में लिखने वालों ने नहीं। हम चाहते हैं, ऐसे बौद्धिकों का भ्रम टूटे; वे आश्वस्त हों कि हिंदी में केवल सृजनात्मक विधाओं की ही पुष्ट परम्परा नहीं है, शोध और चिंतन की भी अनंत संभावनाएँ हैं।

हम अपने रचनात्मक प्रयासों से संदेह के 'उन घेरों' को भी ध्वस्त करना चाहते हैं, जो हिंदीतर क्षेत्रों के राजनेताओं की चालाक सियासी निर्मितियाँ हैं। जिनके रहते, पिछले दिनों महाराष्ट्र विधान सभा में राजठाकरे के 'मनसे' के विधायकों ने हिंदी में शपथ लेने वाले विधायक को अपमानित किया। हम चाहते हैं, हिंदी में ऐसी 'खिड़कियाँ' लगातार खुली रहें, जिनमें झाँककर 'हिंदी से डरे हुए मन वाले' (राज ठाकरे जैसे राजनेता) देख सकें कि हिंदी का अपना आवास कितना खुला हुआ है, कितना उन्मुक्त और अपने अड़ोस-पड़ोस की भाषाओं के लिए कितने सम्मान-भाव से युक्त!

शोक का विषय है कि हिंदी के तीन वरिष्ठ लेखक— गुणाकर मुले, प्रभाष जोशी और डॉ. कुँवरपाल सिंह इस बीच, हमेशा के लिए, हमसे रुख़सत हो गये। इन तीनों को 'बहुवचन' की विनम्र श्रद्धांजलि! गुणाकर मुले विज्ञान की विभिन्न शाखाओं पर और प्रमुख वैज्ञानिकों एवं गणितज्ञों के जीवन पर लिखकर हिंदी के सामान्य पाठकों के ज्ञान के क्षितिज का विस्तार करने में आजीवन लगे रहे। प्रभाष जोशी हिंदी पत्रकारिता को एक निर्भीक और ज़िम्मेदाराना तेवर देने वाले व्यक्तित्व के रूप में सदैव अविस्मरणीय रहेंगे। उनने 'कागद कारे' करके अपन को 'कागद की लेखी' की उस ताक़त का एहसास कराया, जो 'आँखिन की देखी' से सीधी मुठभेड़ करने की तैयारी में काम आ सकती है। डॉ. कुँवरपाल सिंह— एक प्रतिबद्ध मार्क्सवादी, एक उदार अध्यापक! राही मासूम रज़ा जैसे लेखक को हिंदी का लेखक बनने का इतना उत्साह शायद ही मिला होता, यदि उन्हें कुँवरपाल सिंह जैसा अपना दोस्त न मिलता!

विचार-वीथी

आचार्य रामचंद्र शुक्ल की १२५ वीं जयंती का वर्ष है यह। और उनके प्रसिद्ध निबंध 'कविता क्या है' (जो अपने प्रथम प्रारूप में अप्रैल, १९०९ की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ था।) का सौवां वर्ष। शुक्ल जी ने इस निबंध को पहले-पहल जिस संग्रह में शामिल किया था, उसका नाम रखा था -'विचार-वीथी' । 'बहुवचन' के इस अंक में हम यहाँ भाषा, साहित्य और कला से जुड़े कुछ महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विशेष रूप से लिखाये गये निबंधों के इस खंड को भी 'विचार-वीथी' नाम से ही संयोजित कर रहे हैं ताकि हम शुक्ल जी के आलोचना-विवेक की 'बहुवस्तु-स्पर्शिता' का स्मरण भी कर सकें और साथ ही साथ, यह भी लक्ष्य कर सकें हिंदी की विचार-वीथी में नया क्या-क्या जुड़ा है, या क्या-क्या जुड़ने से रह गया है। 'हिंदी साहित्य के इतिहास' में जब शुक्ल जी ने अपने काल को 'आधुनिक काल' कहा होगा, तो उनके सामने 'आधुनिक' को परिभाषित करने का प्रश्न रहा होगा। लेकिन अब तो हम 'उत्तर-आधुनिक' की परिभाषा में भी आ उलझे हैं। आधुनिकता और उत्तर आधुनिकता तक के इस पसारे में एक विडम्बना हम यह भी देखते हैं कि हमारा हिंदी समाज विचार की मुद्रा में अभी 'अंग्रेज़ी समय' में रहने में ही अपनी शान समझता है। साहित्य के संदर्भ में जातीयता, स्वाधीनता और अंग्रेज़ी वर्चस्व के प्रश्नों को इसीलिए गंभीरता से उठाये जाने की . ज़रूरत है। 'विचार-वीथी' का यह संयोजन इस ज़रूरत का भी एहसास कराता है और आचार्य शुक्ल को अपनी चेतना में सहेजने की सार्थकता का भी।

आचार्य शुक्ल का काव्यालोचन : कुछ बिंदु

अजितकुमार

आचार्य शुक्ल अपना एक लेख 'कविता क्या है?' यों तो—संशोधन-परिवर्धन करते हुए लम्बे समय तक लिखते गये और, उन्हें पूरा जीवन मिला होता तो कदाचित् वे अपनी केन्द्रीय विचारसरणि से तालमेल रखने वाले और भी कुछ अंश उसमें जोड़ते। उक्त निबन्ध के विभिन्न पाठों का और शुक्लजी पर पड़े देशी-विदेशी प्रभावों का विधिवत् अध्ययन होना अभी शेष है— पर कविता संबंधी उनके विचार उस लेख के अलावा भी उनकी विभिन्न कृतियों में अंकित हुए हैं।

आलोचक के रूप में शुक्लजी की विशेषता यह है कि कविता ही नहीं, सभी विषयों और विधाओं के बारे में उन्होंने जो भी विचार बाहर से या अपनी अन्तरानुभूति से पाए, उनको अलग-थलग नहीं रहने दिया और पैबन्द की तरह अपने लेखन में ऊपर से जोड़ा-गाँठा नहीं, बल्कि उन्हें पूरी तरह आत्मसात् कर अपने चिन्तन और भावबोध का बुनियादी हिस्सा बनाया। यही अन्य आलोचकों से शुक्लजी का प्रमुख अन्तर है। उनके विचार सुचिन्तित, सुसंबद्ध और गहरे विश्वास में से उपजे प्रतीत होते हैं। इन्हें परस्पर गूँथकर वे अटूट श्रृंखला-सी बना देते हैं—एक ओर, आनन्द की सिद्धावस्था जुड़ी है माधुर्य से, माधुर्य भाव की उपासना 'रहस्य' से, 'रहस्य' कबीर-नाथ-सिद्ध से, और नाथ-सिद्ध व्यक्तिवैचित्र्य से। आगे चलकर छायावादी कविता और प्रभाववादी आलोचना को भी शुक्लजी उससे संयुक्त करते हैं। यही नहीं, केशव जैसे कवियों की आडम्बरयुक्त रचना को, अकर्मण्यता और गुह्य साधना को, दरबारी काव्य को और सूक्ति-चमत्कार को भी वे इसी खत्ते में डालते हैं।

दूसरी ओर, अतीत और प्रकृति से रस ग्रहण करनेवाली, जीवनानुभव पर आधारित, प्रत्यक्ष रूप विधानमय, लोकमंगलकारी, भाव-समन्वित, जातीयता से युक्त साहित्य-धारा को वे हिन्दी की मूल परम्परा मानते हैं। तुलसी, सूर, जायसी, भारतेन्दु, प्रेमचन्द आदि को वे इसी नाते महत्व प्रदान करते हैं।

एक निगाह उनकी पद्धति पर डालें तो मालूम होगा कि विषय के विभिन्न पक्षों का विश्लेषण कर, उसको अपनी साहित्यिक-सांस्कृतिक परंपरा से जोड़ने और सम्यक् विवेचन करने के बाद वे अपने विचारों का सारांश भी बताते हैं। ज़रूरी नहीं कि हर आलोचक का तौर-तरीका एक-सा हो, पर शुक्ल जी को ठीक से समझने में यह जानना सहायक होगा कि वे प्रथमतः और अन्ततः एक अध्यापक-आलोचक हैं और साहित्य सम्बन्धी उनके विचार-सिद्धान्त अध्ययन-अध्यापन की उस प्रक्रिया में विकसित हुए

जिन्हें शिक्षण के दौरान जाँचने-परखने, सुधारने-सँवारने-परिष्कृत करने का अवसर भी उन्हें मिल सका। प्रत्यक्ष रूपविधान के आग्रह और लेखन में शब्द-चयन के प्रति सावधानी को भी अध्ययन-अध्यापन के अलावा, शुक्लजी के जीवनगत अन्य सरोकारों— ड्राइंग-शिक्षण, प्राकृतिक स्थलों में भ्रमण, और कोश-निर्माण— से जोड़ा जा सकता है।

ये सभी प्रभाव उनकी आलोचना-शैली में झलकते हैं। कई बार, वे अपनी बात उस अध्यापक की भाँति भी कहते हैं जो प्रायः एक विषय को अनेक वर्षों तक लगातार पढ़ाने के कारण अपने आप को दोहराने लगता है। लेकिन अन्यों से शुक्लजी का यह अन्तर उल्लेखनीय है कि उनमें यह दोहराव 'विचारों का अभाव' कदापि नहीं जान पड़ता, यही आभास देता है कि या तो वे गूढ़ विषय को सरल-सुबोध बनाने के विचार से ऐसा कर रहे हैं या जिसे पहले कह चुके हैं उसे और सफ़ाई के साथ प्रस्तुत करने— फ़ाइन ट्यून करने-की ज़रूरत समझने से ऐसा हुआ है।

इस लिहाज़ से, किन्हीं अन्य आलोचकों से उनकी तुलना करना निश्चय ही रोचक तथा ज्ञानवर्धक होगा। मसलन, आचार्य शुक्ल से शान्तिप्रिय द्विवेदी और डॉ. देवराज की भिन्नता के अनेक बिन्दु इस अन्तर में देखे जा सकते हैं कि शान्तिप्रियजी अध्यापक न थे और डॉ. देवराज दर्शनशास्त्र के अध्यापक थे। शुक्लजी के निष्कर्षों को उनके विवेचन-विश्लेषण और तर्क-शृंखला से जोड़ने पर इस अन्तर के अन्य आयाम भी उद्घाटित होंगे। सर्जक-आलोचक में जहाँ कोई विचार कौंध या विस्फोट की भाँति फूटता नज़र आता है, दर्शनशास्त्री आलोचक में जहाँ रुझान जटिलता-गूढ़ता की ओर दिखता है, वहाँ अध्यापक-आलोचक में वह निरन्तर अनुशासन और व्यवस्थित श्रृंखला की विभिन्न कड़ियों का रूप लेता है। 'ज्योति-विहग' और 'त्रिवेणी' की शैलियों के बीच या 'छायावाद के पतन' और 'भक्ति' के उन्नयन की व्याख्याओं के बीच इस कारण आ गये अन्तर उल्लेखनीय हैं।

●●●

शुक्ल जी के काव्यालोचन की इतनी अधिक और इतने मतभेदों से घिरी चर्चा हिन्दी में हो चुकी है कि उसे संक्षेप में यहाँ दोहराना न संभव है, न ज़रूरी ही। तो भी यह कहना संगत होगा कि असंख्य अन्य आलोचकों की विद्यमानता के बावजूद वे हमारे अब तक के सबसे बड़े और सम्पूर्ण आलोचक हैं। मुख्यतः तो उन्हें कविता का आलोचक माना जाता है पर उनके विस्तृत लेखन से परिचित सुधी पाठक जानते हैं कि उनका आलोचना कर्म कविता के परे भी दूर-दूर तक फैला हुआ है। शास्त्र से लोक तक, सिद्धान्त से व्यवहार तक, प्राचीन से अर्वाचीन तक, विदेशी से जातीय तक-उसकी बहुत अधिक व्याप्ति है।

मेरे लेखे उसका अतिरिक्त महत्व यह भी है कि अपने मात्र 57 वर्ष के जीवन (1884-1941) में उन्होंने प्रचुर गद्य के अलावा कविता भी लिखी। और, यदि वे जीते रहते तो उनका इरादा कविता में रमने-लौटने का था जबकि आमतौर से देखा यह गया है कि रचना-कर्म में आलोचकों से कविता छूटती रही है। इस मामले में शुक्लजी की विशेषता यह भी है कि कविता और साहित्य विषयक अपने कुछ मूल विचार उन्होंने अपनी कविताओं में भी व्यक्त किए, जो 'मधुस्रोत' में उनके मरणोपरान्त संकलित हुईं। साहित्य-विषयक उनके विचारों से अवगत होने का एक 'शार्टकट' यह भी होगा कि उनकी कविताएँ

ध्यान से पढ़ी जाएँ। इसे स्पष्ट करने के लिए दो-एक-उदाहरण ही पर्याप्त हैं—

सचमुच ही यदि प्रेम कहीं हैं,
ज्ञात छोड़ वह कहीं नहीं है।

'लगा किसी अज्ञात क्षेत्र में'- यह कहकर क्यों बात छिपाना।
यही ज्ञात 'सत्' का प्रकाश है, 'चित' का भी है यही ठिकाना।।

यहीं सघन आनंद घटा है।
यहीं अजस्र अनभ्र छटा है।

और भी

जीवन के अर्थ की क्या सिद्धि यह कोई नहीं, देके सुख देंखें हम आप सुख मान के?
तेरी अर्थबुद्धि नर, भारी इस अर्थ तक पहुँचेगी, कभी, वाणी आई यह ठान के।

यह भी कि

प्रभु की लोकरंजिनी छवि पर जब तक भक्ति रहेगी।
तब तक गिर-गिर कर उठने की हममें शक्ति रहेगी।

और भी—

युग-युग के रूपों में सनते
भाव चले आते हैं बनते।
जिस शोभा के लिए हृदय में
पहले से कुछ प्यार धरा है
काव्यमयी रसमयी वही है-
कहीं न कुछ खोटा, न खरा है।
यही प्यार जिसमें जितना है,
जाग्रत, वह भावुक उतना है।

इन कविता-पंक्तियों में हम शुक्लजी की किन्हीं विश्रुत उक्तियों की सीधी और स्पष्ट गूँज पा सकते हैं—

> 'जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं'।

'सुन्दर और कुरूप- काव्य में बस ये ही दो पक्ष है। भला-बुरा, शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, मंगल-अमंगल, उपयोगी-अनुपयोगी- ये सब शब्द काव्य क्षेत्र के बाहर के हैं।'

'मनुष्य के लिए कविता इतनी प्रयोजनीय वस्तु है कि संसार की सभ्य-असभ्य सभी जातियों में किसी-न-किसी रूप में पाई जाती है। चाहे इतिहास न हो, विज्ञान न हो, दर्शन न हो, पर कविता का प्रचार अवश्य रहेगा।'

●●●

साहित्य-चिन्तन की लम्बी परम्परा में स्वाभाविक रूप से कुछ विचार मूल रूप में, तो कुछ छनकर या रूप बदलकर सामने आते रहे हैं। शुक्ल जी ने भावों के मूल रूप तक पहुँचने की सलाह कवियों-सहृदयों को दी थी, साथ ही विचारों के मूल रूप तक भी यदि पहुँचा जाय तो कई गुत्थियाँ सुलझ सकेंगी। उदाहरण के लिए, भक्ति आन्दोलन के विषय में शुक्लजी की मान्यता थी कि इस्लाम के आगमन से उसमें अत्यधिक तीव्रता आई, जबकि आचार्य द्विवेदी का मानना था कि इस्लाम यदि न आया होता तो भी भक्ति का रुपये में बारह आना अर्थात् तीन-चौथाई स्वरूप वैसा ही होता। कारण यह कि मध्ययुग के आरम्भ में दक्षिण में भक्ति का जो प्रबल आन्दोलन शुरू हो चुका था, वह पन्द्रहवीं-सोलहवीं सदी तक किसी न किसी रूप में विद्यमान था, इस्लाम के वर्चस्व ने केवल उसे थोड़ी गति भर और दे दी। इस विवेचन को लेकर एक समय हिन्दी में बहुत चर्चा हुई और इसे दो विद्वानों के बीच भारी मतभेद या मतिभेदों की भाँति रेखांकित भी किया गया, जबकि वास्तव में, इसे दो विद्वानों के दृष्टिकोण का अन्तर समझना उचित होता।

जब यह तय करने का समय आया कि कोई स्थिति अपने युग की परिस्थितियों से अधिक परिचालित होती है या अपने अतीत से, तो उन दोनों आलोचकों ने सब कुछ जानते-बूझते हुए भी अलग-अलग निष्कर्ष निकाले, जो कुछ-कुछ वैसे ही थे जैसे यह कि गंगा में एक बड़ा स्रोत पहले आकर हरिद्वार में मिला, कि वह बाद में जाकर कहीं और जुड़ा? यह मतभेद आज भी बना हुआ है कि प्रभावविशेष के स्रोत की पड़ताल के लिए कितने पीछे तक जाना उपयुक्त होगा। पुराणपंथियों और आधुनिकतावादियों के बीच मौजूद सनातन झगड़े को सभी जानते हैं।

यह बात नहीं कि शुक्लजी देश में चली आ रही भक्ति की पुरानी परंपरा से नितान्त अपरिचित हैं। यत्र-तत्र और बार-बार उसका उल्लेख और निदर्शन भी उन्होंने किया है लेकिन पन्द्रहवीं-सोलहवीं सदी की कविता पर आठवीं—या और भी पुरानी-पहली, दूसरी शताब्दी के प्रभाव की जगह, यदि उन्होंने समसामयिक राजनीति और समाज का प्रभाव अधिक पाया तो कारण उनका अज्ञान नहीं; कारण है— लोकचित्त में उनका विश्वास, जो आदि से अन्त तक उनके चिन्तन में विद्यमान रहा।

ठीक इसी तरह, सूर-तुलसी-जायसी की तुलना में कबीर को कुछ कम पसन्द करने के मूल में भी शुक्लजी की कई मान्यताएं काम कर रही थीं। एक तो यह कि कविता अपना काम प्रभावशाली रीति से तब करती है, जब वह अमूर्त की अपेक्षा मूर्त के निरूपण पर अधिक टिकती है। शुक्लजी बताते

हैं—'कबीर को 'राम-नाम' रामानन्दजी से प्राप्त हुआ पर आगे चलकर कबीर के 'राम' रामानंद के 'राम' से भिन्न हो गए।' उधर, वे कहते हैं—'गोस्वामीजी (तुलसीदास) की राम-भक्ति वह दिव्य वृत्ति है, जिससे जीवन में शक्ति, सरसता, प्रफुल्लता, पवित्रता— सब कुछ प्राप्त हो सकती है।' दूसरे, आचार्य शुक्ल चाहते थे कि कविता सख्त कोड़े लगाने की जगह तन-मन को ठंडक पहुंचानेवाला मरहम लगाए। जहाँ वे कबीर को उचित श्रेय देते हैं कि 'उनकी प्रतिभा बड़ी प्रखर थी, जिससे उनके मुंह से बड़ी चुटीली और व्यंग्य-चमत्कारपूर्ण बातें निकलती थीं' वहीं सूरदास के हवाले से बताते हैं कि 'रसविहीन उपदेश किस प्रकार असर नहीं करते, यही दिखाने को 'भ्रमरगीत' की रचना हुई है।' तीसरे, परोक्ष और प्रत्यक्ष के प्रति कवियों की दृष्टि का आकलन शुक्लजी अपने ढंग से करते हैं। उनका स्पष्ट मत है- 'कबीर ने केवल भिन्न प्रतीत होती हुई परोक्ष सत्ता की एकता का आभास दिया था। प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता बनी थी। वह जायसी द्वारा पूरी हुई।' बुनियादी मुद्दे और भी थे पर यहाँ उनके विस्तार में जाना ज़रूरी नहीं।

●●●

कुल मिलाकर, शुक्लजी के काव्यालोचन की इस विशेषता का निचोड़ ही यहाँ बताया जा सकता है कि अपने विभिन्न निष्कर्षों के बीच तारतम्य बिठाते हुए, विभिन्न कड़ियों को बड़ी कुशलता से परस्पर जोड़ते हुए, आचार्यवर अपने निष्कर्षों तक पहुंचते हैं।

इस क्रम में जो मोती उनके हाथ लगे, उनसे उत्तरकालीन काव्यालोचना कभी-कभार असहमत भले हुई हो, किन्तु प्राचीन और मध्ययुगीन ही नहीं, आधुनिक कविता के विषय में शुक्लजी का विवेचन-मूल्यांकन आज भी पक्का-पोढ़ा और असंदिग्ध है। प्रमुखतः इस कारण कि आलोचना उनके लिए मात्र झूमने-झीमने वाली प्रभावाभिव्यक्ति नहीं, व्यवस्थित विचार-सरणि और सुनिश्चित दिशा-निर्धारक सिद्धान्तों की तार्किक परिणति है। कदम-ब-कदम बढ़ते हुए शुक्लजी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—''यदि कोई पूछे कि जनता के हृदय पर सबसे अधिक विस्तृत अधिकार रखनेवाला हिन्दी का सबसे बड़ा कवि कौन है तो उसका एकमात्र यही उत्तर ठीक हो सकता है कि भारत-हृदय, भारती-कंठ, भक्तचूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदास।' इसे उनका आभिजात्य अथवा ब्राह्मणवाद बताना मिथ्या ही नहीं, कुटिल भी होगा।

शुक्लजी की काव्यालोचना के अधिक विस्तार में न जा, यहाँ हिन्दी के सर्वप्रमुख कवियों— तुलसी सूर जायसी और कबीर के विषय में उनके मूल्य निर्णय की ओर संकेत करते हुए, इसी निवेदन के साथ अपनी बात को समेटना चाहूँगा कि भले ही शुक्ल जी हमारे आलोचकों-लेखकों-कवियों के वास्ते आज भी पथ-प्रदर्शक की भाँति सर्वमान्य हों पर यह भी प्रतीत होता है कि बदलती हुई काव्य रुचियों ने उनके मूल्यांकन से असहमति प्रकट की है। उन्हें मात्र शैक्षणिक आलोचक समझ बैठने की भूल तो शायद नहीं हुई है, पर अन्य बातों के साथ, यह भी विचारणीय है कि क्या सचमुच, तुलसी, सूर, जायसी आदि हमारे बड़े कवि केवल पाठ्यक्रमों तक सीमित रह गए हैं? क्या कबीर के अक्खड़, विद्रोही, जुझारू तेवर के प्रति आज का रूझान केवल ज़माने की हवा में कुछ समय के लिए बह भर जाने जैसा है? यदि हाँ, तो क्या वक्त के साथ-साथ शुक्ल जी द्वारा निरूपित कविता के निकष अपने आप को पुनः

प्रतिष्ठित-प्रमाणित करेंगे? या फिर हम केवल इतना दोहराकर खामोश रह जाएँगे कि 'अगले वक्तों के हैं ये लोग, इन्हें कुछ न कहो।,

जहाँ तक मुझ-जैसे विश्वासियों का संबंध है, शुक्ल जी हमारे लिए अब भी प्रामाणिक और आदरणीय हैं। आशा है, लम्बे समय तक वे ऐसे ही बने भी रहेंगे। बल्कि मेरा मानना तो यह है कि शुक्लजी द्वारा निरूपित कविता के निकष इतने पुख्ता हैं, इतने विश्वसनीय कि उनके आधार पर पिछले सत्तर-पछत्तर वर्षों की कविता का भी पुष्ट मूल्यांकन किया जा सकता है। लेकिन यह कार्य किसी यांत्रिक पद्धति से तो होगा नहीं, उसके लिए आचार्य शुक्ल की समूची मानसिकता का अवगाहन कर, उनकी चिन्तनधारा के साथ बहते हुए, विभिन्न बिन्दुओं—मोड़ों पर टिक कर, समूचे परिदृश्य को समेटने में समर्थ युवा आलोचकों के पूरे समूह की दरकार होगी जो शुक्ल जी के आलोचना कार्य को आगे बढ़ाए, साथ ही उन्हीं की शैली और मान्यता के अनुरूप उनके इतिहास को अद्यतन भी बनाए। वैसे तो यह बीड़ा किसी एक व्यक्ति को उठाना चाहिए पर उसकी व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं। सम्मिलित इतिहास लेखन में दृष्टिभेद होता ही है और निश्चित-सुचिन्तित परिप्रेक्ष्य का विस्तार आदि से अन्त तक बोध का हिस्सा नहीं बन पाता, जिस कारण शुक्ल जी के इतिहास के बाद सम्पन्न हुए अधिकांश सहयोगी इतिहास लेखन, कम-से-कम हिन्दी में, सन्तोषप्रद न हो सके, न किसी एक आलोचक अथवा साहित्येतिहासकार में शुक्ल जी जैसी प्रतिभा या अन्तर्दृष्टि नज़र आई। तो भी दोनों विकल्पों में से यदि एक को ही चुनना पड़े तो सार्थक यही प्रतीत होता है कि व्यक्ति विशेष से आशा करने की जगह इस ऐतिहासिक कार्य का बीड़ा उठाने का भार एक समूचे संपादक-मंडल को सौंपा जाए।

स्वाधीनता और साहित्य

रमेशचंद्र शाह

प्रस्तुत विषय की देहरी पर ही एक ओर तो निराला की 'प्रिय स्वतंत्र रव/ अमृत-मन्त्र नव/ भारत में भर दे....' और प्रसाद की 'हिमाद्रि-तुंग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती/ स्वयंप्रभा समुज्ज्वला स्वतंत्रता पुकारती.....' जैसी काव्य-पंक्तियाँ मन में घुमड़ रही हैं और दूसरी ओर भारतीय स्वाधीनता-संग्राम के दो बीज-ग्रंथ जिन्हें कहना चाहिए-गाँधीजी का 'हिन्द स्वराज' और श्री अरविन्द का 'फ़ाउंडेशंस ऑव इंडियन कल्चर'-उनका भी उतना ही स्वतःस्फूर्त और अनायास स्मरण हो रहा है। इसका क्या मतलब है? यही न, कि तात्कालिक संदर्भ स्वाधीनता का, भले ही विदेशी आधिपत्य से देश को छुटकारा दिलाना रहा हो, स्वयं स्वाधीनता की अवधारणा हमारे कवियों और राष्ट्र-निर्माताओं की, उस तात्कालिक संदर्भ से कहीं अधिक—बहुत अधिक व्यापक और गहरी थी। राजनैतिक स्वाधीनता तो परिस्थिति का तथ्य है; किंतु मानसिक स्वाधीनता का—सांस्कृतिक आत्मविश्वास के पुनर्जागरण से उत्पन्न मानसिक स्वाधीनता का—जहाँ तक प्रश्न है, वह तो हमारे साहित्य में सन् 1947 से काफ़ी पहले ही अभिव्यक्त होने लगी थी, जैसा कि उपर्युक्त कविताओं के अंतःसाक्ष्य से ही प्रकट हो जाता है।

जहाँ तक साहित्यकार की स्वाधीनता की बात है, उसके लिए तो स्वाधीनता मूलभूत मूल्य है। उसकी मनुष्यता और उसकी स्वतंत्रता दोनों परस्पर अवच्छिेद्य हैं। हमारे आध्यात्मिक वाङ्मय में 'मुक्ति' के पुरुषार्थ का जैसा जो विवेचन और अनुभव मिलता है, उससे इस बात का सम्बन्ध देख पाना कठिन नहीं है। भले वह एक उच्चतर आयाम का अनुभव हो साहित्य की तुलना में, उससे असम्बद्ध या असंगत वह कदापि नहीं है। 'मुक्त' की मुक्ति दूसरों को—यानी बन्धनग्रस्त अपने ही जैसे मनुष्यों को—मानव-मात्र को—अपनी 'मुक्ति' के अनुभव में साझीदार बनाकर, उन्हें भी अपनी मुक्ति की पात्रता का अनुभव कराके ही सार्थक होती है: 'मुक्तश्चान्यात् विमोच्येत्' का यही अभिप्राय है। इसे आप साहित्यकार के अपने स्वतंत्र दृष्टिकोण से मिलाकर देख सकते हैं। अज्ञेय ही मसलन—जो साहित्यकार के साथ-साथ हमारे स्वाधीनता-संग्राम के सेनानी भी रहे—देखिए, इस विषय में क्या सोचते हैं। जंगल में एक पूर्णविकसित महावृक्ष के साक्षात्कार से जो स्वाधीनता का बोध उनमें जगा, उस संदर्भ में वे कहते हैं:—

> स्वाधीन होना अपनी चरम संभावनाओं की सम्पूर्ण उपलब्धि के शिखर तक विकसित होना है। लेकिन..... उस महावृक्ष का वाहन होने का एक अर्थ

> यह भी है कि उसके बोध के साथ-साथ उन असंख्य बौने और बुच्चे पेड़ों के जंगल का भी एक बोध भीतर धधक उठता है जिनसे हम निरन्तर घिरे रहते हैं–जिन्हें निरन्तर अपने आस-पास देखते हुए हर कोई अपने से ही यह पूछने को लाचार हो जाता है, 'तब क्या मैं भी अपने को स्वाधीन मान सकता हूँ? क्या कोई अकेला स्वाधीन हो सकता है?' क्योंकि कोई भी व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण संभावनाओं को ऐसे ही परिवेश में पा सकता है जिसमें दूसरे भी अपनी चरम संभावनाओं को पूरी तरह प्राप्त करने के लिए समान रूप से स्वाधीन हों। और ठीक यहीं पर स्वाधीनता का ऐसा बोध मानो तपस्या की यंत्रणा बन जाता है क्योंकि वह मानव मात्र की समान स्वाधीनता के प्रयत्न की अनिवार्यता बन जाता है।.....

इसी में आगे अज्ञेय दो बातें और जोड़ते हैं : एक तो यह, कि स्वाधीनता की सच्ची कसौटी 'मैं नहीं, 'ममेतर' है; ममेतर के दर्पण में ही मुझे मेरी अपनी अस्मिता का सच्चा प्रतिबिम्ब दीख सकता है। दूसरी—इसी में से निकलने वाली बात—यह है कि दूसरे प्रकार के बौद्धिकों से साहित्यकार को जो चीज़ अलग करती है, वह उसका समाज के प्रति विशेष उत्तरदायित्व है। उदाहरण के लिए वैज्ञानिक एक ऐसे समाज में भी स्वाधीन हो सकता है जो समाज स्वाधीन नहीं है (अर्थात् किसी सर्वसत्तावादी शासन-तंत्र के अधीन है—वह चाहे कम्युनिस्ट तंत्र हो, चाहे फ़ासिस्टतंत्र)। किंतु साहित्यकार ऐसे समाज में स्वाधीन नहीं हो सकता जो समाज स्वाधीन नहीं है। ज़ाहिर है कि साहित्यकार का समाज के प्रति यह विशेष उत्तरदायित्व शासन के मुकाबले में खड़े होकर ही निभाया जा सकता है। यानी, उसे अपनी हैसियत एक निर्बन्ध प्रतिपक्षी की बनानी होगी।

यह एक विचित्र विडम्बना है कि साहित्य की इस 'निर्बन्ध प्रतिपक्षी' वाली भूमिका के निर्वाह का जितना जैसा स्वतःस्फूर्त उत्साह और आत्मविश्वास हमें स्वतंत्रता-संग्राम के दिनों में दिखाई देता है, वैसा स्वातंत्र्योत्तर (कहना चाहिए'दास्योत्तर') युग में कम ही दीखता है। जो लोग अपने 'प्रतिपक्षी' होने का सबसे ज़्यादा तूमार बाँधते हैं और सबसे ज़्यादा प्रचार-प्रसार के साधन हथियाए हुए हैं, वे निर्बन्ध होने की उक्त कसौटी पर बिलकुल खरे नहीं उतरते। न केवल यह, कि स्वाधीनता जैसे मूल्य की मूल्यवत्ता ही उनके लिए सन्दिग्ध है, बल्कि वे उसे उसके स्रोत पर ही कुंठित किये देते हैं। यह अकारण नहीं कि पिछले कुछ दशकों के दौरान हमारे समाज की अपनी स्वतःस्फूर्त पहल सभी क्षेत्रों में लगातार छीजती गई है और एक तरफ़ सरकारी तंत्र, तथा दूसरी तरफ़ विशुद्ध व्यावसायिकता का जाल हर तरफ़ कसता गया है। पर ऐसे लेखकों को इसकी चिंता नहीं सताती क्योंकि जैसा कि 'हिन्द स्वराज' के लेखक ने बहुत पहले ही देख लिया था, वे जिन लोगों की बात करने का, उनके उद्धार का दम भरते हैं अपने खोखले, परोपजीवी रेहटरिक में, उन्हें वे जानते ही नहीं, वास्तव में उनके जीने-मरने की लय से उनका वैसा सीधा रिश्ता ही नहीं है, जैसा 'लोग भूल गए हैं' के कवि रघुवीर सहाय का या 'साखी' के कवि विजयदेव नारायण साही का दीखता है। जिन्हें एक वास्तविक समाज में अपनी अवस्थिति का ही नहीं, स्वयं उस समाज के वास्तविक अन्तःकरण का, उसके लगातार प्रवंचित किये जाने का भी तीखा अहसास है। उनके लिए उनका समाज सगुण मानव-व्यक्तियों से बना हुआ समाज है, न कि एक ऐसी भीड़, जिसे

मनमाफ़िक बदलने को उनकी 'आइडियोलॉजी' काफ़ी है। ऐसा नहीं कि स्वयं उनके पास कोई विचारधारा न हो, समाज को बदलने वाले विचार न हों या कि वे किसी अ-राजनीतिक कलादृष्टि के आग्रही हों। उन्हें न केवल अपने लोगों को संगठित करने की चिन्ता है, बल्कि उनमें वह समझ भी विकसित करने की चिंता है, जिसके बूते वे स्वाधीन आलोचना कर सकें— ऐसी आलोचना, जो उन्हें मात्र निष्क्रिय प्रतिरोध से आगे ले जाए और साथ ही उन्हें हर तरह के बौद्धिक और भावनात्मक शोषण से भी सतर्क-सावधान रहने की क्षमता प्रदान करे। इसी आत्म-चेतना के चलते रघुवीर सहाय जैसा कवि 'लोग भूल गए हैं' नामक कविता -संग्रह में उन लोगों की भी ख़बर लेता है जो समाज को बदलने का बीड़ा तो बेशक उठाए हुए हैं, पर जिनकी खुद की जड़ें अपने समाज और संस्कृति में नहीं हैं, कहीं अन्यत्र हैं—

आज के समाज का मानस यही है
कहते हो तुम इस कविता में
बिना यह जाने हुए कि कितना जानते हो तुम इस समाज को

('लोग भूल गए हैं')

इस काव्य-संग्रह की भूमिका में रघुवीर सहाय ने एक बड़ी काम की बात कही थी, जो मुझे प्रस्तुत प्रसंग में स्मरणीय और उद्धरणीय भी लग रही है। वह यह, कि 'यथार्थ की हमारी समझ इस समझ के बिना अधूरी है कि लेखन में आदर्श की इच्छा इसी यथार्थ को किस रूप में जानकर जागृत हो सकती है'। मुझे लगता है यह एक सही कसौटी है : आज लिखी जा रही कविताओं-कहानियों को भी जाँचने-परखने के लिए। दरअसल मनुष्य-सत्य और असत्य की किसी एक व्याख्या और समाधान के आगे ढेर हो जाने पर खुद के आत्म-केन्द्र को जाँचने की चुनौती ही ख़त्म हो जाती है। तब फिर यह जानने-महसूस करने की भी ज़रूरत नहीं रह जाती कि जिस जन को हम अपने पुण्यासक्त वागास्फलनों का आलम्बन बनाए हुए हैं, वह स्वयं कैसे अपने अनुभवों को ग्रहण करता या झेलता है या कि शब्दों के साथ उसका कैसा क्या सम्बन्ध है? वह क्या सुनता-गुनता या पढ़ता रहा है, इससे आपको कोई लेना देना नहीं। उसी तरह आप सरीखे उसेक त्राणकर्ता क्या पढ़ते-गुनते रहे हैं, यह भी आपके लेखे उसके लिए अप्रासंगिक ही होना चाहिए। आपकी पढ़ाई-लिखाई से जिस तरह आपके किये-अनकिये सारे पाप धुल गए हैं, उसी तरह आपको पढ़कर—बल्कि आपको बिना पढ़े भी—उसका उद्धार निश्चित है। रघुवीर सहाय जैसे कवि-कथाकार लाख चिल्लाते रहें कि.... 'देश अपार से ज्यादा अथाह है/गहरे में जाकर एक ताक़त ले आओ'— उनका यह आत्मोद्बोधन अथवा संबोधन इन परजीवी पुण्यात्माओं के किसी काम का नहीं है, क्योंकि देश के अथाह में गोता लगाके ताक़त ढूँढने की ज़रूरत ही क्या है, अगर वह ताक़त हमें विदेश की थाह के उथले में हाथ-पाँव मारके ही सुलभ हो जाए।

तो, एक तरफ़ वे लोग हैं जो जन के जीवन से अनजान रहने में ही सुरक्षित रहते हैं और दूसरी तरफ़ वे हैं जो 'अनुपस्थित लोग' हैं– निरुपाय और डरे हुए। ऐसा समाज अपने लिए उपयुक्त राजनीति खोज सके, इसके लिए भी पहले यह ज़रूरी है कि वह अपनी चेतना-संवेदना की भोथरी पड़ गई जगहों को खुद देखे-समझे और अपने पारस्परिक सम्बन्धों की असलियत को भी। साहित्यकारों-यानी उनके भाव-जीवन से घनिष्ठ साहित्यकारों से अधिक उन्हें अपनी भाव-सत्ता की, स्वावलम्बी विचार-सामर्थ्य

की भी-सच्ची पहचान भला और कौन करा सकता है? साहित्यकार को अपने समाज, अपने 'जन' को आखिर उन प्रपंचियों से भी तो बचाना है जो अमरबेल की तरह, जोंक की तरह उसके अपने लोगों की जिजीविषा और सांस्कृतिक सहजबुद्धि से चिपके हुए हैं। न केवल उनके 'यथार्थ' से, बल्कि उनके 'आदर्श' से भीः दोनों को विकृत और कुंठित करने का बीड़ा उठाए हुए। इसीलिए वह उनसे कहता है—अपने लोगों से- कि....'एक बहुत बड़े षड़यंत्र के बीच में अपने घर में रहने वालों से रिश्ते बनाओ और सुधारो।' ऐसे कवि को यह कुतूहल या रहस्य नहीं सताता कि वह गए जन्म में क्या था। हाँ, यह सवाल ज़रूर सताता है कि पिछले बीस बरसों में उसके साथ क्या हुआ है? ज़रूरी इतिहास-बोध उसके लिए यह है। या कह लीजिए उन सारे गूँगे-बहरे करोड़ों के लिए, जिनकी अव्यक्त पीड़ा और प्रवंचना को वाणी देना उसका काम है। 'पाप से घृणा करो, पापी से नहीं,' के अवमूल्यित अमूर्त आदर्शवाद के बदले यह ऐसे जनोन्मुखी-जनसंवेदी, किन्तु सुदृढ़आत्मकेन्द्र वाले कवि की खास अपनी सगुण साधना और आत्मा की कॉमनसेंस ही है, जो उससे कहलवाती है कि—

और अगर चेहरे गढ़ने हों तो अत्याचारी के चेहरे खोजो अत्याचार के नहीं
इसको हम जानते बहुत हैं, वह अब भी छिपता फिरता है

('रंगों का हमला'-रघुवीर सहाय)

यह अमूर्त जनवाद के विरुद्ध जीते-जागते लोगों के साथ किये गये मूर्त अन्याय का मूर्त साक्षात्कार करने का आग्रह है। इसलिए, कि अत्याचार का अमूर्तन अपने आप में एक अत्याचार है। इसी तरह 'सा विद्या या विमुक्तये' के मानवीय अर्थ को आज के संदर्भ में अपने लिए खोजना—उसके भ्रष्ट हो जाने को-आज इस वक्त जिये जा रहे जीवन के सगुण दृष्टान्तों से उपजी समझ के द्वारा-रेखांकित किया जाना भी उतना ही आवश्यक है।

यह जो समझ है इतिहास की भ्रष्ट है
यह अत्याचार को शाश्वत रखने की
अन्यायी भाषा है कि जिसके प्रतिष्ठान में विद्या बंद है
विद्या जो हमें मुक्त करती है वह विद्या

अंतहीन पीड़ा और असंगठित आलोचना के इस निर्जन में कवि कुछ ज़िन्दा हरकतें उपजाना चाहता है। 'यही वक़्त है अभी कुछ करो नौजवान'–वह कहता है अपनी 'कार्रवाई' शीर्षक कविता में। और हमारे समाज में उपर्युक्त अगतिकता और संदिग्ध गतिशीलता के बीच जो एक नाजायज़ सा रिश्ता बन गया है, उसे भी दुरुस्त करने का उपक्रम करता है : 'यही वक्त है अभी कुछ करो नौजवान/ और उस औरत के दुख भरे जीवन में पैठ जाओ/ यही मौत के खिलाफ़/ अपनी मौत के खिलाफ़/ एक काम है जो कर सकते हो।' कवि यह क्या कह रहा है, किससे कह रहा है?..... क्या यह सच नहीं कि दूसरों को बदलने के लिए आतुर लोग अपने को बदलने की कोई ज़रूरत नहीं समझते? वे अपने साथ कुछ नहीं करते; मगर 'दूसरों' के साथ सब कुछ कर डालना चाहते हैं। रघुवीर सहाय सरीखे कवि ऐसे क्रान्तिकारी लेखकों को अच्छी तरह पहचानते हैं :

मुझे विश्वास नहीं है
मेरे जीते जी
यह देश क्यों, कोई भी देश
अपने मनुष्यों को आदमी बना लेगा

क्रांतिकारी लेखक को आशा है
कि औरों पर उसका अवश्विास
उसको तो उसके ही जीवन में
एक बड़ा आदमी बना देगा।

इसी सिलसिले में—यानी 'स्वाधीनता और साहित्य' विषय से उभरने वाले सवालों के सिलसिले में—मुझे यहाँ प्रसिद्ध निबन्धकार और लोक-संस्कृति मर्मज्ञ पं. विद्यानिवास मिश्र के कृतित्व का भी स्मरण कर लेना प्रासंगिक लग रहा है। 'सपने कहाँ गये' शीर्षक उनकी लेखमाला अभी दुबारा पढ़ने की प्रेरणा हुई, जिसमें स्वाधीनता प्राप्ति के निकट पूर्व का और उसके तुरंत बाद के परिदृश्य का बड़ा मार्मिक चित्रण हुआ है और ऐसी उद्वेलनकारी बातें सामने आती हैं जो देश की परिस्थिति और संस्कृति दोनों के प्रति संवेदनशील एक साहित्यकार ही इस तरह सामने ला सकता था। एक जगह वे कहते हैं–''स्वाधीन होने का अर्थ यह नहीं है कि हम केवल अपने प्राचीन गौरव का राग अलापते रहें। अपनी सक्रियता और जीवंतता का प्रमाण अपने समय के अनुभवों से न दें। हम या तो अपने बारे में बिना सोचे-समझे व्यर्थ की डींग हांकते हैं या अपनी क्षमता की उपेक्षा करके हीनभाव से ग्रस्त रहते हैं। दोनों स्थितियां एक स्वाधीन देश के लिए भयावह हैं।'' घटियापन को प्रश्रय देने वाली हमारी दास मानसिकता को यथातथ्य उघाड़ते हुए वे दर्शाते हैं कि किस तरह इस स्वातंत्र्योत्तर युग में सबसे ज्यादा अनदेखी उन्हीं की हुई जिनका योगदान इस देश और समाज के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था। इस मानसिक दरिद्रता के चलते, उनका कहना है और बिलकुल सही कहना है कि ''हमारे विश्वविद्यालय केवल कारखाने बनकर रह गए हैं और अधिकांश साहित्यिक संस्थाएँ भी दूकान बनकर रह गई हैं।'' ऐसा नहीं कि देश में सृजन-प्रतिभा और प्रयोगशीलता का कोई टोटा पड़ा हो। पर देशव्यापी आत्म-सजगता के अभाव में उसे पहचानने की तत्परता का अभाव है। क्यों नहीं है यह आत्म-सजगता, इसका बहुत ही सटीक उत्तर वे यह देते हैं कि ''देश का एक विशाल भाव नहीं है।'' पं. विद्यानिवास मिश्र अनुभव करते हैं कि ''रचनाशीलता के लिए जातीय भाव आवश्यक है जो विश्वबंधुत्व का विरोधी नहीं, पोषक होता है। साथ ही, व्यक्ति को भी कुंठित नहीं, समृद्ध करता है।'' कहने की बात नहीं, पर कहे बिना रहा भी नहीं जाता कि यह सहज विवेक हमारे अधिकांश बुद्धिजीवियों की गतिविधियों में नहीं झलकता। इस तथ्य को कैसे झुठलाया जा सकता है कि ''विगत पचास वर्षों में हमारी रचनाशीलता विचारों के लचरपन से और झूठे विवादों में फँसकर बुरी तरह प्रभावित हुई है।'' समकालीन साहित्यिक परिदृश्य पर हावी खेमेबाजी-गुटबंदी को भी पं. विद्यानिवास मिश्र ने यथातथ्य लक्षित किया है और आधुनिकता-उत्तर आधुनिकता के बीच चलाये जा रहे अप्रासंगिक विवाद को भी। उनकी यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि ''हमारी आधुनिकता में केवल प्रश्नाकुलता, संशय या अनास्था नहीं थी; कहीं उसमें सामान्य की क्षमता में एक दृढ़विश्वास भी था और

यह विश्वास मध्ययुगीन साहित्य की विरासत के रूप में था।'' यह भी, ... कि ''तीन से चार, चार से पाँच पुरुषार्थों की अवधारणा हमारे उस स्वभाव के साथ सर्वथा मेल खाती है जो निरन्तर अपने को समझते हुए अपना अतिक्रमण करता है। अपनी अपर्याप्तता को पहचानना हमारी आधुनिकता की सबसे बड़ी विशेषता है; परन्तु स्वाधीन विवेक के अभाव में हम यह भूल जाते हैं कि हमारे पास ऐसी पहचान है।'' यहाँ मुझे बरबस अपने गुरू स्व. विजयदेवनारायण साही की भी याद आ रही है, जिनका पक्ष भी इसी स्वाधीन विवेक का ही पक्ष था और जिन्होंने एक महत्वपूर्ण गोष्ठी में 'साहित्य क्यों?' विषय का प्रवर्तन करते हए लगभग इसी स्वर में प्रश्न उठाया था कि '' इस सारी विडम्बना के भीतर से हमारी पर्याप्त प्रतिक्रिया की आवाज़ क्या है?'' विस्तार-भय से मैं यहाँ साहीजी के कवित्व और विचारों की चर्चा का लोभ संवरण करते हुए मात्र उनके दो महानिबंधों का उल्लेख भर यहाँ पर टाँकना चाहता हूँ। एक तो 'लघुमानव के बहाने हिंदी साहित्य पर एक बहस' तथा दूसरा 'धर्मनिपेक्षता की खोज में' शीर्षक व्याख्यानमाला।

यह भी पं. विद्यानिवास मिश्र का मात्रा-ज्ञान ही है जो उनसे एक ऐसी 'ऐतिहासिक भूल' की ओर भी संकेत करवा लेता है जो हममें से कइयों के लिए 'भूल' की तरह स्वीकार्य नहीं होगी। उनका कहना है कि ''यदि हम पं. नेहरू की बात मान लेते और हिंदुस्तानी को स्वीकार कर लेते और आचार्य नरेन्द्रदेव के सुझाव के अनुसार एक लिपि रखते तो अपने आप एक भाषा ढलती चली जाती और शायद सन् पचास से वही भाषा सारे देश की भाषा होती।'' बड़ी विस्मयकारी लगेगी- पं. मिश्र के प्रशंसकों तक को उनकी यह बात। और हममें से अधिकांश लोग उससे सहमत भी नहीं होंगे। किन्तु इस बात के पीछे जो दर्द बोल रहा है, उसे तो वे भी लक्ष्य किये बिना नहीं रह सकेंगे। वह दर्द यह, कि ''हमने हिंदी को स्वीकार करके भी उसे निरवधि वनवास में डाल दिया।'' इसी तरह वे राज्यों के पुनर्गठन की भी तीखी आलोचना करते हैं जो उनके कथनानुसार 'हिंदी की भारत-व्यापी पहचान के विरुद्ध अभिसन्धि थी।' कितना अपरिणामदर्शी और आत्मघाती निर्णय था वह, यह देखना अब अन्धों के लिए ही असंभव होगा। इसी से जुड़ा एक लेख और है—'देश को क्यों भुला दिया राष्ट्रवाद ने' शीर्षक, जिसमें विद्यानिवासजी जयशंकर प्रसाद की स्वाधीनता के काफ़ी पहले लिखी गयी कविता 'पेशोला की प्रतिध्वनि' को उद्धृत करते हैं—''बोलो कोई बोलो अरे, क्या तुम सब मृत हो?''.....

और कहते हैं :

> इन पंक्तियों में केवल राणा प्रताप नहीं झाँक रहे हैं। अंतिम दिनों में अकेले पड़ गए गाँधीजी भी झाँक रहे हैं।..... संसद में और संसद के बाहर निपट अकेले पड़ गए कुछ देशभक्त नेता भी इन पंक्तियों में झाँकते हैं; जिन्होंने स्वतंत्रता सेनानी का तमगा नहीं लिया, जिन्होंने स्वतंत्रता के ठेकेदारों से कभी समझौता नहीं किया। सच्चिदानंद वात्स्यायन, राममनोहर लोहिया जैसे लोग ऐसे ही अकेले पड़ गए लोग थे। पर ये ही अकेले पड़े लोग हिंदुस्तान की जनता को जोड़ने वाले लोग हैं। ज़रूरत इसी बात की है कि अगर लोग न मिलें तो अकेले ही बिगुल लेकर चला जाये। जोखिम उठाया जाए कि लोग कहें—'पागल' है। और ज़ोरों से कहा जाए कि तुम्हीं

देश हो, तुम्हीं इस देश की आँख हो, तुम्हीं इस देश के हाथ-पैर हो।देश के साधारण लोगो! तुम क्यों दूसरों के चलाए-दिखाए पर चलते देखते हो? इन ग़लत दृष्टि देने वालों को, ग़लत चाल सिखाने वालों को तुम सीधे नकार क्यों नहीं देते?'

यह काम देश में आरंभ होना चाहिए। किसी को तो आरंभ करना चाहिए। यों देखने में यह काम असंभव लगता है, पर जहाँ संभावनाएँ इतनी चुक गई हैं, वहाँ शुरुआत तो असंभव से ही होगी।

हमने अभी थोड़ी पहले रघुवीर सहाय की कविता 'कार्रवाई' की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की थीं— 'यही वक्त है अभी कुछ करो नौजवान'.....। उससे इस बात को मिलाकर देखें तो दो परस्पर नितान्त भिन्न प्रकृति के साहित्यकारों के बीच उभयनिष्ठ यह आविष्ट स्वर क्या जताता है, स्वाधीनता और साहित्य के गहरे अंतस्सम्बन्धों को किस तरह उजागर करता है, क्या यह ध्यान देने की बात नहीं है?

अपने लड़कपन के दिनों की याद करते हुए पं. विद्यानिवास मिश्र उसी लेखमाला में एक बड़ी मार्मिक बात कहते हैं जो हमें प्रस्तुत विषय के संदर्भ में कुछ और गहरे जाकर विचार करने को— अपनी वर्तमान सांस्कृतिक दुरवस्था के कारणों में ज़रा और गहरे उतरकर विचार करने को उकसाती है। वे कहते हैं कि— ''देश उस समय राष्ट्र शब्द से अधिक व्यापक था, क्योंकि देश किसी का अनुवाद नहीं था। पंडितजी के गुरु प्रो. क्षेत्रेशचंद्र चट्टोपाध्याय ने उन्हें अपने सहपाठी सुभाषचंद्र बोस के बारे में जो कुछ बताया, उससे भी उनके मन पर यही छाप पड़ी कि ''उनके यहाँ देश की कल्पना केवल राजनीतिक नहीं थी, वह संपूर्ण चेतना को समेटती थी।''

बात दरअसल इस संपूर्ण चेतना को समेटने वाली कल्पना-शक्ति और चिंतन-सृजन शक्ति की ही है। विडम्बना यह है कि जो देश किसी का अनुवाद नहीं था, उसी पर आज अनुवादजीवी मानसिकता हावी हो रही है। जबकि हमारे यहाँ देश की बात ही हिन्दी भाषा और साहित्य की बात भी है। हिन्दी जिस उत्तराधिकार को वहन करती है, वह मध्यकालीन लोकभाषाओं के भीतर से उठे पुनर्जागरण समेत हमारी समग्र अस्मिता का उत्तराधिकार है : खंडित नहीं, समूचा और अविच्छिन्न उत्तराधिकार। किंतु यहीं हमारे आत्मद्रोही बुद्धिजीवियों के एक वर्ग द्वारा भारी भ्रम पैदा कर दिया गया है। वे भूल जाते हैं कि हिंदी का देश ही भाषाओं और संस्कृतियों के संगमों का देश है और हिंदी उन संगमों से ही विकसित हुई है। इसी भाषा ने सारे देश में भारतीय संस्कृति को बनाए रखा, भारतीयता के बोध को लचीला और जीवन्त बनाए रखा। किंतु आज हम समकालीनता की सतह पर समकालीनता और भारतीयता के एक ऐसे नकली द्वन्द्व में उलझ गए हैं जो असली समस्या को आँखों से ओझल करते हुए दोनों जगह हमें अप्रामाणिक बना देने पर उतारू है। समकालीनता और भारतीयता दोनों से हमारा सम्बन्ध इसीलिए एक जीवंत सम्बन्ध न रहकर नकल और अनुवाद का सम्बन्ध बन गया है।

जो मूलजीवी होता है, वह अनुवाद के ज़रिये भी आत्मविश्वास बढ़ाता है क्योंकि उसकी मूलजीवी बुद्धिमत्ता संस्कारों का पुनःसंस्कार और मूल्यों का पुनर्मूल्यांकन संभव करती है और इस तरह मात्र तर्क-

बुद्धि के नहीं, बल्कि इस शब्द के तात्त्विक अर्थ में 'आत्मा' के जीवन की प्रगति में सहयोगी बनती है। उसका पुरुषार्थ हमें आत्म-प्रकाशक सृजन की यथार्थ संभावना के साथ अपने को ढूँढने में मदद करता है। अर्थात् वह उस आत्मोपलब्धि का निमित्त बनता है जो सभी संस्कृतियों का सर्वोच्च लक्ष्य होता है या कि होना चाहिए। निर्मल वर्मा ने ठीक ही कहा है कि 'संवाद आत्मा की ज़रूरत है।' इस तर्क से विभिन्न संस्कृतियों की संवाहक भाषाओं के बीच पास्परिक—अर्थात इकतर्फ़ा नहीं, दो-तरफ़ा—अनुवाद का औचित्य भी इसी संवाद की ज़रूरत के भीतर से ही प्रकट होना चाहिए।

किन्तु इसके विपरीत, जो अनुवादजीवी होता है, वह चाहे जितना बुद्धिवादी, कलावादी या जनवादी हो जाय, आत्मा से दीन और परोपजीवी बनने से बच नहीं सकता। आत्मावलंबन के अभाव और आत्मवंचना की सामर्थ्य के बीच सीधा समानुपात है। हमारे परिवेश में बुद्धिजीवी होना भी उसी का सार्थक है, जो आत्म-बोध से अनुप्राणित हो। मगर अपने यहाँ ऐसे तथाकथित बुद्धिजीवियों की कमी नहीं, जिनका बौद्धिक आचरण इस आत्म-बोध के विरुद्ध आत्म-हीनता को ही उकसाता है। ऐसा भी नहीं कि वे सचमुच बुद्धिजीवी (पाश्चात्य अर्थों में इण्टैलेक्चुअल) बनकर उसके साथ अनिवार्यतः लगी जिम्मेदारी, अनुशासन और मूल्यान्वेषण की विकलता को ही स्वायत्त कर सके हों। ऐसा भी नहीं, कि वे अपनी संस्कृति के आत्म-बोध में पड़ चुकी दरार की गहरी पीड़ा की अनुभूति के फलस्वरूप ही उसके मूल्यों का पुनर्मूल्यांकन करने की आवश्यकता की पुकार के प्रत्युत्तर में उस बौद्धिक संस्कृति में दीक्षित होने की ऐतिहासिक अनिवार्यता अनुभव कर रहे हों और इस तरह प्रकारान्तर से सच्चे-खरे आत्म-बोध की दिशा में ही अपनी प्राणशक्ति को जगाने का उपक्रम कर रहे हों। नहीं, यहाँ जिनकी बात की जा रही है, वे उस अर्थ में, उस कोटि के बुद्धिजीवी भी नहीं कहला सकते क्योंकि वे वैसी बुद्धि के मूल्यों के लिए भी कोई जोखिम नहीं उठा सकते। उठा सकते तो वे प्रकारान्तर से आत्मा के सत्य के अनुसार ही नई चेतना और नए जीवन की उपलब्धि में सहायक होते। उन्हें तो दोनों दुनियाओं का फ़ायदा उठाना है : बिना दोनों के बुनियादी दर्शन या जीवन-मूल्यों की गहरी जाँच-पड़ताल में उतरने का जोखिम उठाये। कोई संस्कृति यदि अपनी पहचान तक के लिए दूसरों द्वारा की गई व्याख्या पर आश्रित होने लगे-उनकी पूर्वग्रही समझ के परावर्तित प्रकाश में ही अपने को देखने की आदी जो जाय तो ऐसी अवस्था में उसका आत्म-बोध और आत्माभिव्यक्ति दोनों खण्डित होंगे ही। ऐसी औपनिवेशिक मानसिकता स्वाधीन सृजन और चिन्तन की राह में रोड़ा अटकाएगी ही; जहाँ वह सचमुच संभव हो सका है, वहाँ भी उसके समुचित स्वीकार और गुणग्राही मूल्यांकन में जाने-अनजाने बाधक होगी ही।

वैसे भी दो संस्कृतियों से अभिज्ञ होना और दोनों को परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया में देखना एक बात है और सिर्फ़ उस दूसरी संस्कृति और साहित्य की कसौटी पर अपनी संस्कृति और साहित्य को कसते हुए उसके दोष या कमियाँ गिनाते रहना बिलकुल दूसरी बात है। पश्चिमी सभ्यता के अनुभव से हम लाभ तो अवश्य उठा सकते हैं किंतु अपने अनुभव और सृजन की गुणवत्ता को उसके आधार पर नहीं जाँच-परख सकते। असली चिन्ता हमारी यह होनी चाहिए कि हमारी गतिविधियाँ कितनी रचनात्मक और स्वाधीन हैं? क्या हम अपने वास्तविक अंतर्जीवन से और अपने लोगों की वास्तविक जीवन-धारा से जुड़कर ऐसा कुछ उपजा रहे हैं जो देश के दूसरे रचनात्मक कामों में लगे हुए लोगों की विचार-शक्ति को जगा सके, उन्हें प्रेरणा दे सके? या इसी बात को दूसरे पहलू से यों रखकर देखें कि जिस सीमा तक किसी देश और काल में उत्पन्न मौलिक विचार और मौलिक स्वाधीन कर्म किसी साहित्य की सृजनशीलता के लिए

उत्प्रेरक का काम कर सकते हैं, उस सीमा तक क्या हमारा वर्तमान साहित्य-कर्म इस देश की मौलिक चिन्तन-धाराओं से और कर्म से ऐसा सम्बन्ध बना सका है, जिसे स्वाधीन, सृजनात्मक और प्राणवान सम्बन्ध कहा जा सके? इस सवाल को स्वयं हमारे वर्तमान साहित्य को साक्षी बनाकर पूछना होगा। मिसाल के लिए हिंदी साहित्य की चार पीढ़ियों की कविता का साक्ष्य लें; ''है आदान एक अपमान/ कर न सकें यदि हम प्रतिदान...'' (मैथिलीशरण गुप्त); ''हो गए आज जो खिन्न-खिन्न/ छुट-छुट कर दल से भिन्न-भिन्न/ वह अकल कला गह सकल छिन्न जोड़ेगी...'' (निराला);..... ''हरा-भरा है देश/रुँधा मिट्टी में ताप/ पोसता है विष-वट का मूल/ फलेंगे जिसमें शाप/.....तपी मिट्टी जो सोख न ले/ अरे, क्या इतना है पानी?/ कि, व्यर्थ है उद्बोधन, आह्वान/ व्यर्थ कवि की बानी,''.....(अज्ञेय) और ..... ''खंडन इस देश में/ चाहते हैं लोग या कि मंडन/ या फिर अनुवाद लिसलिसाता भक्ति से/ स्वाधीन इस देश में डरते हैं लोग/ एक स्वाधीन व्यक्ति से''.....(रघुवीर सहाय)। तो, क्यों न इन्हीं लक्षणों के निमित्त से बात की जाए!

कविता को किसी ने 'जीवन की आलोचना' बताया है और हमारे यहाँ भी कहावत है ही, कि 'साहित्य समाज का दर्पण है।' यदि हम उपर्युक्त उद्धरणों के कवियों पर भरोसा करें तो हम देख सकते हैं कि ये सभी अपनी संस्कृति मूल से मिलान के बारे में उस तरह की खुशफ़हमी पैदा करने वाली बातें नहीं करते जैसी कि अमूमन राजनेताओं या धर्मप्रचारकों के मुख से सुनने को मिलती रहती हैं। अपनी संस्कृति से, परम्परा से इन कवियों का सम्बन्ध आत्मतुष्टि वाला इकतर्फ़ा सम्बन्ध नहीं है। वे सृजनशीलता की राह के रोड़ों के बारे में अत्यन्त आत्मसजग हैं: एक प्रतिकूल सांस्कृतिक-राजनीतिक परिस्थिति में काम कर रहे होने का खासा दबाव उनके मन पर है। प्रतिदान रहित आदान किसी देश की संस्कृति के लिए, उसकी रचनात्मक प्रगति के लिए भी कितना बाधक और घातक हो सकता है, इस खतरे को राष्ट्रकवि गुप्तजी हमारी राजनैतिक पराधीनता के युग में भी, जिस तरह रेखांकित कर रहे हैं, वह ध्यान देने योग्य है। उनके परवर्ती दौर के कवि निराला की कविता को पढ़ते हुए भी साफ़ प्रतीत होता है कि निराला को भी अपनी सांस्कृतिक परम्परा की अविच्छिन्नता का बना-बनाया आश्वासन उपलभ्य नहीं है। वे भी यहाँ-अपनी इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लंबी कविता में-उसकी छिन्न-भिन्नता के कटु यथार्थ से उद्विग्न हैं : उनकी कविता में उस अकल कला की सिद्धि नहीं, उसकी खोज की पीड़ा बोलती है। मगर यह तो हुई स्वतंत्रता-संग्राम की बात। जिसे साही जी ने सत्याग्रह युग कहा है, उस युग की बात। स्वातंत्र्योत्तर या, दास्योत्तर युग के रचनाकर्मी का अंतःसाक्ष्य क्या कह रहा है? अज्ञेय ने-मुझे याद पड़ता है, अपने किसी साक्षात्कार में कहा था कि जहाँ तक हिन्दी लेखक के स्वाधीन होने का प्रश्न है, वह तो 15 अगस्त, सन् 47 की स्वाधीनता-प्राप्ति के बहुत पहले ही-तीसी के बरसों में ही स्वाधीन हो चुका था और स्वाधीन लेखक की तरह ही बोलने-बरतने लगा था। ऐसे कवि की यह साठ के दशक में लिखी कविता क्या कहती है? क्या यह 'कुशल भई विपरीत' जैसा चिंतित-उद्विग्न और हमें चेताने वाला स्वर नहीं लगता? राजनीतिक पराधीनता से उबर आया हुआ, हरित-क्रान्ति की दहलीज़ पर खड़ा देश इस कवि को हरा-भरा तो दिखाई दे रहा है, पर किस कीमत पर? स्वाधीन भारत में जैसी संस्कृति पनप रही है, जैसे लक्षण उसके दृष्टिगोचर हो रहे हैं, क्या वह वही है जिसके लिए मैथिलीशरण गुप्त या कि निराला-प्रसाद जैसे कवियों ने देशवासियों का उद्बोधन और आह्वान किया था? यदि नहीं, तो फिर क्या यही मानना होगा कि कवि की बानी व्यर्थ हो गई? कैसे व्यर्थ हो गई? अकल-कला तक ले जाने वाले रचनात्मक पुरुषार्थ की वह

प्रतिज्ञा क्या हुई? कौन उसकी राह में रोड़े अटका रहा है!

मगर रोड़े हटाना तो फिर भी आसान है। यहाँ तो कवि उसी शस्य श्यामला मिट्टी के रुँधे हुए ताप की बात कर रहा है। क्या है वह ताप? क्या वह उसका 'मैला आँचल' है जो अब भी अपने ही घर में प्रवासिनी है? और वह विष-वट क्या है जिसको, जिसके मूल के पोसे जाने की बात यह कविता कर रही है? क्या वह यूरोपीय सभ्यता के साथ भारत के औपनिवेशिक सम्बन्ध की वह जड़ है जो 'हिंद स्वराज' के लेखक के कथनानुसार धर्म के क्षेत्र में जमनी चाहिए थी; मगर जो धर्म के नहीं, अधर्म के क्षेत्र में जमी जा रही है। शाप की और शाप के फलने की चेतावनी तो 'हिंद स्वराज' में भी दी ही गई थी—दो-दो जगह। एक तो यह, ...कि ''गरीब हिंदुस्तान तो गुलामी से छूट भी जायेगा; लेकिन अनीति से पैसेवाला बना हुआ हिंदुस्तान तो गुलामी से नहीं छूट सकेगा।'' और दूसरा यह, कि ''हमारे विचार प्रगट करने का ज़रिया अंग्रेज़ी है। अगर ऐसा लंबे अरसे तक चला तो आनेवाली पीढ़ी हमारा तिरस्कार करेगी और उसका शाप हमारी आत्मा को लगेगा। अंग्रेज़ी शिक्षा पाए हुए लोगों ने प्रजा को ठगने और परेशान करने में कुछ भी उठा नहीं रक्खा है। राष्ट्र की हाय अंग्रेज़ों पर नहीं, हमीं पर पड़ेगी'' (हिंद स्वराज)। सोचने की बात है कि कहीं यह वही शाप तो नहीं है।

प्रत्येक विकासमान संस्कृति में एक दोहरी प्रक्रिया देखी जा सकती है : उसके अपने केंद्र से होने वाला आत्म-चरितार्थन और बाहर की, दूसरी संस्कृतियों की टकराहट से पैदा होने वाले प्रभावों का समावेशन या अनुकूलन। जब पहली प्रक्रिया शिथिल पड़ जाती है या उसमें गतिरोध उत्पन्न हो जाता है तो उक्त दूसरी प्रक्रिया से आत्म-नवीकरण की संभावनाएँ प्रगट होने लगती हैं। अपने केंद्र, अपने मूलाधार पर टिककर ही हम सामूहिक रूप से रचनात्मक यानी आत्म-सर्जक हो सकते हैं। किंतु जहाँ व्यापक स्तर पर जनसमुदाय और उसका बौद्धिक नेतृत्व करने वालों पर पस्ती छाई हुई हो, वहाँ प्रारम्भ में इकतरफ़ा आदान भी अनिवार्य हो उठता है और उन्नीसवीं सदी के भारत में यही हुआ। उदाहरण के लिए हमने साहित्य में उपन्यास और 'एस्से' को अपनाया, विज्ञान में अनुमानमूलक और प्रयोगात्मक अनुसंधान-प्रक्रिया को, राजनीति में प्रेस, मंच, आंदोलन और सार्वजनिक संगठन की गतिविधियों की। इससे देश में उस समय पुनर्जागरण की प्रक्रिया को भी बल नहीं मिला, यह कोई नहीं कहेगा। किंतु, यदि वह पुनर्जागरण था तो निश्चय ही उसके भीतर कहीं कोई छिद्र भी रहा होगा। अन्यथा हमारे वर्तमान सामाजिक परिवेश में—प्रगति के सारे दावों के बावजूद—इतनी कुंठा, इतनी उदासीनता क्यों दिखाई देती है और स्वयं धर्मपाल सरीखे गाँधीनिष्ठ खोजी विचारक—जिन्होंने ब्रिटिश शासन से मर्माहत किंतु फिर भी किसी सीमा तक जीवित और अक्षुण्ण रही आई अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी के भारत की सामाजिक जीवन-व्यवस्था की स्वावलम्बी क्षमताओं की एक उजली और प्रमाण तस्वीर हमें सुलभ कराई थी—ऐसे लोग भी इस प्रगति से क्यों इतने असंतुष्ट और क्षुब्ध रहे? इसीलिए ना, कि देश का अधिसंख्य जनसामान्य न केवल इस प्रगति के लाभों से ही वंचित रहा आया, बल्कि इस समूची प्रक्रिया में अपनी उपस्थिति और जीवन्त भागीदारी के अहसास से भी। ज़रा देखें तो सही, भारत की समग्र अस्मिता की भाषा हिन्दी का एक और महत्वपूर्ण कवि इस दुर्घटना को किस तरह अपनी कविता में दर्ज कर रहा है। सुनिए :

''किसी की खोज है उनको किसी नेतृत्व की

पीली धुमैली पसलियों के पंजरों वाली उदासी से पुती गायें
भयानक तड़फड़ाती ठठरियों की आत्मवश स्थितप्रज्ञ कविताएँ
उपेक्षित काल-पीड़ित सत्य के समुदाय
समूचे दृश्य से मुँह मोड़ कहते हैं
हटाओ ध्यान हमसे वास्ता क्या है
कि वे दुःस्वप्न आकृतियाँ असत् हैं, घोर मिथ्या हैं।''

–ग.मा. मुक्तिबोध

मुक्तिबोध और रघुवीर सहाय की कविता जिस तरह हमारे सामाजिक अस्तित्व और राजनीतिक परिदृश्य को हमारी चेतना की अग्रभूमि में ले आई, वह स्वयं नयी कविता में भी एक नए प्रस्थान की सूचक थी। इस तरह की सामाजिक-राजनैतिक चेतना और उसका ठेठ समकालीन मुहावरा निश्चय ही हिन्दी कविता के इतिहास में एक नया मोड़ लाया। जब हम इसी के बाद की कविता—मसलन धूमिल की 'पटकथा'द्वारा प्रयुक्त मुहावरे पर आते हैं तो एक अतिरिक्त तीखापन और अतिरिक्त आग्रहवाली सपाट भाषा का इस्तेमाल पाते हैं। 'क्या आज़ादी महज़ तीन थके हुए रंगों का नाम है/ जिन्हें एक पहिया ढोता है?'.... 'मैंने, जिसकी पूँछ उठाकर देखा, उसे मादा पाया'..... 'हर औरत तीसरे गर्भपात के बाद धर्मशाला हो जाती है'..... जैसी काव्य-पंक्तियाँ कवि-संवेदना की किस रुझान को रेखांकित करती हैं। देखना दिलचस्प होगा कि ठेठ आज की हिन्दी कविता किस प्रकार इन पूर्ववर्ती कवियों से मिली प्रेरणा को आगे बढ़ाती हुई या उससे अलग सुर और तेवर पकड़ती हुई अपना कवि-कर्म निभा रही है।उसके स्वाधीन विकास का कैसा क्या आश्वासन उनकी रचना देती है। प्रस्तुत लेख में इसके विस्तार में जाने की गुंजाइश नहीं है; फिर भी, बानगी के तौर पर दो चार कविताओं को उद्धृत करना काफ़ी होगा।

सबसे पहले विनोदकुमार शुक्ल की 'रायपुर-बिलासपुर संभाग' शीर्षक कविता देखें जिसमें स्वातंत्र्योत्तर 'भारत-दुर्दशा' का एक प्रामाणिक दृश्यालेख ही नहीं, वस्तुस्थिति और सच्ची कवि-संवेदना के सम्बन्ध की भी एक मौलिक समझ और अभिव्यक्ति दिखाई देती है। सूख़ाग्रस्त प्रदेश की मानवीय त्रासदी से विचलित-विक्षुब्ध इस कविता का चरितनायक स्टेशन पर खड़ा अपना गाँव-घर छोड़कर जीविका की तलाश में विस्थापित होने को मज़बूर भीड़ से घिरा हुआ है। अपनी करुणादीप्त संवेदना के हाहाकार में मुक्तिबोध की याद दिलाती, किंतु उनसे सर्वथा भिन्न और स्वाधीन भंगिमा में यह कविता कहती हैः

.....कि तालाब की सूखी गहराई के बीच
मैं भी तालाब का कोई छोटा सा विचार देखूँ?

.....

बुरे समय के बाढ़के पानी को
दीवाल सा रोकता
बाँध का परिचय दूँ
कि मैं क्या हूँ आखिर/ मेरी ताक़त भी क्या है।

बाढ़ को रोकने वाली दीवाल
छोटे से गाँव के तालाब का छोटा सा विचार है।
बिखर गये एक-एक कमज़ोर को/ इकट्ठा करता हुआ
ताक़त का परिचय दूँ
कि मैं क्या हूँ/ मेरी ताक़त क्या है
इकट्ठी ताक़त तो एक एक कमज़ोर का विचार है।

यह कविता किसी सुनहरे अतीत या सुनहरे भविष्य के वादे पर वर्तमान को निछावर कर देने वाली कविता नहीं है। मुक्तिबोध की संवेदनात्मक तीव्रता और आस्था-दीप्त 'फ़ैण्टेसी' से इसका सुर कहीं गहरे में मिला हुआ है। कविता का समापन करता हुआ कवि हमें बरबस ही अपने उस सपने का साझीदार बना लेता है :

एक ग़रीब जैसे हर जगह उपलब्ध आकाश पर
गोली का निशान गोल सूरज
रिसता रक्त पूरब कोई सुबह
उसी सुबह एक ज़िन्दा चिड़िया का हल्ला....
बच्चों को कन्धे पर बैठाये लोग
इस तरह भविष्य तक ऊँचे लोग
उधर वहाँ
'था एक पेड़' की कहानी का जहाँ खात्मा
वहीं सुरक्षित पीपल का एक बीज-अंकुर
'एक पेड़ है' कहानी की शुरुआत
उसी पेड़ पर
जिस पेड़ की फुनगी को सारे आकाश का निमंत्रण!

दिन-दहाड़े के जीते-जागते दुःस्वप्न के भीतर से उगा कवि-संवेदना और कवि-आस्था का यह बीजांकुर हमें उथला या महज़ भावुक आशावाद नहीं लगता; बल्कि, हमारी अपनी अन्तरात्मा की पीड़ित विवेक-चेतना को—हमारी अपनी समग्र अस्मिता की शृंखलाबद्ध कथा की 'अस्ति गोदावरी तीरे शाल्मली नाम वृक्षः' वाली काल-चेतना को भी झकझोर कर जगाता हुआ, उसी को प्रतिध्वनित करता लगता है। मुक्तिबोध की कविता यदि मलयज के मुहावरे में 'बाहर का अस्तित्ववाद' है तो विनोदकुमार शुक्ल की कविता (और औपन्यासिकता भी) उसी के भीतर से उझक कर झाँकता हुआ ठेठ हिंदुस्तानी लोकमंगल का नया सपना, जो अपनी प्रामाणिकता के लिए किसी राजनीतिक नारे या परजीवी मुहावरे का मुखापेक्षी बनके नहीं, बल्कि अपने समय के दुःस्वप्नों का यथावत् सामना और भाष्य करके ही देखा जा सकता है।

अन्त में.... यहीं पर मुझे कवि-आलोचक विजयदेवनारायण साही का भोपाल में दिया गया एक व्याख्यान याद आ रहा है—'हमारा समय'। उसमें वे कहते हैं कि, ''भविष्य के नाम पर वर्तमान को

न्योछावर कर देने की बात अकेले मार्क्सवादी नहीं कहते; मार्क्सवादी तो योरोप की विचारधारा के केवल सौ-डेढ़सौ बरसों के लोग हैं। इससे ज़्यादा तो इस ढंग से सोचना रोमन कैथोलिक ने सिखाया।' साहीजी मार्क्सवाद को उसी रोमन कैथोलिसिज़्म का एक प्रतिफलन बताते हैं। पर साथ में यह भी जोड़ देते हैं कि 'मैं मार्क्सवादियों और कैथोलिकों की ही बात नहीं करता। जिन अंग्रेजों ने हिंदुस्तान को जीता, उन्होंने भी यही कहा। वे न मार्क्सवादी थे, न कैथोलिक। वे शुद्ध साम्राज्यवादी थे।' अभी हमने विनोदकुमार शुक्ल की जो कविता पढ़ी थी, उसके साथ इसी व्याख्यान में आगे साहीजी जो कह रहे हैं, उसे भी जोड़कर देखिये। साहीजी कहते हैं —

> 'न्यूयार्क और भूखों मरता छत्तीसगढ़ और बस्तर एक ही बीसवीं शताब्दी के अंग हैं। जो यह कहता है कि यह बीसवीं शताब्दी है और वह बारहवीं शताब्दी है, वह मार्क्सवादियों की तरह या साम्राज्यवादियों की तरह झूठ बोलता है। न्यूयार्क और मास्को के होने की शर्त यही है कि एक छत्तीसगढ़ भी हो, एक बस्तर भी हो, और बना रहे। जिस दिन बस्तर उठने लगेगा, न्यूयार्क गिरने लगेगा।'

मैं समझता हूँ यह हमारे लिए अपनी स्वाधीनता की रक्षा और उसकी मूल्यवत्ता को भी सुदृढ़ करने की दिशा में एक ज़रूरी सबक है।

जातीयता और साहित्य

नंदकिशोर नवल

'जातीयता' शब्द के कई अर्थ हैं, लेकिन यहाँ जिस अर्थ से अभिप्राय है, वह है 'नेशनलिटी'। मानव-समाज पहले गणों में बँटा हुआ था, जिनकी विशेषता थी रक्त-संबंध का महत्त्व, सामुदायिकता और उनकी अलग-अलग बोलियाँ। गणों के टूटने से 'जन' या 'जनपद' का निर्माण हुआ, जिसकी पहचान इतिहासकारों के अनुसार है— रक्त-संबंध के स्थान पर क्षेत्रीय संबंध, सामुदायिक के स्थान पर निजी स्वामित्व का उदय और गणों की अलग-अलग बोलियों का स्थान एक बोली को मिलना। ज़ाहिर है, ये जनपद गणों के विलय से निर्मित हुए थे। ब्रज, अवध, मगध, मिथिला आदि सभी जनपद थे, जिनकी स्थिति अंशतः आज भी सुरक्षित है। इनकी बोलियाँ क्रमशः ब्रजभाषा, अवधी, मागधी और मैथिली थी। व्यापारिक पूँजीवाद के दौर में जनपदों का अलगाव कम होना शुरू हुआ और जातीयता अस्तित्व में आई। उक्त सारे जनपद अन्य कई जनपदों के साथ हिंदी जातीयता में सिमट आए और बोलियों के पारस्परिक मेल से एक भाषा का निर्माण हुआ, जिसे हम 'हिंदी' या खड़ी बोली कहते हैं। जैसे बंगाली, पंजाबी, मराठी, गुजराती आदि अलग-अलग जातीयताएँ हैं, वैसे ही हिंदी जाति भी है, जिसकी अपनी विशिष्टताएँ हैं।

यहाँ एक आवश्यक विवाद को भी देख लेना चाहिए। अब तक 'जातीयता' की धारणा को किसी ने चुनौती नहीं दी थी, लेकिन पिछले वर्षों ऐंडरसन नामक एक यूरोपीय विद्वान् ने 'इमैजिन्ड कम्युनिटीज़' (1983) नामक एक पुस्तक लिखकर 'जाति' या जातीयता को एक कल्पित समुदाय बतलाया है। उनके अनुसार पूँजीवाद के विकास के साथ इस धारणा का निर्माण हुआ। उनका यह कहना ग़लत प्रतीत नहीं होता, लेकिन वे उसे झुठलाने और पूँजीवाद को महत्व देने की दृष्टि से ऐसा कहते हैं। ज्ञातव्य है कि उनकी दृष्टि में इंग्लैंड और वहाँ का औद्योगिक पूँजीवाद है। उन्होंने व्यापारिक पूँजीवाद और उसके दौर में निर्मित होनेवाले घरेलू बाज़ार को अपेक्षित महत्त्व नहीं दिया, जो जातीयता के निर्माण के मूल में है। पूँजीवाद की इस अवस्था को जैसे वे स्वीकार ही नहीं करते और सीधे औद्योगिक पूँजीवाद पर चले आते हैं। इनका ध्यान केवल इंग्लैड पर है, न यूरोप के दूसरे देशों पर और न अमरीका पर। इस तरह 'जातीयता' कोई कल्पना नहीं बल्कि एक ठोस हकीक़त है, जिसे हम इतिहास से ही नहीं, अपने अनुभव से भी जानते हैं।

अभी का विचारणीय विषय है—'जातीयता और साहित्य'। स्वभावतः जैसे हमने 'जातीयता' को

संक्षेप में समझा है, 'साहित्य' को भी समझें। साहित्य को सीधे समाज का दर्पण कह दिया जाता है, लेकिन उससे बात साफ़ नहीं होती। मनुष्य क्रियाशील प्राणी है। उसकी दैनंदिन चेतना में यथार्थ प्रत्यक्ष रूप से परावर्तित होता है, लेकिन उसके सैद्धांतिक और कलात्मक परावर्तन में यह व्यवस्थित होता है। विभिन्न रूपों में वस्तु-जगत् और समाज के बिंब उसके मानस में परावर्तित होते हैं— जैसे राजनीतिक विचारधारा, विधि-चेतना, नैतिकता, धर्म, कला और साहित्य आदि। इस तरह साहित्य सामाजिक चेतना का एक रूप है, जो चेतना के अन्य रूपों से भिन्न रूप में व्यवस्थित होता है। इस भिन्नता का एक बहुत बड़ा कारण वह व्यक्ति है, जिसके मानस में वह चेतना परावर्तित होती है। चूँकि वह साहित्यकार होता है, इसलिए उसके माध्यम से वह चेतना काफ़ी कुछ परिवर्तित या विकृत होकर अभिव्यक्ति पाती है। आमतौर पर लोग रचनाकार-व्यक्ति की भूमिका सामाजिक चेतना को तीक्ष्ण और तीव्र बनाने तक सीमित मानते हैं, जबकि सच्चाई यह है कि वह उसे इतना बदल दे सकती है कि वह बिल्कुल पहचान में न आए। कभी-कभी तो सामाजिक चेतना साहित्य में मिथक, स्वप्न, फ़ैंटेसी बनकर ही नहीं, बिलकुल अमूर्त रूप में अभिव्यक्त होती है। इतना ही नहीं, जो ठोस है, वह अमूर्त ही नहीं होता, जो अमूर्त है, वह ठोस भी हो जाता है, जैसे हकीक़त ही ख्वाब न बन जाए, ख्वाब भी हकीक़त बन जाए। जैसा कि एक सौंदर्यशास्त्री ने कहा है, 'कला संसार की जटिलतम वस्तु है।' साहित्य में रचनाकार-व्यक्ति का हस्तक्षेप उसे बहुत जटिल तो बना ही सकता है, वह जो अभिप्रेत है, उसे उलटे रूप में भी रख सकता है। इस बात को दिनकर की एक उक्ति से समझा जा सकता है : 'क्या अंधकार इससे भी दुखदायी होगा/ मत रोको कोई राह, राहु को आने दो।' जातीय साहित्य भी साहित्य की इन विशेषताओं से युक्त होता है।

अब हम जातीयता और साहित्य के संबंध को देखें। ऊपर साहित्य को सामाजिक चेतना का एक रूप कहा गया है। मतलब यह कि साहित्य रचना के लिए समाज ज़रूरी है। जब समाज ही नहीं होगा, तो लेखक के मानस में किसकी चेतना परावर्तित होगी? शून्य में साहित्य की सृष्टि नहीं हो सकती। उससे कुछ नहीं पैदा हो सकता है। कुछ लोग यहाँ कह सकते हैं कि साहित्य वैयक्तिक चेतना को तो परावर्तित कर सकता है। यहाँ ज्ञातव्य है कि व्यक्ति समाज में ही होता है; वह समाज की ही सृष्टि होता है, इसलिए वस्तुतः 'वैयक्तिक' कुछ नहीं होता। मार्क्स के शब्दों में, 'अकेलापन भी एक सामाजिक अवस्था है।' ऐसी स्थिति में समाज और साहित्य का संबंध अनिवार्य है। आगे की बात यह कि वह समाज तो दुनिया में अनेक हैं, पर उनमें से कोई एक ही लेखक के काम का होता है। वह कौन-सा समाज है? वह लेखक का अपना समाज है, जिसमें वह पैदा हुआ है, बढ़ा है, जिसने उसे भाषा और संस्कृति एवं सौंदर्य के संस्कार दिए हैं। स्पष्टतः तात्पर्य लेखक की जातीयता से है। जिस लेखक की जड़ उसकी अपनी जातीयता की मिट्टी में दृढ़ता से गड़ी हुई नहीं होती, वह अपने साहित्य में एक झूठ की सृष्टि करता है। उसकी भावना, उसका नैतिक और सौंदर्य बोध तथा उसकी भाषा, सभी हवाई होते हैं। निश्चित रूप से किसी भी लेखक के लिए अपनी जातीय भाषा, संस्कृति और जन-समुदाय तथा इतिहास की उपेक्षा करना बहुत खतरनाक है, क्योंकि यही तो वे चीज़ें हैं, जिन्होंने उसे अनुभूति, ज्ञान, आँख और कान प्रदान किए हैं, यानी संपूर्ण जीवन। अरुण कमल की पंक्ति हैः 'सारा लोहा उन लोगों का/ अपनी केवल धार'। यहाँ 'धार' को व्यापक रूप में लेना चाहिए, जिसमें यथार्थ के सारे प्रभावशाली अभिव्यक्ति-रूप समाविष्ट हैं। वैसे तो इसका प्रमाण संसार का सारा श्रेष्ठ साहित्य उपस्थित करता है, लेकिन किसी एक पुस्तक का नाम लेना हो, तो शोलोखोव के विश्वप्रसिद्ध उपन्यास 'धीरे बहे दोन रे' का नाम लेना उपयुक्त होगा, जो

पूर्णतः रूसी जीवन में कीलित है, जिसके सारे चरित्र रूसी हैं और जिसकी भूमि, अवस्था और दृश्य-सज्जा सभी रूसी हैं। कोई भी लेखक सामान्य यथार्थ का चित्रण करके महत्वपूर्ण नहीं हो सकता। उसके लिए विलक्षण यथार्थ आवश्यक है, जो उसे पूर्णतर रूप में अपनी जातीयता से ही प्राप्त हो सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि साहित्य में शाश्वत और सार्वभौम कुछ नहीं होता। जो होता है, वह काल-बद्ध और क्षेत्रीय अथवा जातीय। यदि साहित्य इस तथ्य को झुठलाता है, यानी शाश्वत और सार्वभौम बनता है, तो शून्य में ठहरकर नहीं, बल्कि ठोस जातीयता से जन्म लेकर और जीवन की वास्तविकता से जुड़कर, जिसका मतलब है जातीय जीवन से जुड़ना।

यहाँ यह भी विचारणीय है कि दूसरी जातीयताओं से साहित्य का क्या संबंध हो। उससे उसकी अपनी अस्मिता तो संकटग्रस्त नहीं होगी। इस संबंध में यह ज्ञातव्य है कि एक जातीय साहित्य जब दूसरे जातीय साहित्य के संपर्क में आता है तो उसकी परंपराओं और सांस्कृतिक उपलब्धियों से उसकी क्षमता का विकास होता है, उसे रूपाकार प्राप्त करने में मदद मिलती है। उदाहरण के लिए हिंदी साहित्य यदि बंगला साहित्य से समृद्ध हुआ है, (ताजा उदाहरण निराला पर बंकिमचंद्र, गिरीशचंद्र घोष और रवींद्रनाथ का सकारात्मक प्रभाव है) तो बंगला साहित्य के विकास में भी हिंदी साहित्य का योगदान है, जिसका प्रमाण विद्यापति से लेकर प्रेमचंद तक में मिलता है। रवींद्रनाथ की स्पष्ट उक्ति है कि उन पर प्रभाव सिर्फ़ विद्यापति का है और ताराशंकर वंद्योपाध्याय प्रेमचंद को अपना कथा-गुरु मानते थे! इसी तरह कबीर के पद गुरुग्रंथसाहब में संकलित हैं और गुजरात के बुद्धिजीवी मीरा को अपने प्रदेश की कवयित्री मानते हैं। हिंदी संत-काव्य को मराठी संत-काव्य की देन के बारे में कुछ कहने की ज़रूरत नहीं है। स्वयं रवींद्रनाथ ने तो उत्तर भारत के ही नहीं, दक्षिण भारत के साहित्यों को भी प्रभावित किया, जिससे दक्षिण के प्रत्येक जातीय साहित्य में स्वच्छंदतावाद का आंदोलन शुरू हो गया। यहाँ मलयालम के कवि जी. शंकर कुरुप का नाम लेना ही काफ़ी होगा। इस तरह एक जातीय साहित्य का दूसरे जातीय साहित्य से कोई टकराव नहीं है, बल्कि उनका पारस्परिक संबंध उनके विकास के लिए उपयोगी है। यह संबंध यदि अपनी विशेषताओं को सुरक्षित रखते हुए निर्मित किया गया, तो किसी साहित्य की जातीय अस्मिता संकटग्रस्त न होगी। ज्ञातव्य है कि जातीयता न क्षेत्रीयतावाद है, न नस्लवाद, जिसका दूसरी जातीयताओं से टकराव हो।

इस प्रसंग में यह भी ज्ञातव्य है कि कोई जातीयता अथवा जातीय साहित्य किसी से हीन नहीं है, इसलिए जातीय उच्चभाव का प्रश्न ही नहीं उठता है। एक सोवियत लोककवि दिमित्री गुलिया ने ठीक ही कहा है कि किसी भाषा का साहित्य कितना भी नया क्यों न हो, उसके पास गर्व करने लायक कुछ न कुछ अवश्य होता है। हिंदी का क्षेत्र तो बहुत बड़ा है, जिसकी तुलना में कश्मीरी का क्षेत्र बहुत छोटा है, लेकिन उसके साहित्य में भी कुछ ऐसा है, जो किसी अन्य साहित्य में नहीं। इस स्थिति में उक्त लोककवि का यह कहना बिलकुल सही है कि ''साहित्य सोना है। उसके खंड छोटे और बड़े हो सकते हैं, लेकिन सभी सोना होते हैं। छोटे खंड मिट्टी के बने नहीं होते। सोना हमेशा सोना रहेगा। आकार का कोई महत्त्व नहीं है।'' एक बात यह भी है कि सारे साहित्य अलग-अलग होते हैं, लेकिन सौंदर्यात्मक दृष्टि से उनमें एक समानता होती है और सच पूछा जाए, तो किसी भी साहित्य का सर्वश्रेष्ठ मानवीय गुण उसकी सौंदर्यात्मकता ही है, जो उसकी अंतर्वस्तु से स्वतंत्र कोई वस्तु न होकर उस प्रकाश की तरह है, जो प्रकाशित वस्तुओं से अलग दिखलाई नहीं पड़ता।

जातीय साहित्य की दो मंज़िलें और हैं— राष्ट्रीय साहित्य और विश्वसाहित्य। इन तीनों में कोई विरोध नहीं है। डॉ. रामविलास शर्मा का यह कहना बिलकुल सही है कि ''महान् साहित्यकार विदेशी भाषा में नहीं, अपनी जातीय भाषा में साहित्य रचते हैं। सबसे पहले उनकी दृष्टि के सामने उनकी जाति के लोग होते हैं, इसलिए उनका जातीय कवि होना अनिवार्य है। फिर यह जाति देश से अलग-थलग नहीं है। अनेक जातियों के एक साथ रहने से ही यह राष्ट्र बना है। जातीय प्रदेश में सीमित न रहकर कवि अन्य प्रदेश के लोगों को भी देखता है, देश पर लिखता है। देश संसार का अंग है। कवि देश की जनता के साथ संसार की जनता को भी देखता है (और उस पर भी लिखता है)। ...जातीयता का समर्थन और जातीय संकीर्णता का विरोध, राष्ट्रीयता का समर्थन और उससे ऊपर उठकर विश्व-मानवता का समर्थन, ये दोनों बातें रवींद्रनाथ ठाकुर में हैं.... (इसलिए वे एक साथ जातीय, राष्ट्रीय और विश्व-कवि हैं)।'' रवींद्रनाथ का कवि पूरे आकाश में क्या, ब्रह्मांड में उड़ान भरता है, लेकिन अंत में बंगाल की धरती पर उतर आता है , रसूल हमज़ातोव की इस बात को सार्थक करता हुआ कि बाज वह है, जो अपने पहाड़ों से ऊँची उड़ान भरता है, लेकिन फिर अपने घर, अपने घोंसले में लौट आता है। इस रूपक के भीतर हम झाँकेंगे तो बहुत ही ठोस बातें मालूम होंगी। लेखक की जड़ें अपनी जातीय संस्कृति में होना आवश्यक है, लेकिन वहाँ से उठकर राष्ट्र और विश्व द्वारा स्वीकृत होने के लिए उसका जातीयता की विशेषताओं को बिना छोड़े, उनका अतिक्रमण करके राष्ट्र और फिर विश्व की समस्याओं, चिंताओं और संवेदनाओं की, क्रमशः व्यापक होते जाते धरातल पर अभिव्यक्ति करना भी ज़रूरी है। क्षेत्रीय व्यक्ति से लेकर राष्ट्रीय और फिर विश्व-मानव तक में विषमताएँ हैं, तो समानताएँ भी हैं। राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय लेखक का ध्यान उन समानताओं पर होना आवश्यक है। बहुत लेखक ऐसा समझ सकते हैं कि राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता एक खास चीज़ है, लेकिन सच्चाई यह है कि यह अलग से कोई चीज़ नहीं है और जातीय जीवन के गहराई से किए गए चित्रण की ही उपलब्धि है। जातीय, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय-निस्संदेह साहित्य की ये तीन मंज़िलें हैं, लेकिन इन्हें आपस में विभाजित नहीं किया जा सकता। साहित्य अविभाज्य है और उसके ये क्रमशः व्यापक से व्यापकतर होते जाते स्तर हैं। जोहांस बेचर नामक एक विदेशी विद्वान ने कहा था कि कला का सत्य सामान्य होता है, इसके बावजूद वह हमेशा ठोस होता है, और सारी महान कलाएँ वैयक्तिकता से जन्म लेती हैं और उसके बाद सार्वजनीनता तक उन्नीत होती हैं। इस प्रकार सार्वजनीनता के आलोक से जो व्यक्तिगत है, वह उद्भासित हो उठता है। यह सच्चे जातीय साहित्य के निर्माण की अखंड प्रक्रिया है, जिसमें जातीय साहित्य में व्यक्तिगत और सामान्य मिलकर एकल रूप प्राप्त करते हैं। पिछले दौर में पूँजीवादी विश्ववाद ने साहित्य की जातीयता और राष्ट्रीयता को समाप्त करने की कोशिश की और इस दौर में भूमंडलीकरण के द्वारा साहित्य की अस्मिता को खत्म करने का प्रयास किया जा रहा है। यहाँ लेनिन का यह कथन आलोक-स्तंभ की तरह है कि सच्चा अंतरराष्ट्रीय साहित्य अराष्ट्रीय नहीं होता।

समकालीन कविता के आसंग में प्रयोगवाद

कर्मेन्दु शिशिर

समकालीन कविता को समग्रता में समझने के लिए, जब हम ऐतिहासिक काव्यांदोलनों की छानबीन करते हुए अतीत को टटोलने की कोशिश करते हैं तो हमारी निगाह प्रयोगवाद पर ही आकर ठिठक जाती है। दरअसल तमाम पक्ष-विपक्ष के बावजूद अंततः प्रयोगवाद ही वह विभाजक रेखा है, जहां से कविता में एक निर्णायक बदलाव दिखाई पड़ता है। डॉ. केदारनाथ सिंह भी तार-सप्तक को ही अलगाव का बिन्दु मानते हैं—'एक ऐसा मोड़ जहाँ से हिन्दी कविता की दिशा एकबारगी बदल जाती है।'[1] लेकिन कुछ लोग समकालीन कविता के अंतःसूत्रों की कड़ी प्रगतिवाद से जोड़कर उसे ही निर्णायक सिद्ध करते हैं। सहमति-असहमति के इन दोनों छोरों को हम चाहे, जितना लंबा करें, लेकिन ऐतिहासिक तौर पर *तार-सप्तक* से ही एक ऐसा बदलाव संभव होता है, जो नयी कविता से होते हुए समकालीन कविता तक एक तार्किक परिणति प्राप्त करता है। इसलिए समकालीन कविता के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को समग्रता में जानने के लिए प्रयोगवाद से अब तक के हुए तमाम काव्यांदोलनों की छानबीन ज़रूरी है।

यह बात लगभग सुज्ञात है कि *तार-सप्तक* (1943), *दूसरा सप्तक* (1951) और *तीसरा सप्तक* (1959) के बीच ही प्रयोगवाद की शुरुआत और अंत की गाथा है। आज लगभग सात दशकों बाद भी इतिहास में इसकी त्वरा शेष है और इसकी ऐतिहासिक भूमिका तमाम विरोधों के बावजूद कायम है तो ज़ाहिर है हम इसकी अनदेखी नहीं कर सकते। केदारनाथ सिंह ने लिखा है कि ''सन् 1943 के आसपास एक रचनाकार के सम्मुख बिल्कुल दूसरे प्रकार के प्रश्न थे, जिनका रुख साहित्य की ओर कम और साहित्येतर वास्तविकता की ओर अधिक था। *'तार-सप्तक* ने उनका रुख फिर से साहित्य की मोड़ दिया।'[2] डॉ. नामवर सिंह ने भी *प्रयोगवाद* नामक लेख में इसकी ऐतिहासिक भूमिका को रेखांकित करते हुए किंचित, विस्तार से विचार किया है। उन्होंने इसे नयी कविता का ही प्रारंभिक रूप कहा। वे पूर्ववर्ती कविता से इसकी भिन्नता को लेकर इसे ज़्यादा महत्व नहीं देते क्योंकि उनके अनुसार 'हर युग की कविता अपनी पूर्ववर्ती कविता से कुछ न कुछ भिन्न होती ही है।' नामवर सिंह ने 'दूसरा सप्तक' की भूमिका में अज्ञेय के इस कथन को उद्धरित किया है कि 'प्रयोग का कोई वाद नहीं है। हम 'वादी' नहीं रहे, नहीं हैं।' उन्होंने इसका कारण यह बताया है कि ये कवि किसी राजनीतिक या दार्शनिक विचार प्रणाली से परहेज़ करते हैं क्योंकि इससे उनकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता बाधित होती है। वे प्रयोगवाद की

दूसरी विशेषता 'सत्य का 'अन्वेषण' बताते हैं। नामवर सिंह भी इसका विश्लेषण करते हुए रामविलास शर्मा की तरह इसकी एक परिणति 'अनुभववाद' या 'रहस्यवाद' में देखते हैं लेकिन वे इसमें पूरे प्रयोगवाद को ही रिड्यूस नहीं कर देते बल्कि भाषा के माध्यम से नये अन्वेषण की बात को विस्तार देते हुए, वस्तु और शिल्प-दोनों में प्रयोगशीलता को एक 'नयी काव्य-दृष्टि' के रूप में देखते हैं। आगे चलकर 'कविता के नये प्रतिमान' में काव्य-भाषा, अन्वेषण, अनुभूति, तनाव या सृजनात्मकता को लेकर जो विश्लेषण करते हैं उसमें अज्ञेय के परवर्ती काव्य में तनाव की जगह आयी शिथिलता को उनके काव्य में गिरावट के रूप में देखते हैं। केदारनाथ सिंह का विश्लेषण इससे थोड़ा-सा अलग है। उनके अनुसार 'अन्वेषण' और 'प्रयोग' की जिस धारणा को लेकर ये कवि चले थे, उसके ऐतिहासिक कारणों और दिशा का उन्हें ठीक-ठीक पता नहीं था।' इसका परिणाम यह हुआ कि 'तार-सप्तक' अपने समय के 'अग्रिम दस्ते' का घोषणा पत्र न होकर एक नये प्रकार के सौन्दर्यशास्त्र का उद्घोषक बन गया।'[3] यह बात नामवर सिंह की इस बात कि 'वस्तु' और 'शिल्प'— दोनों में प्रयोगशीलता एक नयी काव्य-दृष्टि' है— को एक निष्कर्ष या परिणति तक पहुँचाती है।

जब अज्ञेय किसी राजनीतिक या दार्शनिक विचारप्रणाली को ही नहीं मानते थे, तो ज़ाहिर था उनमें व्यक्तिवाद प्रबल होता और वे इसकी क्षतिपूर्ति अपनी बौद्धिकता और अहम से करते। ज़ाहिर था 'अन्वेषण' भी कोई सामूहिक उपक्रम नहीं था। अपने समय-समाज से अलग उनका 'अन्वेषण' आखिर किस 'सत्य' के लिए था! अज्ञेय ने *तार-सप्तक* के वक्तव्य में साफ़-साफ़ लिखा है—'यथार्थ-दर्शन केवल कुंठा उत्पन्न करता है।' उसी काल में वे यह भी लिखते हैं कि ''दुःख, अपूर्णता, पीड़ा, ये सर्वव्यापी हैं। ग़रीबों ने इनका ठेका नहीं लिया है—इसे वे भी मानेंगे जो स्वयं ग़रीब हैं। और सुख और संतोष भी वर्गभेद नहीं देखते। तब कैसे एक वर्ग का दुःख-सुख दूसरे वर्ग के सुख-दुःख से अधिक वर्णनीय मान लिया जाये! क्यों न हम दोनों वर्गों के ऊपर उठकर संपूर्ण मानवता के गान गायें?'[4] ज़ाहिर था वे इस सोच से सीधे प्रगतिवादी धारा को नकारते हुए एक अपना प्रतिपक्ष खड़ा करते हैं। भले ही तार-सप्तक में कुछ मार्क्सवादी कवि थे और वे कला की बलि देकर सामाजिक सरोकारों वाली रचनाओं से क्षुब्ध हो ज़्यादा विकसित कला-चेतना वाले अज्ञेय के साथ हुए, मगर अज्ञेय का उद्देश्य और परम 'सत्य' का अन्वेषण स्पष्ट था। इसलिए अगर डॉ.रामविलास शर्मा यह कहते हैं कि 'प्रयोगवाद की शुरुआत प्रगतिवाद पर आक्रमण से हुई थी।' तो बात बिल्कुल निराधार भी नहीं लगती। तमाम आभिजात्य और बौद्धिकता के बावजूद अज्ञेय अपने उद्देश्य और परम 'सत्य' के अन्वेषण में दृढ़ और प्रतिबद्ध रहे।

शमशेरबहादुर सिंह ने *तार-सप्तक* के सातों कवियों की समीक्षा करते हुए यह बात सिद्ध की है कि ''कविता की सात दुनियाओं में रहनेवाले इन सातों पद्यकारों में आपस में प्रत्येक संभव प्रकार का मतभेद है ; ये आपस में सहमत हैं तो केवल इस पर कि कविता प्रयोग का विषय है।''[5] उन्होंने जो बात अपनी समीक्षा की शुरू में ही दर्ज की वह गौर करने वाली है। 'प्रयोग ही *तार-सप्तक* का नारा है। इस दिशा में *तार-सप्तक* की क्या विशेषताएँ हैं? एकदम स्पष्ट कहा जाये, तो कोई खास नहीं'।[6] उनके अनुसार इससे ज़्यादा प्रयोग और ज्यादा सुंदर तरीके से निराला, पंत और नरेन्द्र शर्मा की कविताओं में भरे पड़े हैं। उनका दूसरा आरोप यह था कि तार-सप्तक में एक हद तक अज्ञेय और रामविलास शर्मा को

अपवाद मानें तो सारे प्रयोग 'बहुत कम सफल हुए हैं।' विष्णु खरे की मानें तो *तार-सप्तक* की एक भी कविता को आप बतौर सिर्फ़ कविता नहीं पढ़ना चाहेंगे। उनके अनुसार तो 'तार-सप्तक पढ़ा ही नहीं गया, उसके पीछे जो मुद्रा थी उसे ही सब कुछ मान लिया गया और उसी पर ले-दे होती रही।'[7] इन तमाम बातों को ध्यान में रखकर प्रयोगवाद और अज्ञेय पर लिखे डॉ. रामविलास शर्मा के लेखों को देखें तो दोनों के छद्म स्पष्ट हो जाते हैं। अज्ञेय की रागात्मक रोमानियत हो या नव रहस्यवाद-रामविलास शर्मा ने उनकी कविताओं से साक्ष्य रखकर परत दर परत उधेड़ी है। साथ ही अज्ञेय के छायावादी संस्कारों से कविता को मुक्त करने के दावे भी संदिग्ध हो गये हैं। मुद्रा और तेवर की बात चाहे जो हो, मगर इतनी बात स्पष्ट तो हो ही जाती है कि अज्ञेय आगामी कविता का घोषणापत्र नहीं रच पाये।

यह सही है डॉ. रामविलास शर्मा वैचारिक और सैद्धांतिक स्तर पर स्पष्ट और कठोर थे। उनके विरोध और समर्थन के दोनों छोर निर्णायक शक्ल में सामने थे और अपनी आग्रहशीलता और तीखी शैली में उन्होंने अपवाद तक की गुंजाइश नही छोड़ी। उनका विश्वास था कि प्रयोगवाद-प्रगतिवाद को परिदृश्य से ओझल करने और कुंद करने के उद्देश्य से सचेत रूप से चलाया गया था। लेकिन डॉ. नामवर सिंह में प्रयोगवाद या अज्ञेय को लेकर सदाशयता का ऐसा अभाव न था। उन्होंने प्रयोगवाद की चर्चा करते हुए व्यक्तिवाद के दो सींमांतों की चर्चा की है। इसमें एक है मध्यवर्गीय परिवेश के प्रति मध्यवर्गीय कवि का वैयक्तिक असंतोष और दूसरा जन-जागरण से भयभीत कवि की आत्मरक्षा की भावना। ''कुल मिलाकर यह चरम व्यक्तिवाद ही प्रयोगवाद का केन्द्र-बिन्दु है और विभिन्न राजनैतिक, नैतिक, सामाजिक मान्यताओं के रूप में यह संकीर्ण व्यक्तिवाद अपने को व्यक्त करता रहता है।''[8] उन्होंने नेमिचंद्र जैन, मुक्तिबोध और भारतभूषण अग्रवाल को अज्ञेय से हिंगराते हुए इनके जनांदोलनों से तादात्म्य को इंगित किया है। शमशेर बहादुर सिंह ने भी सातों कवियों में मतभेद माना था। ज़ाहिर था प्रयोगवाद के काव्य की जिन प्रवृत्तियों की बात अज्ञेय कर रहे थे, ये कवि उससे अलग अपनी-अपनी भिन्न राह की ओर बढ़रहे थे। ज़ाहिर है ऐसी भिन्नता से कोई 'वाद' ठोस शक्ल में उभर ही नहीं सकता था। क्या 'तार-सप्तक' के किसी कवि को आगे कभी सिर्फ प्रयोगवादी कवि के रूप में इंगित किया गया? शायद नहीं। डॉ. देवराज ने 'युगचेतना' (दिसम्बर 1956) में एक टिप्पणी लिखी थी— 'प्रयोगवाद की एकांगिकता'। उसमें उन्होंने लिखा था कि ''मैंने अभी तक किसी प्रयोगवादी को यह कहते या लिखते नहीं पाया कि एक बड़े लेखक में बड़ी जिज्ञासा, जीवन के प्रश्नों की आलोचना की बड़ी तत्परता और जीवन का अर्थ खोज निकालने के लिए बड़ी बेचैनी होनी चाहिए। प्रयोगवाद के गर्भ में विशेष महत्व के काव्य का जन्म तब होगा जब उनके मुहावरे और पदावली का इतना विस्तार हो जाय कि उसमें मानव-समाज की समस्त जय-पराजयें, वासनाएँ और व्यसन अपनी अवशेष जटिलता में प्रतिपलित हो सके।'' इस उद्धरण में डॉ. देवराज ने प्रयोगवाद की असफलता या सारहीनता को ही सूत्रबद्ध नहीं किया है, बल्कि नयी कविता की सीमाओं को परखने की दृष्टि भी दी है। डॉ. देवराज की इन अपेक्षाओं के आलोक में अगर मुक्तिबोध की कविताओं को देखें, तो पता चलेगा कि उनकी कविता ने इन चुनौतियों को आत्मसात किया। इस तरह प्रयोगवाद विचारकों की दृष्टि में काफ़ी पहले ही अप्रासंगिक और अर्थहीन हो चुका था, जिसमें आगामी कविता का कोई भविष्य नहीं था।

डॉ. नामवर सिंह और मलयज ने भी इन कवियों के मौलिक वैशिष्ट्य की बात की और अज्ञेय के साथ जिस एक तत्व की ओर खासतौर से ज़ोर दिया- वह है 'बौद्धिकता'। मलयज ने इस बौद्धिक तत्व

को अज्ञेय की कविता के कला-मूल्य से जोड़कर विचार किया। ''अज्ञेय की बौद्धिकता ने उनके काव्य-अहम् को पुष्ट किया, उसे परिष्कृत किया, व्यापक बनाया। पर एक क्षण ऐसा आया जब अज्ञेय को यह फ़ैसला करना पड़ा कि वह शब्द और अर्थ के बीच की दीवार को विस्फोटक से उड़ा देंगे।'' वे उनके काव्य अरण्य में प्रवेश करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ''जो विस्फोट कवि ने किया था उसके धमाके से अनुभूति-तंत्र के साथ-साथ अभिव्यक्ति-तंत्र भी चरमरा गया है। अनुभूति और भाषा के जोड़ने वाली रस्सी उड़ गई है, अतः वे पहले की अधिक समर्थ कविताओं की प्रतिध्वनियों जैसी लगती है।''[9] मलयज ने भी अज्ञेय की सांस्कृतिक चेतना को छायावाद की सांस्कृतिक चेतना से जोड़कर दोनों में सूत्रवत् समानता की बात की है। वे भी अज्ञेय को छायावादी संस्कारों से पूरी तरह अलगाकर नहीं देखते। वे लिखते हैं—''जातीय जन-परंपरा के नाम पर जिस गर्मजोशी से कला-मूल्यों को राजनीतिक, सामाजिक कार्यक्रमों की बलि वेदी पर न्यौछावर किया जा रहा था वह अज्ञेय को बिदका देने के लिए काफ़ी था। अज्ञेय का आभिजात्य अगर कहीं था तो वह यहीं था। वह जिस परंपरा के रक्षक थे, वह वर्ग-भेद से ऊपर, उदात्त मानव-परंपरा थी जिसका सांस्कृतिक आधार छायावाद में निबद्ध था।''[10] बात भले ही एकदम ठेठ ढंग से क्यों न कही गई हो, अगर आप मलयज की इन बातों से सहमत होते हैं, तो कोई कारण नहीं कि आप रामविलास शर्मा से पूरी तरह असहमत हो जायँ!

प्रयोगवाद कोई 'वाद' था या नहीं, हिन्दी कविता में इसकी ऐतिहासिक भूमिका थी या नहीं— इससे महत्वपूर्ण बात यह कि आगे विकसित होने वाली कविता से इसके सरोकार कैसे रहे अथवा उसमें इसका क्या योगदान रहा। प्रगतिवाद भले ही कला-मूल्यों की बलि देकर राजनीतिक, सामाजिक, प्रतिबद्धता और सरोकार के कारण साहित्य की केन्द्रीयता से वंचित रहा, लेकिन उसमें यथार्थ और जन सरोकार की प्रवृत्ति इतनी मूल्यवान थी कि लंबी उपेक्षा के बावजूद उसकी वापसी सुनिश्चित थी। नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन और नरेन्द्र शर्मा— ये ऐसे कवि थे, जो प्रयोगवाद और उसी की अगली कड़ी नयी कविता के लंबे दौर में भी अपनी सृजनात्मक राहें नहीं बदली। यथार्थ, जातीय परंपरा और जन सरोकारों के प्रति इनका अटूट विश्वास बना रहा। सूत भर भी वे अपनी प्रतिबद्धता से नहीं डिगे। इनके अतिरिक्त दो कवि-मुक्तिबोध और शमशेर बहादुर सिंह भी ऐसे थे, जिनकी मार्क्सवाद के प्रति आस्था अंत-अंत तक बनी रही और ये पूरे दौर में अपनी सर्वथा अलग राह चलते रहे। नयी कविता के विचारकों ने जो काव्य प्रतिमान तय किये, ये उनकी सीमाओं में अँट नहीं पाये और एक तरह से उन्हें आत्मसात करते हुए सृजन के स्तर पर कविता के नये क्षितिजों का निर्माण किया, कविता के खुद प्रतिमान रचे, कविता का सौंदर्यशास्त्र गढ़ा और रचना- प्रक्रिया पर विचार किया, जिसने समकालीन कविता की पृष्ठभूमि को ही नहीं पूरे काव्यबोध को ही प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष समृद्ध किया। इसलिए प्रयोगवाद के बाद की कविता पर विचार करते हुए हम इन दोनों को नयी कविता के प्रचलित प्रतिमानों के दायरे में ही रखकर इनकी कविताओं का समग्र और वास्तविक मूल्यांकन नहीं कर सकते और न ही दोनों के मूल्यांकन करने वाले किसी बाद के आलोचक ने किया।

डॉ. नामवर सिंह ही नहीं मुक्तिबोध से डॉ. रामविलास शर्मा तक प्रयोगवाद से नयी कविता को सर्वथा हिंगरा कर बात नहीं करते। सभी इसे एकसूत्रता में मानकर ही विचार करते हैं। लेकिन ध्यान देने वाली बात यह है कि ठीक इसके समानांतर चल रही प्रगतिशील कविता की धारा आखिर ओट में क्यों पड़ी रही? जबकि प्रगतिवाद और प्रयोगवाद की ये समानांतर धाराएँ न तो सृजन के स्तर पर रुकीं, न ही

विचार के। आप नागार्जुन, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल या नरेन्द्र शर्मा की रचनाओं पर ही ग़ौर न करें, बल्कि 'हंस' और 'नया प्रतीक' जैसी प्रगतिशील पत्रिकाओं के प्रकाशन को भी देखें। यथार्थ और जन सरोकारों के बावजूद 'प्रतीक' (1947) का प्रकाशन आने वाली कविता के लिए महत्वपूर्ण साबित हुआ। मुक्तिबोध और शमशेर की कविताओं को ही नहीं उनकी लिखी समीक्षाओं और लेखों को भी देखिये, मगर प्रगतिशील कविता उस दौर में अपनी अगली कड़ी विकसित नहीं कर पायी। आप कम से कम इससे अज्ञेय, प्रयोगवाद और तार-सप्तक के असर को महसूस कर सकते हैं। ग़ौर करने वाली एक और बात है कि अकादमिक सोच में यह भ्रम बना रहता है कि उत्तर छायावाद और प्रगतिवाद के बाद प्रयोगवाद के दौर का क्रमिक विकास हुआ। लेकिन यह भ्रम विचारकों के बीच नहीं रहा। इस दौर में घटित इन परिवर्तनों पर डॉ. देवीशंकर अवस्थी की टिप्पणी है—''विकास की प्रक्रिया इतनी तीव्र है और इसी कारण परिवर्तन इतनी तेजी से घटित होते हैं कि कोई भी प्रवृत्ति अधिक दिन नहीं चल सकती। भक्तिकाल 300 वर्षों से अधिक रहा और रीतिकाल 200 वर्ष, पर छायावाद की आयु 20वर्ष की ही रही, प्रगतिवाद-प्रयोगवाद 14 वर्ष और 10 वर्ष के भीतर ही नयी कविता के निष्प्रभ होने की चर्चा होने लगी है।''[11] डॉ. अवस्थी प्रगतिवाद-प्रयोगवाद की अवधि 14 वर्ष ही नहीं मानते, बल्कि दोनों को साथ-साथ रखते हैं। अब विचारणीय बात यह है कि प्रयोगवाद अगर नयी कविता के रूप में विकसित हुआ, तो प्रगतिवाद को कविता की मुख्य प्रवृत्ति बनने में सातवें दशक तक प्रतीक्षा क्यों करनी पड़ी? लगभग दो दशकों बाद अगर इनकी वापसी हुई, तो भी दो बातें विचारणीय रह जाती हैं। एक तो यह कि 1951 से 1971 तक प्रगतिवादी प्रवृत्ति स्थिर तो नहीं होगी, उसका भी विकास हुआ होगा और दूसरी बात जो समकालीन कविता के नज़रिये से ज़्यादा महत्वपूर्ण है कि प्रगतिशील कविता में वह कौन-सी बात थी, कौन सा तत्व या प्रवृत्ति थी, जिससे वह दो दशकों के अंतराल के बाद न सिर्फ वापसी करती है, बल्कि कविता के परिदृश्य पर प्रमुखता हासिल करती है। मुझे लगता है मुक्तिबोध की मार्क्सवाद को लेकर प्रतिबद्धता और जन सरोकारों से तादात्म्य के कारण उनकी रचनाओं से कविता में यथार्थ की निरंतरता बनी रही। प्रयोगवाद से नयी कविता के तमाम उत्कर्षों को समेटते हुए उन्होंने यथार्थवादी कविता सृजन के अभिनव उत्कर्ष रचे और अपने समय समाज की तमाम अंदरूनी सच्चाइयों को एक ऐसे शिल्प में रचा, जो आने वाली पूरी कविता के लिए मेरुदंड बन गया। यह अकारण नहीं था कि आने वाले समय में मुक्तिबोध सातवें दशक के निर्विवाद आदर्श और प्रेरक व्यक्तित्व बन गये। इसलिए बिना मुक्तिबोध को केन्द्र में रखे हम इन दो दशकों की कविता में हुए परिवर्तनों को भी ठीक-ठीक नहीं समझ सकते। डॉ. नामवर सिंह की 'कविता के नये प्रतिमान' की भूमिका में कही यह बात कि 'यह तथ्य अनदेखा नहीं किया जा सकता कि 'कविता के नये प्रतिमान' के केन्द्र में मुक्तिबोध हैं।' मगर परिशिष्ट में स्वतंत्र रूप में 'अंधेरे में' पर लिखे दोनों लेखों को छोड़कर मूल पुस्तक को देखें तो यह बात उतनी सटीक नहीं बैठती। लोगों की खुली प्रतिक्रियाएँ हैं कि मूल पुस्तक के केन्द्र में मुक्तिबोध से ज़्यादा जगह तो रघुवीर सहाय ने ली है। लेकिन सवाल जगह का नहीं, असल बात सोच और आस्था की है। उन्होंने आगे लिखा भी है 'इस पुस्तक का आधार यह धारणा है कि नई कविता में मुक्तिबोध की स्थिति वही है जो छायावाद में निराला की थी। निराला के समान ही मुक्तिबोध ने भी अपने युग के सामान्य काव्यों को प्रतिफलित करने के साथ ही उनकी सीमा को चुनौती देकर उस सर्जनात्मक विशिष्टता को चरितार्थ किया, जिससे समकालीन काव्य का सही मूल्यांकन संभव हो सका।' आप नयी कविता के उस पूरे दौर की चाहे जितनी बारीक

छानबीन कर लें, मुक्तिबोध की ऐसी स्वीकृति तब आपको कहीं नहीं मिलेगी। इसलिए इस पूरे दौर में नागार्जुन, केदार और त्रिलोचन भले ओट में रहे, परिदृश्य पर रहकर भी मुक्तिबोध के काव्य और विचार अदीठ ही रह गये।

मुक्तिबोध के आसंग में खास बात यह थी कि वे हर नई प्रवृत्ति को लेकर गंभीरता से सोचते-विचारते थे और उसके बारीक विश्लेषण से किसी निष्कर्ष तक पहुँचते थे। प्रयोगवाद की शुरुआत को उन्होंने 'तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति के विरुद्ध व्यक्ति द्वारा की गई भावनात्मक प्रतिक्रियाएँ' के रूप में लिया। वे *तार-सप्तक* और *दूसरा सप्तक* में मौलिक भेद यह करते हैं कि 'व्यक्ति के विकास की दृष्टि से *तार-सप्तक* अधिक मजबूत है, *दूसरा सप्तक* रोमैण्टिक परिधान की दृष्टि से अधिक मनोरम। (*रचनावली*-पाँच पृ. 288) उस समय उनकी यह शिकायत थी कि प्रगतिवादी आलोचक भी जीवन के नये मोड़ों की साहित्यिक अभिव्यक्ति का आकलन नहीं कर सकते। वे यह सवाल भी उठाते हैं कि 'क्या प्रयोगवाद का आज तक का विकास ऐसा है कि जो हमारी जनता के मुख्य लक्ष्यों को अग्रसर कर सके? अथवा, क्या उससे यह आशा हो सकती है?'(वही) वे खुद मानते हैं कि अभी तक प्रयोगवाद में ऐसा नहीं हुआ लेकिन मुक्तिबोध आशावादी बने रहे।

मूल बात यह है कि प्रयोगवाद की भूमिका को लेकर मुक्तिबोध और अज्ञेय के सोच में भारी फ़र्क था। अज्ञेय जहाँ यथार्थ से कुंठा उत्पन्न करने की बात करते थे, वहाँ मुक्तिबोध यह मानते थे कि ''यह निश्चित है कि वही ज़िन्दा रहेगा जो वर्तमान यथार्थ के अभिप्रायों को समझ सके। यानी आज के प्रश्नों के संबंध में निश्चित भावात्मक और बौद्धिक आउटलुक रख सके।'' वे अपनी बात को और स्पष्ट करते हुए विस्तार देते हैं कि ''जनता की राजनीति और जनोन्मुख साहित्य का स्रोत एक है। और वह है, आज का यथार्थ। आज का यथार्थ कोई रहस्यवादी धारणा नहीं है जिसको समझने के लिए इड़ा-पिंगला-सुषम्ना नाड़ियों को तीव्र करना ज़रूरी हो। आज का यथार्थ जनता के जीवन का यथार्थ है जो हम स्वयं रोज़मर्रा जी रहे हैं। राजनीति और साहित्य मात्र अभिव्यक्ति में भिन्न हैं। उनका मूल है आज का यथार्थ, यानी जन-जीवन का यथार्थ, उसके लक्ष्य, उसके अभिप्रेत, उसके संघर्ष।'' (वही 281-282)

इस तरह कविता में मुक्तिबोध के आग्रहों में अपने समय-समाज के जीवन का यथार्थ शामिल था। जनता के स्वप्न और संघर्ष शामिल थे। जहाँ तक कला-मूल्यों की बात थी तो मुक्तिबोध का यह विश्वास था कि रचना में 'वस्तु-तत्त्व में इतनी शक्ति होती है कि वह स्वयं अपने रूप को लेकर आता है।' (288) मतलब वे शिल्प और अंतर्वस्तु की अभेद्यता पर यकीन करते थे। इसलिए कविता में इस नई उद्भावना में रोमान के बावजूद 'बौद्धिकता' का प्रवेश उन्हें आकर्षित कर रहा था। छायावाद में भी 'कामायनी' के मूल्यांकन में उनके आकर्षण के पीछे यही बौद्धिक-तत्व था। मलयज अज्ञेय में जिस बौद्धिकता की बात कर रहे थे, मुक्तिबोध के बौद्धिक-तत्त्व से वह भिन्न था। ले-देकर मूल बात रचना के 'वस्तु-तत्व' पर ही आकर टिकती है, जो रचनाकार के सोच, संवेदन से ही नहीं उसके अभिप्रेत और सरोकारों से भी जुड़ी है। मुक्तिबोध प्रयोगवाद और नयी कविता के साथ-साथ अन्य प्रवृत्तियों को भी इसी दृष्टिकोण से देखते-समझते थे। इसलिए प्रयोगवाद से नयी कविता तक इसके प्रणेताओं या व्याख्याकारों से अलग जब तक मुक्तिबोध के कविता संबंधी विचारों और काव्य का आकलन नहीं होगा, तब तक हम समकालीन कविता तक विकसित यथार्थ की मूल काव्य परंपरा को नहीं समझ सकते। एक बात और है

कि क्या सामाजिक यथार्थ उस दौर की नयी कविता से अलग कथा साहित्य में शिफ़्ट हो गया था? डॉ. नामवर सिंह की 'कहानी' (जनवरी 1956) में छपी टिप्पणी है—''आज की कहानियों को देखते हुए निःसंदेह यह कहा जा सकता है कि हिन्दी कविता की अपेक्षा कहानी में स्वस्थ सामाजिक शक्ति कहीं अधिक है और आज उपन्यास की तरह कहानी भी सामाजिक परिवर्तन के लिए ज़ोरदार साहित्यिक शस्त्र का काम कर रही है।' और यह बात भी सही है कि उस दौर में साहित्य के परिदृश्य पर प्रमुखता कथा साहित्य की रही। कहीं न कहीं इसके मूल में मुख्य कारक यथार्थ, जातीय परंपरा, और सामाजिक सरोकार ही रहे--जो प्रगतिवाद की मुख्य प्रवृत्तियाँ थीं। इसलिए समकालीन कविता की दृष्टि से इस पूरे दौर का विश्लेषण बहुत ज़रूरी है। प्रश्न यह है कि आखिर ऐसा क्यों हुआ? ज़ाहिर था, तब काव्य विवेक का भी कोई संकट नहीं था। नयी कविता के तमाम विचारक अपने समय के उन्नत मस्तिष्क वाले अत्यन्त पढ़े-लिखे लोग थे। उनके काव्य विवेक की तो बात ही क्या, वे तो कविता, नयी कविता के सिद्धांतकार, प्रणेता और समर्थ व्याख्याकार ही थे। इसलिए नयी कविता ही नहीं बल्कि उस पूरे दौर के परिदृश्य की विभिन्न काव्य प्रवृत्तियों पर, बिना विचार किये, हम समकालीन कविता की विकास-परंपरा को ठीक-ठीक नहीं समझ सकते।

संदर्भ

(1) मेरे समय के शब्द - केदारनाथ सिंह पृ.32 (2) उपर्युक्त पृ.31 (3) उपर्युक्त पृ.32 (4) कविता से साक्षात्कार - मलयज पृ.39 (5) कुछ गद्य रचनाएँ- शमशेर बहादुर सिंह पृ.81 (6) उपर्युक्त पृ.80 (7) आलोचना की पहली किताब - विष्णु खरे पृ.192 (8) आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ - नामवर सिंह पृ.137 (9) कविता से साक्षात्कार - मलयज पृ.36-37 (10) उपर्युक्त पृ.33 (11) रचना और आलोचना - देवीशंकर अवस्थी पृ.57

मध्यकालीन भारतीय कला और समाज : कुछ पहलू

रमण सिन्हा

मध्यकालीन भारतीय कला-रूपों में तत्कालीन समाज और संस्कृति की जो छवियाँ बिंबित हुई हैं, वे एक स्तर पर लोक एवं शास्त्र तथा दूसरे स्तर पर हिंदू एवं इस्लामी अवबोध के परस्पर संघर्ष एवं समन्वय से निर्मित हुई जान पड़ती हैं। इस संघर्ष एवं समन्वय को दो प्रकार के संगठनों के मंच पर घटित होते देखा जा सकता है। पहला संगठन राज्य का है तथा दूसरा धर्म का।

मध्यकालीन भारत में दिल्ली दरबार की स्थिति केंद्रीय थी। दिल्ली दरबार महज़ राजनैतिक गतिविधियों का केंद्र-स्थल नहीं था बल्कि भाषा, साहित्य, स्थापत्य, चित्र-कला, संगीत से लेकर पहनने-ओढ़ने, खाने-पीने, उठने-बैठने के तौर तरीके एवं फ़ैशन तक यानी कुल जमा जिसे हम संस्कृति कहते हैं, उसके तमाम प्रतिमान यहीं तय किये जाते थे। ऐसा माना जाता है कि दिल्ली दरबार में स्वीकृत प्रतिमान ही अमीर-उमरा, क्षेत्रीय दरबार के प्रतिनिधियों, ज़ागीरदारों, ज़मींदारों के माध्यम से अंततः अखिल भारतीय स्तर पर समादृत हो पाते थे। मुगल साम्राज्य की गोधूलि-बेला पर काम करने वाले प्रसिद्ध इतिहासकार पर्सिवल स्पीयर ने लिखा है कि, ''मुगल दरबार जब तक कायम रहा, हिंदुस्तानी रीति-रिवाज़ का विद्यालय बना रहा। इसका प्रभाव हिंदुस्तान के आचार-विचार पर, अकबर के वक्त से ही, कुछ वैसा रहा जैसा बर्साइल के दरबार का यूरोप के लोगों पर था।.... बंगाल से लेकर पंजाब तक तथा दूर दक्षिण में मदुरै तक मुगल शिष्टाचार आचरण का प्रतिमान माना जाता था और फ़ारसी राजनयिकों एवं शिष्ट जनों की भाषा मानी जाती थी। संबोधित करने के तरीके, शिष्टाचार के नियम और बहुत हद तक औपचारिक पहरावे दिल्ली दरबार का ही अनुसरण करते थे। यहाँ तक कि मराठे भी इसके प्रखर एवं दुर्दम्य प्रभाव को महसूस करते थे और जाट भी दिल्ली से लूटे गये माल से अपनी राजधानी दिग में निर्मित मुगल राजमहल की एक प्रतिकृति को सजाने में गर्व का अनुभव करते थे।''[1] मुहम्मद हुसैन आज़ाद 'आब-ए-हयात' में एक जगह लिखते हैं कि ''जब अहमदशाह दुर्रानी की सेना ने हिंदोस्तान को विध्वस्त किया और फ़ुगां [2] ने दिल्ली का तौर बतौर देखा तो मुर्शिदाबाद जहाँ उनके चाचा ईराज खाँ का सितारा बुलंदी पर था, उनसे मिलने गये। इस समय दिल्ली का कोई आदमी कहीं जाता था तो लोग ऐसा समझते थे, जैसे कोई परीज़ादा आ गया। बल्कि उसके उठने-बैठने या रहन-सहन के ढंग को शिष्टता और शालीनता का मापदंड समझते थे।''[3]

मध्य युग में मापदंडों का निर्माण तथा प्रसार कैसे होता था इसे संगीत क्षेत्र के भी एक उदाहरण से

समझा जा सकता है। दरबारों में संगीतज्ञों के दो वर्ग थे। एक 'हुजूरी' कहलाता था तथा दूसरा 'दरबारी'। ''संगीतज्ञों का वह वर्ग 'हुजूरी' कहलाता था जो विचारक और रचना-निपुण होता था। अपनी गुण संबंधी श्रेष्ठता, विचारशीलता और रचनाकुशलता के कारण यह वर्ग बादशाह के पास प्रतिदिन 'हाज़िर' रहता था। अकबरी दरबार के तानसेन और दामदास जैसे कलाकार इसी वर्ग में आते थे। मलारों और कन्हड़ों के नये-नये प्रकारों की सृष्टि इस वर्ग ने की। पुराने और प्रचलित रागों में नई-नई बंदिशें भी यह वर्ग करता था। ये अपनी रचनाओं पर आपसी विचार विमर्श भी करते थे और परिणामस्वरूप किसी नवीन राग या बंदिश का प्रामाणिक टकसाली या मुहरबंद रूप निश्चित होता था।

'हुजूरी वर्ग' के कलाकार इन टकसाली बंदिशों की शिक्षा कलाकारों के उस वर्ग को देते थे, जो 'दरबारी' कहलाता था। ये लोग 'दरबारे-आम' में उपस्थित होते थे। हुजूरियों की अपेक्षा यह वर्ग नीचा माना जाता था।

'हुजूरी वर्ग' के लोग कभी-कभी दरबार की मुँहलगी गायिकाओं को टकसाली बंदिशों की शिक्षा देते थे, वैसे गणिकाओं को प्रामाणिक बंदिशें सिखाना 'दरबारी' वर्ग का काम था।

''वे गवैये शहरी कहलाते थे, वो राजाश्रित नहीं थे। ये लोग 'दरबारी' वर्ग की टकसाली बंदिशों की शिक्षा लेते थे और अपनी शिष्य गायिकाओं को सिखाते थे। सच पूछा जाए, तो टकसाली बंदिशें ही 'शहरी' कलाकारों और गणिकाओं की निधि थीं। किसी भी गायिका के रूप और गुण की चर्चा दरबार तक पहुँच सकती थी, जिसके साथ 'शहरी' गायकों के भाग्य खुल सकते थे। दरबार में नियुक्ति उसी गायिका या 'शहरी' गायक की हो सकती थी, जिसके पास टकसाली बंदिशों का भण्डार हो।

''बादशाहों के गवर्नरों के दरबार में भी उन्हीं कलाकारों की कद्र होती थी, जिन्हें टकसाली बंदिशें याद हों, अतः हुजूरी वर्ग के द्वारा निर्मित बंदिशों का प्रचार पूरे देश में हो जाता था।''[4] (यह व्यवस्था मुहम्मद शाह रंगीला (1719-1748) तक कायम रही।) यह दरबारी शैली का शास्त्र बनना था। यूं तो यहाँ लोक और शास्त्र की कोटि किसी न किसी रूप में आरंभ से ही रही- 'नाट्यशास्त्र' में 'गान्धर्व' और 'गान' का विभाजन है जैसा कि प्रेमलता शर्मा ने लिखा है : ''गान्धर्व' की उत्पत्ति साम से है और 'गान' की गान्धर्व से। 'गान का फल मुख्य रूप से श्रोता को मिलता है।.... गान्धर्व में स्वर और ताल प्रधान है... गान में पद''[5] और आगे चलकर देशी और मार्गी का विभाजन हुआ लेकिन जैसा कि विख्यात समाजशास्त्री धुर्जटी प्रसाद मुकर्जी ने लिखा है कि ''मुस्लिम काल में देशी और मार्ग शैली के बीच विनिमय लगातार जारी रहा। नयी दरबारी शैली को प्राचीन शैली के समतुल्य ठहराकर रूढ़िवादी अध्येताओं के विरोध को निरस्त कर दिया गया। दरबारी शैली 'मार्ग' के साथ शास्त्रीय बन गई।''[6]

भारत में संगीत-चिंतन 'नाट्यशास्त्र' से लेकर 'संगीत रत्नाकर' (1231ई.) तक ग्राम मूर्च्छना पद्धति के आधार पर हुआ लेकिन पूरे मध्यकाल में इंद्रप्रस्थ मत स्थापित होते ही विवेचन के केंद्र में मुकाम पद्धति आ गई।

''मुस्लिम गुणी मन्द्र, मध्य और तार स्थानों में बारह बारह स्वतंत्र ध्वनियाँ मानते थे, इनमें कोई ध्वनि अन्य ध्वनि का शिकार नहीं मानी जाती थी। एक स्थान में बारह ध्वनियों या स्वरों की सत्ता मानना भारतीयों के लिए एक नई बात थी, क्योंकि वे तो प्रत्येक स्थान में सात-सात स्वर ही मानते थे। समझौता यूँ हुआ कि षड्ज और पंचम को अचल मानकर अवशिष्ट पाँच स्वरों के दो दो भेद मान लिए जाएँ। आज

'ठाठ' या मल शब्द से जो अर्थ ग्रहण करते हैं ईरानी लोगों के पास उसके लिए 'मुक़ाम' शब्द था।''[7]

यह एक बहुत बड़ा पैराडिग्मैटिक शिफ़्ट (मूलभूत परिवर्तन) था। संगीत के आचार्यों ने भारतीय संगीत पर मुसलमानों का यह सबसे बड़ा प्रभाव माना है।''[8] और संगीत की किंवदंतियों में इसे अमीर खुसरो की जीत और गोपाल नायक की हार के रूप में चिह्नित किया है।[9]

लेकिन संगीत के कुछ चिंतकों का यह भी कहना है कि ''यदि भारत में मुसलमान न भी आये होते, तो भी नैसर्गिक परिवर्तनशीलता ने भारतीय संगीत को प्रभावित किया होता। अतः यह सोचना ठीक नहीं होगा कि मुसलमानों द्वारा प्रवर्तित राग-वर्गीकरण की पद्धति से भारतीय स्वर-शास्त्र की आत्मा सर्वथा बदल गई। इतना अवश्य है कि मुसलमानों के योग से रागों के संकर का एक अभारतीय प्रकार भी भारत में प्रचलित हो गया, नये राग भी आये, हाँ भारतीय रस-शास्त्र से इस नवीन वर्गीकरण का कोई संबंध न रहा। परिणाम यह हुआ कि संयोग, वियोग, वैराग्य, भक्ति और वीरता इत्यादि के गीत प्रत्येक राग में गाये जाने लगे।''[10] कुछ ऐसी ही दुविधा मध्यकालीन स्थापत्य पर विचार करने वाले चिंतकों को भी होती है जब वे मुस्लिम स्थापत्य के नमूनों में (सिर्फ़ मुगल भवनों में नहीं बल्कि दिल्ली सल्तनत जैसे रूढ़िप्रिय काल के भवनों में भी), चक्र, पद्म, पूर्ण कलश, श्रीवत्स, स्वास्तिक, गवाक्ष, कीर्तिमुख, षट्कोण जैसे हिंदू अभिप्रायों की साधिकार उपस्थिति पाते हैं : क्या इनका प्रयोग सिर्फ़ अलंकरण के लिए हुआ है या इनके मूल प्रतीकात्मक आशयों की रचना भी लक्ष्य रहा।[11]

मोरलैंड ने मुस्लिम युग में दो प्रकार की औद्योगिक गतिविधियों की ओर संकेत किया था : एक राज्य संरक्षित कारखानों के इर्द-गिर्द केंद्रित थी और दूसरी व्यक्ति केंद्रित श्रम एवं निजी पूंजी पर आधारित थी।[12] सर थामस रो ने जहाँगीर के काल में तथा वर्नियर ने शाहजहाँ और औरंगजेब के काल में राज्य संरक्षित कारखानों में भारतीय शिल्पियों को काम करते देखा था। वर्नियर ने लिखा है कि ''शहर में बड़े-बड़े कई हाल जिसे कारखाना या शिल्पियों का वर्कशाप कह सकते हैं, दिखाई पड़ते हैं। कारखाने के किसी कक्ष में दस्तकार किसी उस्ताद में प्रशिक्षित हो रहा है तो दूसरे में सुनार, तीसरे में चित्रकार, चौथे में रंग रौगन वाले, पाँचवें में बढ़ई, दर्जी एवं मोची छठे में सिल्क, मलमल और ब्रोकेड वाले।

''शिल्पी सुबह से शाम तक यहाँ काम करते हैं- शांत एवं निश्चिंत तरीके से उनका समय गुज़रता है। जहाँ वे जन्म लेते हैं वहाँ की स्थिति सुधारने की उन्हें कतई परवाह नहीं होती। दस्तकार अपने बेटे को दस्तकार, सुनार अपने बेटे को सुनार और वैद्य अपने बेटे को वैद्य ही बनाना चाहता है; अपने व्यवसाय के बाहर कोई विवाह नहीं करता- न हिंदू न मुसलमान।''[13]

इस तरह के कारखाने देश के हर कोने में देखे जा सकते थे लेकिन बड़े कारखाने कश्मीर, लाहौर, आगरा, अहमदाबाद, फतेहपुर एवं बुरहानपुर में थे। अकबर के समय में पहली बार यह हुआ कि शिल्पियों की भर्ती उनकी जाति, धर्म, रंग, क्षेत्र के आधार पर नहीं की गई। इन्हीं कारखानों में अकबर का वह प्रसिद्ध अनुवाद केंद्र भी स्थित था जिसमें रामायण, महाभारत, सिंहासन बत्तीसी, भागवत का फ़ारसी अनुवाद तो किया ही गया, साथ ही साथ मुगल शैली में लघु चित्र बनाकर हस्तलिपि को सुंदर बनाने की एक अनोखी प्रविधि ईजाद की गई। भारतीय चित्रकला के इतिहास में मुगल शैली का उद्भव एक युगांतरकारी घटना माना जाता है। यह सही है कि हुमायूँ के साथ पर्सिया से आने वाले सफ़वी चित्रकार मीर सैय्यद अली और ख्वाजा अब्दुस समद ने, आनंद कुमारस्वामी के अनुसार तुर्कस्तान की

रीतियों को जारी रखा लेकिन जल्द ही इन्होंने अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर ली। महान शाह अब्बास के शासन में फ़ारसी कला यूँ भी पतन की ओर अग्रसर थी। एक कारण यह भी कि दो तिहाई मुगल चित्रकार हिंदू थे और मुगल बादशाहों की तरह मुगल कला भी जल्द ही भारतीय हो गई।14 अपने एक अन्य अध्ययन में कुमारस्वामी ने मुगल-कला को राजपूत कला के समानांतर रखते हुए इसे ठेठ दरबारी-कला कहा है। उनके शब्द हैं, ''मुगल-कला जहाँ एक दरबारी कला है वहीं राजपूत एक लोक-कला है।'' फिर आगे लिखते हैं कि राजपूत कला का भारत के शास्त्रीय कला से वही संबंध है जो संबंध यहाँ के भाखा काव्य का संस्कृत से है। राजपूत चित्रकला में भाखा काव्य की ही तरह लोक का शास्त्रीय परंपराओं से ऐसा संगम हुआ है कि यह संपूर्ण देश की संस्कृति-जिसमें राजा और किसान की समान हिस्सेदारी है, की वाहक बन गयी।[15] यहाँ हजारी प्रसाद द्विवेदी का स्मरण होना स्वाभाविक है जिन्होंने कई स्थलों पर लोक और शास्त्र के मिलन को लोक-व्याप्ति का आधार माना था।[16]

जैसा कि आरंभ में ही संकेत किया गया कि मध्यकाल में कलाकारों को संरक्षण दो शक्ति-केंद्रों से प्राप्त हुआ : पहला राज्य तथा दूसरा धार्मिक सम्प्रदाय। राज्य में दिल्ली आगरा-ग्वालियर दरबार तथा धार्मिक सम्प्रदायों में पुष्टि सम्प्रदाय, रामानंदी सम्प्रदाय एवं सूफ़ियों के तमाम सिलसिले। मध्यकाल में ये दोनों शक्ति केंद्र एक दूसरे से निरपेक्ष सत्ताएँ नहीं थीं बल्कि अधिकांशतः अपनी हैसियत एवं प्रभुत्व के लिए अन्योन्याश्रित थीं। इन दोनों शक्ति-केंद्रों में आपसी संघर्ष भी हुआ।

लेकिन लोक और शास्त्र के समन्वय का यह एक केंद्र भी बना। यह सच है राजदरबारों में तुर्की या फ़ारसी का बोलबाला था लेकिन सूफियों के ख़ानकाहों में लोक-भाषा प्रयुक्त होती थी। जायसी ने *अखरावट* में बड़े बड़े सूफ़ियों का हिन्दी में बोलना लिखा है। सूफ़ियों के ख़ानकाह भारतीय और अभारतीय गान-शैलियों का भी संगम-स्थल हो गये थे।[17] इतिहास में यह भी दर्ज है कि ग्वालियर की गान-कला के साथ अकबरी दरबार में ब्रजभाषा को प्रतिष्ठित कराने के पीछे सिर्फ मानसिंह तोमर का ही हाथ नहीं था जिसने एक लोक-भाषा को राजकीय प्रतिष्ठा दी थी बल्कि अकबर का 1577ई. में विट्ठलनाथ जी से आगरा में मिलना भी है।[18] यहाँ यह भी विचारणीय है कि संवेदना के धरातल पर धर्म और शृंगार तथा इश्क हकीकी और इश्क मजाज़ी के द्वैत को क्यों द्वैत नहीं माना गया? रसखान की पंक्ति है :

आनन्द अनुभव होत नहिं बिना प्रेम जग जान।
कै यह विषयानंद कै ब्रह्मानंद बखान।।

और बोधा भी कहते हैं

इस्क मजाज़ी में जहाँ इस्क हकीकी खूब

यह क्या संकेत करता है जब हम पाते हैं कि रीति आचार्य केशवदास विट्ठलनाथ की प्रशस्ति लिखते हैं और सौंदर्यवादी बिहारी 'सतसई' का मंगलाचरण 'जा तन की झांई परत, स्याम हरित दुति होय' से होता है और रीति शिरोमणि बेनी कवि की इच्छा है :

नित ऐसे स्नेह सों राधिका स्याम

हमारे हिये में सदा बिहरैं।

दूसरी तरफ सिद्ध सूफ़ी कवि जायसी *नख शिख, ऋतुविलाप और बारहमासा* लिख रहे हैं, सूरदास *साहित्य लहरी* तथा भक्त *नंददास रस मंजरी* और भक्त शिरोमणि तुलसीदास *बरवै रामायण* में सीता का सौंदर्य यूं बखान करते हैंः

सम सुबरन सुखमाकर सुखद न थोर।
सीय अंग सखि! कोमल कनक कठोर।

(हे सखी सुवर्ण यद्यपि रंग में, शोभा में और सुख देने में सीता के अंग से कम नहीं है, पर एक बड़ा अंतर है कि सीता का अंग कोमल है और सोना कठोर।)

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

(1) Percival Spear, Twilight of the Mughals, Munshiram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd, New Delhi, 1991, pp. 82-83 (2) उर्दू के प्रसिद्ध शायर अशरफ़ अली खाँ फ़ुगां, मृत्यु 1722ई. (3) मुहम्मद हुसैन आज़ाद, उर्दू काव्य की जीवन-धारा, अनु. प्रभुनारायण गौड़, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1979, पृष्ठ 112 (4) आचार्य बृहस्पति, संगीत, चिंतामणि, भाग 2, बृहस्पति पब्लिकेशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1987 में 'दरबार और संगीत', सुलोचना बृहस्पति, पृ. 229 (5) सहसरस, सम्पादकीय भूमिका, प्रेमलता शर्मा, संगीत अकादमी, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण, पृष्ठ 112-116 (6) D.P. Mukerjee, Indian Music, Kutub Publishers, Poona, 1945, P.12 (7) आचार्य वृहस्पति, मुसलमान और भारतीय संगीत, राजकमल प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1982, पृ.24 (8) आचार्य वृहस्पति, संगीत चिंतामणि, भाग-2 वही, पृ0 92-93 (9) वही, पृ.226 (10) सुलोचना यजुर्वेदी, 'मुसलमान और भारतीय संगीत', भूमिका,वही,पृ.11 (11) R.Nath, History of Decorative Art In Mugal Architechture, Motilal Banarsidas, N. Delhi, First Edition, 1976 (12) W.H. Moreland, India at the Death of Akbar, Atma Ram and Sons, Delhi, 1962. (13) Tripta Verma, Karkhana Under the Mughals, From Akbar to Aurangzeb, Pragati Publication, Delhi, First Published 1994, quoted on p 23. (14) Anand K. Swamy, Introduction to Indian Art, Munshiram Manoharlal, Delhi, 2nd Edition, Feb, 1969, pp. 76-77 (15) ibid, Rajput Painting, Motilal Banarasidas, New Delhi, 2nd Edition, 1969, p.2. (16) हिंदी साहित्य की भूमिका, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पुनर्मुद्रित 1969, पृ.101 (17) आचार्य वृहस्पति, मुसलमान और भारतीय संगीत, वही, पृ.23 (18) हरिहर निवास द्विवेदी, मध्यदेशीय भाषा, विद्यामंदिर प्रकाशन, ग्वालियर, प्रथम संस्करण,

अंग्रेज़ी–वर्चस्व : गांधी का हस्तक्षेप

शम्भुनाथ

फ़िलहाल गांधी (1869-1948) को समझना लगातार कठिन होता जा रहा है। भले उन पर नई किताबें, फ़िल्में और टिप्पणियां बेशुमार आई हों, आज उनके किसी विचार, आदर्श और पथ पर चलना मुश्किल है। इसलिए उन्हें पूजा भाव से याद किया जाता है या उनकी इन्सानी कमज़ोरियों को अधिक उभार कर दिखाया जाता है। दोनों का मक़सद एक है, अब हमें गांधी से कुछ लेना-देना नहीं है। पहले गांधीवाद गांधी को समझने के मार्ग में बाधक था, अब गांधी पर उत्तर-आधुनिक विमर्श बाधक हैं। वे अब प्रेरणा से अधिक बाजार की 'वस्तु' हैं।

गांधी ने एक ऐसे राष्ट्रीय आंदोलन को नेतृत्व दिया था, जिससे अंग्रेजों को अंततः पराजय मिली थी। वे ऐसा अपने अहिंसात्मक सत्याग्रह के बल पर कर सके थे। क्या इसके लिए उन्होंने अपनी स्व-अर्जित नैतिक ताक़त का इस्तेमाल किया या सब कुछ महज़ राजनीतिक कारीगरी थी? सलमान रुश्दी समझते हैं कि गांधी अंग्रेजों से बड़े राजनीतिक कारीगर थे, इसीलिए सफल हुए। कई बार आदमी जब खुद उच्च आदर्श तक पहुँच नहीं पाता, वह आदर्श को ही अपनी सीमित दृष्टि में परिसीमित कर देता है। गांधी पर पहले वैचारिक-आक्रमण होते थे, अब उन्हें चतुर इन्सान के रूप में दिखाकर अपना सभ्यतामूलक औचित्य साबित करने की कोशिश होती है।

निश्चय ही गांधी अंग्रेजी राज की सिर्फ़ विदाई नहीं चाहते थे। वे इस प्रक्रिया में पश्चिमीकरण का विकल्प देते हुए महान नैतिक मूल्यों के आधार पर एक भिन्न सभ्यता भी चाहते थे। वे एक वैकल्पिक सभ्यता प्रस्तावित कर रहे थे- जड़ीभूत प्राचीनता और औपनिवेशिक आधुनिकता दोनों से मुक्त। यही वह रास्ता था, जिससे भारत अपने को पुनर्उपलब्ध कर सकता था। यह विश्व को वर्चस्व, युद्ध और आर्थिक लूट से एक भिन्न संदेश दे सकता था। यही वजह है कि गांधी सत्ता को बड़ी बात नहीं मानते थे। वे बड़ी बात मानते थे राष्ट्र की स्वतंत्र अस्मिता, राष्ट्र के लोगों की बुनियादी ज़रूरतों और सच्चाई की तरफ़दारी को। उनकी धारणा थी कि राष्ट्र की अपनी पहचान और बौद्धिक उन्नति विदेशी भाषा अंग्रेज़ी के माध्यम से नहीं हो सकती और न ज़िंदगी की कृत्रिमताओं को सींचने से हो सकती है। उन्होंने 'यंग इंडिया' में लिखा, '' समाज में नासूर इतना फैल गया है कि बहुत से मामलों में, शिक्षा का एक ही अर्थ लगाया जाता है- अंग्रेज़ी का ज्ञान। मेरी नज़र में यह हमारी गुलामी और निम्नता का चिह्न है। मैं यह बर्दाश्त नहीं कर सकता कि भारतीय भाषाएं कुचल दी जाएं और उनको पोषण न मिले। ''(1921) वे सिर्फ़ हिंदी या

हिंदुस्तानी के बारे में नहीं सोचते। उनकी चिंता के केंद्र में देश की सभी भाषाएं हैं और भारतीय जीवन है।

पश्चिमीकरण में सदा से एक आकर्षण रहा है। उसका मक़सद रहा है एशिया को यूरोपीय अमेरिकी सभ्यता का अंग बनाना, भारत में सांस्कृतिक विविधता को मिटाकर एकरूपता लाना और राष्ट्रीय अस्मिताओं को जड़विहीन कर देना। महात्मा गांधी का भारत की प्रांतीय भाषाओं के विकास और उच्च से उच्च शिक्षा के लिए इन्हीं को माध्यम बनाने पर ज़ोर उनके साम्राज्यवाद-विरोधी राष्ट्रीय चिंतन के अनुरूप है। इसका संबंध भारत की सांस्कृतिक विविधता की रक्षा से है। भारतीय भाषाओं की उन्नति का सीधा अर्थ है, भारतीय संस्कृतियों का संरक्षण और विकास। भारतीय भाषाओं की उन्नति चाहने के पीछे दूसरा उद्देश्य यह है कि देश का विकास ज़मीनी स्तर से हो, यह महानगरों के रूप में एक ही तरह के चंद मीनार खड़े कर लेने जैसा न हो। आज 'इन्डेंजर्ड लैंग्वेजेज़' की चर्चा होती है। गाँधी अंग्रेज़ी से भारतीय भाषाओं पर खतरा देख रहे थे। वे चाहते थे कि अंग्रेजी-वर्चस्व को ठुकरा कर लोग जिस भाषा में सांस लेते हैं, उसमें पढ़े-लिखें और सोचें। तीसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि गाँधी अंग्रेज़ी-वर्चस्व के साथ नैतिक क्षय अनिवार्य रुप से जुड़ा देखते थे। उन्हें लगता था, अंग्रेज़ी वर्चस्व से मुक्त पर्यावरण में ही नैतिक मूल्यों की रक्षा संभव है।

यह सोचने की बात है कि आधुनिकता अंग्रेज़ी वर्चस्व के समर्थन में निहित है या भारत की प्रांतीय भाषाओं की उन्नति में। गाँधी आधुनिकता की आलोचक नहीं थे, जैसा कि बार-बार कहा जाता है। वे उस औपनिवेशिक आधुनिकता के आलोचक थे, जो समाज में धनी-गरीब एवं गाँव-शहर का विभाजन चौड़ा करती जा रही थी। वे दरअसल पश्चिम-भक्तों द्वारा 'आधुनिकता के आलोचक' कहे गए, जबकि वे भारतीय जड़ों वाली आधुनिकता, एक वैकल्पिक आधुनिकता की दिशा में सोच रहे थे। वे ऐसी आधुनिकता चाहते थे, जिसमें उपनिवेशवाद से टकराने और आम जनता के बगल मे खड़े होने का दम-खम हो। वे अपने समय के प्रचलित औपनिवेशिक सोच के जितने प्रबल विरोधी थे, रुढ़िवादी सामंती सोच के भी उतने ही प्रबल विरोधी थे। वे पीछे-देखू सनकी न थे, उनके कुछ प्रयोगों में भले असंगति हो।

गांधी का मत था, ''भारत को अपनी ही जलवायु, दृश्यावली और अपने ही साहित्य से पनपना है, भले ये इंग्लैंड की जलवायु, दृश्यावली और उसके साहित्य से कमतर हों। हमें और हमारी संतानों को अपनी विरासत पर ही अपनी प्रगति का महल खड़ा करना है। यदि हम उधार पर जिएंगे, हम खुद ही अपने को निर्बल कर लेंगे।'' (*हरिजन* 1938)। हम जानते हैं कि ऐसा हो नहीं पाया। भारतीय सामाजिक वातावरण और साहित्य का पश्चिमीकरण होता गया। भारत की संस्कृतियों और विकासों को समझने के लिए अंग्रेजी भाषा ही मुख्य संदर्भ बन गई, पश्चिम ही पूरी तरह कसौटी बन गया। खासकर सामाजिक और सामुदायिक भिन्नता की हिंसक चपेट में आकर भारत अमेरिकी पैटर्न के भौतिक विकास के बावजूद निर्बल रह गया। अब स्पष्ट हो चुका है कि उधार की चमक दो दिनों की होती है। यह आज के भौतिक और बौद्धिक विकासों के अंदरूनी खोखलेपन को देखते हुए स्पष्ट है।

भारतीय भाषाओं को किनारे करके अंग्रेजी माध्यम से दी जानेवाली शिक्षा से भारत की भीतर ही भीतर कितनी क्षति हो रही है, यह गांधी ने देख लिया था। यह सिर्फ़ भारतीय भाषाओं की क्षति नहीं थी, भारत के ज्ञान, ऐतिहासिक स्मृतियों और नैतिक आत्मा की क्षति भी थी। वे मानते हैं, भारतीय भाषाओं को किनारे करके अंग्रेजी की प्रतिष्ठा एक भयावह ट्रैजडी है। अंग्रेजी सिर्फ़ स्मार्ट नहीं बना रही है, यह

पीढ़ी-दर-पीढ़ी बच्चों को ऐसा रट्टू तोता और अनुकरणकर्ता बना रही है, जो अपने ढंग से कुछ सोच नहीं सकते। यह भी एक बड़ी वास्तविकता है कि अंग्रेजी की राह से विकसित आदमी अपने राष्ट्रीय समुदाय से कट जाता है, भारतीय भावना से विच्छिन्न हो जाता है। वह सामान्यतः खुदगर्ज हो जाता है और अपने स्वार्थ के लिए आवश्यकतानुसार अपने को कभी क्षेत्रीय, कभी जातिवादी और कभी धार्मिक पहचान से जोड़ता रहता है। वह आम पब्लिक की दुर्दशा के बारे में ज़रा भी नहीं सोचता।

19वीं सदी में जो अंग्रेज़ी आ रही थी, वह फ्रेंच क्रांति के बाद के तर्क-वितर्क का एक उच्च संसार लेकर आ रही थी। अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग तब अंग्रेज़ी पढ़-लिखकर अपनी-अपनी राष्ट्रीय भाषा की उन्नति में लगते थे और राष्ट्रीय जनजागरण में शामिल होते थे। गांधी के समय में हालात बदलने लगे थे। उनके समय की अंग्रेजी लालच, छिछलेपन और उपभोक्तावाद का एक कुत्सित संसार लेकर आ रही थी। यह आमतौर पर पढ़े-लिखे व्यक्ति को अपनी मातृभाषा और आम जन से विच्छिन्न कर रही थी। आज का दौर ज़्यादा मुश्किल भरा है। अंग्रेजी के सामने आज किसी दूसरी भाषा के प्रचार-प्रसार और उन्नति के बारे में सोचना कठिन है। इसलिए आज हिन्दी सहित सभी भारतीय या एशियाई भाषाओं, यहाँ तक कि अंग्रेजी से इतर यूरोपीय भाषाओं में भी अपने अस्तित्व को लेकर बेचैनी पैदा हो रही है।

पूँजीवाद की एक बड़ी सफलता यह है कि इसने आरंभ से ही देश की शिक्षा, प्रशासन और राजनीति में अंग्रेज़ी-वर्चस्व की स्थिति पैदा करके पश्चिमीकरण का एक ऐसा दरवाज़ा खोल दिया, जिससे वहाँ की सतही चीज़ें आने लगीं। वे जूठन थीं। गांधी किसी भी कीमत पर भारतीय आदमी के राष्ट्रीय आत्मविश्वास को बचाना चाहते थे, क्योंकि इसके बिना उसकी नैतिक शक्ति को बचाना मुश्किल था, राष्ट्रीय अखंडता को भी मज़बूत रखना मुश्किल था।

यह अधिक स्पष्ट करने की ज़रूरत नहीं है कि पश्चिमी आधुनिकता के असर में छोटे-छोटे स्वार्थों के उदय से भारतीय राष्ट्र बच नहीं सकता, खासकर जहाँ जातीय, धार्मिक और भाषायी बहुलता है। वस्तुतः एक व्यापक राष्ट्रीय सोच की आधारशिला पर ही भारतीय पुनर्निर्माण और विकास संभव है।

अभी ज़्यादा दशक नहीं बीते। हम अतीत में झांककर देख सकते हैं कि दुनिया में पहली बार अहिंसा एक व्यापक स्वाधीनता संग्राम का हथियार कैसे बनी। नैतिकता लक्ष्य और साधन दोनों एक साथ कैसे बनी। एक समय जनता के हृदय में उच्चतर आदर्शों का ज्वार था। वह सारा कुछ नकली आदर्शवाद न था। राष्ट्रीय आंदोलनों के उभार के साथ भारत की राष्ट्रीय भाषाओं को लेकर प्रतिबद्धता बढ़रही थी। उस ज़माने के जितने लोकप्रिय और बड़े नेता थे, वे हिंदी को आशा से देखते थे। वे नैतिक रेखा पर भी ऊंचे थे। वे आज़ादी के बाद जब तक ज़िन्दा थे, आदर से देखे जाते थे। साधारणतः आदमी भी, भले उसके पास धन-दौलत न हो, उसके मन में अपनी मातृभाषा को लेकर हीनताग्रंथि नहीं थी। वह अपनी भाषा की वजह से अपनी भीतर ताकत महसूस करता था। कहना न होगा कि गांधी के लिए राजनीति भी वस्तुतः नैतिकता का अस्त्र थी। यह कोई बनी-बनाई नैतिकता न थी। वे अपनी विकासशील नैतिकता तक राजनीतिक संघर्षों के रास्ते से पहुँचे थे। वह अपने नैतिक विवेक की प्रेरणा से जो करते गए, उससे ही उनकी नैतिकता की रेखा बनी।

गांधी कहते थे, ''अंग्रेजी शिक्षा ने हमारे दिमागों को कंगाल बना दिया है, कमज़ोर कर दिया है और इन्हें साहसी नागरिकता के लिए कभी तैयार नहीं किया।'' (*हरिजन*, 1947)। हम गौर कर सकते

हैं कि अंग्रेजी के बारे में गांधी के विचार उनके जीवन के आखिरी वर्ष में उत्तरोत्तर कठोर होते गए। यह उनका सिरफिरापन न था। ऊपर के कथन में 'साहसी नागरिकता' एक महत्वपूर्ण अवधारणा है।

गांधी जब साहसी नागरिकता की बात करते हैं, उनके सामने सामंतवाद-साम्राज्यवाद का विरोध करने के साहस से भरा एक तेजस्वी नागरिक होता है। हम भारत के नागरिक हैं। क्या हममें ऐसी साहसी नागरिकता बची है कि सामंतवाद और साम्राज्यवाद दोनों को समझ सकें और चुनौती दे सकें? क्या हममें संकीर्णताओं और अंधानुकरणों से ऊपर उठने की शक्ति अब तक बची है? गांधी को लगा था, अंग्रेजी इस तरह का साहस आने में एक बड़ी बाधा है। वह कहते थे, ''मेरा सुविचारित मत है कि अंग्रेजी की शिक्षा जिस रूप में हमारे यहां दी गई है, उसने अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीयों का दुर्बलीकरण किया है।'' गांधी क्यों नहीं दुर्बल हुए, वे खुद अंग्रेजी शिक्षा से गुज़रे थे। वे दक्षिण अफ्रीका में रहे हों या भारत में, उनके लिए सबसे बड़ी पाठशाला थी जनता। उनके अंदर साहसी नागरिकता थी, तभी अंग्रेजी के अच्छे जानकार होकर भी वे अंग्रेजी-वर्चस्व से लड़ सके। उन्होंने पश्चिम के मानकों से भारत को नहीं देखा।

22-23 अक्टूबर 1937 को वर्धा में गांधी की अध्यक्षता में एक अखिल भारतीय शिक्षा सम्मेलन हुआ था। इसमें प्रस्ताव पारित हुआ कि मातृभाषा ही शिक्षा का माध्यम हो। हम जानते हैं कि हिंदी माध्यम के अधिकांश बड़े विद्यालय तीस और चालीस के दशक में इसी प्रेरणा से खुले थे। दायित्वबोध के ह्रास की वजह से सत्तर के दशक से उनके शिक्षण-स्तर में गिरावट आनी शुरू हुई। अब अंग्रेजी माध्यम के अधिकांश निजी स्कूलों के 'निम्न वेतन-उच्च शिक्षण स्तर' की तुलना में सरकारी पैसे से चलने वाले हिन्दी स्कूलों के 'उच्च वेतन-निम्न शिक्षण स्तर' को देखकर किसी को भी चिंता हो सकती है। हिन्दी ही नहीं, भारतीय भाषा-माध्यम के स्कूलों में आमतौर पर निर्लज्ज दायित्वहीनता लगातार बढ़ी है। हिन्दी समाज में अंग्रेजी स्कूलों का आकर्षण बढ़ने की एक मुख्य वजह यह है कि हिन्दी माध्यम के स्कूल-शिक्षक अच्छा वेतन पाकर भी अपना दायित्व निर्वाह नहीं करते। वे एक क्षण के लिए भी नहीं सोचते कि वे अपनी मातृभाषा में पढ़ने के इच्छुक विद्यार्थियों के अलावा अपनी भाषा और समाज के साथ भी कितना बड़ा अन्याय कर रहे हैं।

गांधी ने दृढ़ता से कहा था, ''मुझे इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि जिन लोगों के हाथों में युवाओं की शिक्षा है, वे यदि निर्णय लेना चाहेंगे तो पाएंगे कि मातृभाषा मनुष्य के मानसिक विकास के लिए उसी प्रकार स्वाभाविक है, जिस प्रकार मां का दूध शिशु के विकास के लिए है।'' (शिक्षा : महात्मा गांधी के विचार)। वे चाहते थे कि भारत के बच्चों को भारतीय भाषाओं में ही अच्छी से अच्छी और ऊंची से ऊंची शिक्षा दी जाये। उन्हें लगा था कि जिस तरह अंग्रेज इस देश में बिना अधिकार के हैं, अंग्रेजी भी बिना अधिकार के है, जबकि अब अंग्रेजी मानो पूरे दर्प और अधिकार से है।

एक बार गांधी बनारस हिंदू विश्वविद्यालय गए। उन्होंने वहाँ के प्रवेशद्वार पर लक्षित किया कि 'बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी' अंग्रेजी में लिखा है और इसने तीन-चौथाई जगह घेर रखी है। यही नाम हिन्दी में इतने छोटे हरफ़ों में लिखा था कि पढ़ा नहीं गया। इसे अंग्रेजी साम्राज्यवाद का सबूत मानते हुए गांधी ने अपने भाषण में कहा, ''अंग्रेजों को हम गालियां देते हैं कि उन्होंने हिंदुस्तान को गुलाम बना रखा है, लेकिन अंग्रेजी के तो हम खुद गुलाम बन गए हैं। आज कोई यह कहता है कि मैं अंग्रेजों की तरह अंग्रेजी बोल लेता हूँ तो हम मारे खुशी के फूले नहीं समाते। इसमें बढ़कर दयनीय गुलामी क्या हो सकती है?....

हमारे विद्यार्थियों पर अंग्रेजी जुबान का बोझ इतना पड़ जाता है कि उन्हें दूसरी तरफ़ सिर उठाकर देखने की फ़ुर्सत नहीं मिलती। यही वजह है कि उन्हें दरअसल जो सीखना चाहिए, उसे सीख नहीं पाते।'' उस समय बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में सर राधाकृष्णन थे, उन्होंने ही गांधी को बुलाया था।

इधर गांधी पर लिखी किताबों में यह दिखाया जाता है कि उनके कितनी स्त्रियों से यौन संबंध थे, प्रेम की वजह से किस तरह एक समय दांपत्य जीवन चरमरा गया था, किस तरह उनके एक बेटे ने इस्लाम कबूल कर लिया और पागल हो गया। ऐसी सभी चीजों का मकसद वस्तुतः गांधी की उस मूल नैतिक ताकत पर चोट करना होता है, जिसकी वजह से वह बर्बर अंग्रेजी सत्ता से निर्भय टकराते थे और उसे हिला देते थे। इधर की घटना है, एक प्रसिद्ध विदेशी प्रकाशन घराने से एक करोड़ की राशि लेकर जो सज्जन गांधी पर एक किताब लिख रहे हैं, वे मानते हैं कि यदि मैकाले नहीं होता, भारतीय भाषाओं का आधुनिक विकास नहीं हो पाता। अंग्रेजी नहीं होती तो भारत पिछड़ जाता। वह सज्जन हैं बैंगलोर में रहने वाले समाज विज्ञानी रामचंद्र गुहा। सोचा जा सकता है कि आखिरकार उन्हीं से यह किताब क्यों लिखाई जा रही है, उनकी अंग्रेजी मानसिकता से गांधी-विचारों का कितना तालमेल बैठेगा। उनकी किताब में गांधी का कैसा चित्र उकेरा जाएगा। यह भी संभव है कि गांधी पर पेशेवर ढंग से काम हो। आज बाज़ार में अपने मतलब का काम किसी भी बुद्धिजीवी से कराया जा सकता है।

गांधी सिर्फ़ अंग्रेजों की विदाई या निरी आज़ादी नहीं चाहते थे। वे अतीत में लौटे बिना पश्चिमीकरण का भारतीय विकल्प देना चाहते थे। यह अलग बात है कि उनके पास इसका आधा-अधूरा नक्शा था और जो था वह नेहरू को पूर्णतः अव्यावहारिक लगा। गांधी अपने समय में ही प्राचीन या बीता इतिहास हो चुके थे। एक विचारधारा के बनने में लंबा समय लगता है और काफी रक्त-पसीना बहता है। वह टुकड़े-टुकड़े भी धीरे धीरे होती है।

निश्चय ही यह गांधी की सीमा थी कि वे बाहरी दुनिया की बहुत सारी विषमताओं को दूर किए बिना सिर्फ राष्ट्रवाद के बल पर समाज का नैतिक रूपांतरण संपन्न कर देना चाहते थे। लेकिन उनके संघर्ष से यह चेतावनी निकलती है कि समाज का नैतिक रूपांतरण किए बिना बाहरी दुनिया की विषमताएं कुछ समय के लिए भले दूर हो जाएं, पर वे फिर लौट आएंगी और हर विकास खोखला होगा। बाहर के साथ भीतर भी एक क्रांति जरूरी है।

गांधी की नैतिकता सामंती किस्म की नहीं थी। उसके मुख्य स्रोत थे स्वतंत्रता, बंधुत्व और बराबरी। उसके चरम मूल्य थे अहिंसा, ईमानदारी, त्याग धार्मिक सहिष्णुता और सत्याग्रह, क्योंकि इन मूल्यों के बिना न साम्राज्यवाद से टक्कर ले पाना संभव था और न हर आंख से आंसू पोंछना। गांधी में जितनी ऊँची नैतिक शक्ति थी और वे जितने स्वार्थहीन थे, वस्तुतः भारतीय समाज के व्यापक पश्चिमीकरण ने ही उनके इस पथ पर चलना आम आदमी के लिए मुश्किल कर दिया। उनके आदर्शों को सबसे पहले उसी पश्चिमोन्मुख पूंजीपति वर्ग ने रौंदा, जिसके प्रति वे उदार थे। ऊपर से अंतर्राष्ट्रीय पूँजी के हमलों ने हर महान को विदूषक और हर विदूषक को महान बना दिया। वह नैतिक गूंज मिटती गई, गांधी के खो जाने की यही कहानी है।

गांधी सत्याग्रही थे। 21वीं सदी में, जब सामुदायिक अस्मिता की कट्टरवादी राजनीति का बोलबाला है, हर समुदाय का अपना अलग सत्य है। इसलिए सभी का अपना-अपना सत्याग्रह है। हमने

राष्ट्रीय आंदोलनों के उस ऐतिहासिक युग में गांधी को हमेशा दौड़ते देखा है। कभी पेरियार से जाकर बात करते, कभी अंबेडकर से बात करते, कभी रवींद्रनाथ से बात करते, कभी जिन्ना को समझाते-मनाते। कभी दक्षिण भारत जाकर हिन्दी सीखने की अपील करते। पेरियार और गांधी के बीच ब्राह्मण-दलित मुद्दे पर बात हो रही थी। गांधी कुछ समय बाद ही लेटकर अपना सिर दबाने लगे। जिन्ना ने उनको कितना नहीं छकाया था। गांधी को सांप्रदायिक फूट, जाति-विभेद, सामाजिक हाशिए की आवाज़ों और पश्चिमी सभ्यता के आकर्षणों के बीच से भारतीय राष्ट्रीयता के लिए रास्ता निकालना था। सभी के सत्य अलग-अलग हुए जा रहे थे। बंटे हुए सत्य के साथ साम्राज्यवाद का मुकाबला संभव नहीं था। इसलिए गांधी को सबसे टकराना और सबको जोड़ना पड़ा।

औपनिवेशिक स्थितियों में साझा सत्य का आग्रह ज़रूरी है, भले यह मार्ग कठिन हो। इसके लिए गांधी ने अतीत और पश्चिम दोनों से सकारात्मक दूरी रखी। आज हमारा एक पैर अतीत में और दूसरा पश्चिम में फंसा है। कैसे समझ पाएंगे गांधी को? गांधी उपर्युक्त वजहों से ही नैतिक के साथ आधुनिक भी हो सके। वे राजनीतिक होने के साथ अराजनीतिक और मानवीय भी हो सके। वे मानते थे, 'मुझे संपूर्ण मानवता को अपने प्रयोग में भागीदार बनाना चाहिए।' उनके राष्ट्रवाद और मानवतावाद में दूरी नहीं थी। वह एक समावेशी राष्ट्रवाद था, पश्चिमी शैली का बहिष्कारपरक राष्ट्रवाद नहीं। उनका धर्म एक रहस्यहीन और चमत्कारविहीन लोक है। वे हिन्दी या हिन्दुस्तानी के उत्कर्ष के साथ प्रांतीय भाषाओं के उत्कर्ष और इन भाषाओं के आधार पर राज्य के जातीय पुनर्गठन के समर्थक थे। वे अपने ज़माने की एक महान सिंथिसिस थे। वहाँ दरारें ज़रूर थीं। पर इन दरारों के साथ इतिहास करवट बदल रहा था।

गांधी अंग्रेजी वर्चस्व के विरोधी थे, अंग्रेजी पढ़ने के नहीं। वे अंग्रेजी को अंतर्राष्ट्रीय भाषा मानते थे, पर राष्ट्रभाषा नहीं। यह भी उल्लेखनीय है कि वे पश्चिमी सभ्यता के आलोचक होते हुए भी पश्चिम-विरोधी न थे। वह एक जगह कहते हैं, ''मैं अंग्रेज-विरोधी नहीं हूँ। मैं ब्रिटेन-विरोधी नहीं हूँ। मैं किसी सरकार के विरोध में भी नहीं हूँ। पर मैं असत्य के विरोध में हूँ, छल-कपट के विरोध में हूँ और अन्याय के विरोध में हूँ। जब तक सरकार अन्याय पर आरूढ़है, तब तक वह मुझे अपना शत्रु, कठोर शत्रु मान सकती है।'' *(महात्मा गांधी के विचार)*। गांधी चर्चिल जैसे व्यक्तियों की वजह से पूरे पश्चिम को घृणा से नहीं देखते थे। पश्चिम में दो पश्चिम थे, जिस तरह पूरब में दो पूरब। गांधी ने इस धारणा का खंडन किया कि उनके राष्ट्रीय आंदोलन का लक्ष्य भारत और पश्चिम के बीच दीवार खड़ी करना है। उनकी राष्ट्रवाद की धारणा बहिष्कारपरक, आक्रामक और विध्वंसक न थी। उनकी प्रसिद्ध उक्ति है, ''मैं नहीं चाहता कि मेरे घर के सब ओर दीवारें हों और मेरी खिड़कियां बंद हों। मैं चाहता हूँ, मेरे घर में सभी देशों की संस्कृतियों की हवाएं यथासंभव स्वतंत्रता से आएं। लेकिन मैं यह नहीं चाहता कि उनमें से किसी के द्वारा भी मेरे पैर उखड़ जाएं।'' उन्होंने 'पश्चिम' की जगह 'सभी देशों की संस्कृतियां' कहा। हाल का विकास यह है कि दुनिया में अमेरिका का आर्थिक और सैनिक वर्चस्व बढ़गया है। उसकी सांस्कृतिक आंधी में भारत के दरवाजे-खिड़कियां उड़ते जा रहे हैं।

देश के सुधारवादी और राष्ट्रीय आंदोलनों के दौर में हिन्दी एक नई भूमिका लेकर खड़ी हो रही थी। मध्यवर्गीय शिक्षित समुदाय अंग्रेजी की ओर आकर्षित था, पर अंग्रेजी तब तक भारतीय भाषाओं के इंद्रधनुषी जातीय उभारों के आगे दबी हुई थी। 19वीं सदी से ही हिंदू पुनरुत्थानवाद राष्ट्रवाद जागरण का

पीछा कर रहा था, पर यह भी राष्ट्रीय आंदोलन के ताप के आगे फीका था। हिन्दी को अपना रास्ता औपनिवेशिक राष्ट्रवाद और हिंदू और क्षेत्रीय राष्ट्रवाद से टकराते हुए निकालना था। गांधी जिस तेजस्विता से अंग्रेजी राज से टकरा रहे थे, सामाजिक रूढ़ियों को चुनौती दे रहे थे, वैकल्पिक आधुनिकता का चिंतन दे रहे थे, दलितों के प्रति सामाजिक रुख बदल देने पर उतारू थे और सांप्रदायिकता की जहाँ-तहाँ भड़की आग बुझाने में जान तक झोंक देते थे, उसी गंभीरता से उन्होंने हिन्दी और हिंदुस्तानी के प्रचार का काम भी किया। उन्होंने 19वीं सदी के हिन्दी नवजागरण को एक व्यापक भारतीय चेहरा देने के लिए किए जा रहे प्रयत्नों को पर्याप्त राजनीतिक ऊर्जा दी।

गांधी चाहते थे हिंदी को पूरे भारत की भाषा बनाना, इसे उत्तर भारत की संकीर्ण परिधि से बाहर निकालना। वे कहते थे, ''यदि हिन्दी भाषा की भूमि सिर्फ उत्तर प्रांत होगी तो साहित्य का प्रदेश भी संकुचित होगा। हिन्दी भाषा राष्ट्रीय भाषा होगी तो साहित्य का विस्तार भी राष्ट्रीय होगा।'' वे बांग्ला, गुजराती मराठी, तमिल आदि से एक विशिष्ट भूमिका में हिन्दी को पहुंचाना चाहते थे। वे कुछ ज्यादा सोच रहे थे, फिर भी उन्होंने बहुत कुछ कर दिखाया। उन्होंने सर्वप्रथम दक्षिण भारत में हिन्दी का प्रचार शुरू कराया। 1918 में मद्रास के गोखले हाल में एनीबेसेंट की अध्यक्षता में हिन्दी प्रचार शुरू हुआ। दक्षिण हिन्दी प्रचार सभा की स्थापना की गई। हिन्दी प्रचार एक राष्ट्रीय व्रत हो गया, जिसमें दक्षिण के नौजवान बड़ी संख्या में कूद पड़े। वह 1965 के प्रचंड हिन्दी-विरोधी माहौल से एक अलग दृश्य था।

आज हम समझ नहीं सकते कि उस ज़माने में भी हिन्दी का प्रचार कितना मुश्किल था। जिन प्रांतों की भाषा हिन्दी थी, वहाँ भी हिन्दी की उन्नति जैसी होनी चाहिए नहीं हो रही थी। हिन्दी ही नहीं, सभी भारतीय भाषाओं की दशा शोचनीय थी। गांधी जी के अनुसार, ''अंग्रेजी आज इसलिए पढ़ी जा रही है कि उसका व्यावसायिक एवं राजनीतिक महत्व है। हमारे बच्चे अंग्रेजी यह सोचकर पढ़ते हैं कि अंग्रेजी पढ़े बिना उन्हें नौकरियां नहीं मिलेंगी। लड़कियों को अंग्रेजी इसलिए पढ़ाई जाती है कि इससे उनकी शादी में सहूलियत होगी। मुझे ऐसे परिवारों की जानकारी है, जहाँ अंग्रेजी मातृभाषा बताई जा रही है।... ये सारी बातें मेरी नजर में गुलामी और घोर पतन के चिह्न हैं। मैं यह बात बर्दाश्त नहीं कर सकता कि देशी भाषाएं इस तरह रौंदी जाएं।'' मैकाले के नए प्रशंसकों को गांधी के इस कथन पर गौर करना चाहिए, ''मैकाले ने भारत में जिस शिक्षा की नींव रखी, उसने सबको गुलाम बना दिया है। अगर स्वराज्य अंग्रेजी बोलने वाले भारतीय लोगों को और उन्हीं के लिए है तो निःसंदेह अंग्रेजी ही राष्ट्रभाषा होगी। लेकिन अगर स्वराज्य करोड़ों भूखों मरने वालों, निरक्षरों और दलितों-अंत्यजों का हो और इन सबके लिए होनेवाला हो तो हिंदी ही एकमात्र राष्ट्रभाषा हो सकती है।'' आज़ादी के बाद राष्ट्रभाषा की अवधारणा का टूटना स्वाभाविक था, क्योंकि भारतीय राष्ट्रीयता धीरे-धीरे भावना से अधिक एक अवधारणा में सिमट गई। उस पर औपनिवेशिक राष्ट्रवाद हावी हो गया। निश्चय ही हमारे दिल को देश के उन लोगों की दिमागी गुलामी कचोटती है, जो अपने ही घर में अपनी भारतीय भाषा का तिल-तिल कर क्षय चुपचाप देखते हैं, अपनी भाषा का ही नहीं अपनी संस्कृति का भी।

गांधी जब हिन्दी कहते थे, उनका आशय 'हिन्दुस्तानी' होता था, आम आदमी की समझ में आनेवाली हिन्दी। यह हिन्दी और उर्दू दोनों के प्रति उस ज़माने का एक बदलता हुआ रुख था। इसका उद्देश्य था एक साझे समाज की साझी भाषा बनाना, ताकि हिन्दू-मुसलमान के सांप्रदायिक विभाजन के मंसूबों पर पानी फेरा जा सके। यह औपनिवेशिक और हिन्दू राष्ट्रवाद से टकराए बिना संभव न था।

औपनिवेशिक राष्ट्रवादी व्यक्ति राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम में शामिल होने के बावजूद बुनियादी रूप से पश्चिमीकरण और अंग्रेज़ी की तरफ़ आकर्षित थे, जबकि हिन्दू राष्ट्रवादी पुनरुत्थानवाद और संस्कृतिनिष्ठ हिन्दी की तरफ़ झुके थे।

इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है कि 'हिन्दुस्तानी' सर्वप्रथम अंग्रेजों का आविष्कार थी। वे इसे भारत की संपर्क भाषा के रूप में देखते थे। गिलक्राइस्ट द्वारा प्रस्तावित 'हिन्दुस्तानी' मुख्यतः अरबी-फ़ारसी मिश्रित उर्दू और गौणतः खड़ी बोली हिन्दी थी। अंग्रेज कलकत्ता की 'ओरियंटल सेमिनरी' में जो 'हिन्दुस्तानी' पढ़ते थे, वह अरबी-फ़ारसी मिश्रित उर्दू थी। फ़ोर्ट विलियम कालेज में भी 1813 तक इसी की परीक्षा होती थी, हालांकि अंग्रेज संपूर्ण भारतीय जीवन का अध्ययन करते थे।

1837 में 'हिन्दुस्तानी' को ईस्ट इंडिया कंपनी ने संविधान में परिवर्तन करके दरबारी और सरकारी भाषा का दर्जा दिया था। यह पहले फ़ारसी और नागरी दोनों लिपियों में लिखी जा रही थी, पर जल्दी ही सिर्फ फ़ारसी लिपि में सीमित हो गई थी। उस समय हिन्दू और मुसलमान एलीट समान रूप से फ़ारसी लिपि में लिखी जा रही उर्दू-उन्मुख 'हिन्दुस्तानी' का इस्तेमाल करता था। गौर करने की बात है कि हिन्दी-उन्मुख हिन्दुस्तानी या नागरी लिपि में लिखी गईं खड़ी बोली हिन्दी को प्रोत्साहन नहीं मिला, बल्कि अंग्रेजों द्वारा इसे 'हिन्दुस्तानी' की गंवारू शैली कहा गया। इस ओर भी ध्यान जाना चाहिए कि अंग्रेजों ने 'प्रेम सागर' (लल्लू लाल) को हिंदुओं की भाषा का आदर्श रूप घोषित किया था। 'प्रेम सागर' की भाषा को भाषा ही नहीं, संपर्क भाषा की एक शैली भर माना गया था। स्पष्ट है कि हिन्दी को हिन्दुत्ववाद से जोड़ने की नीति वस्तुतः अंग्रेजों की थी। उसे आगे भी लगातार दबाकर रखने की कोशिशें चलीं। अंग्रेजों ने फ़ारसी लिपि में लिखी जा रही उर्दू-उन्मुख 'हिन्दुस्तानी' को प्रभुत्व की भाषा बना रखा था। औपनिवेशिक राष्ट्रवाद के असर में शिवप्रसाद सितारेहिंद चाहते थे, यह उर्दू-उन्मुख 'हिन्दुस्तानी' ही नागरी लिपि में हिन्दी बने। अंग्रेज हिन्दी के पक्ष में देर से सजग हुए। उन्होंने हिन्दी को ऐसे नाजुक वक्त में ऊपर उठाया, जब उन्हें मुसलमानों को उत्तेजित करके गृह कलह खड़ा करने की ज़रूरत महसूस हुई। मैकडोनल 1900 में दंगों के समय हिन्दी को जब अदालत में ले आए, तब उनका मुख्य उद्देश्य यह था कि हिन्दू और मुसलमान लड़ें। मुसलमान यह महसूस करें कि उनका विशेषाधिकार छिन गया।

गांधी-प्रेमचन्द के दौर में 'हिन्दुस्तानी' एक औपनिवेशिक नहीं, राष्ट्रीय अवधारणा के रूप में सामने आई। यह उर्दू और हिन्दी के मिले-जुले रूप की परिकल्पना से कुछ अधिक थी। यह भाषा अभी सुस्थिर नहीं हुई थी। यह प्रचलित भाषा से अधिक अभी एक उच्च स्वप्न थी। गांधी की दृष्टि में 'हिन्दुस्तानी' के कई चेहरे थे, ''किसी बंगाली या दक्षिण भारतीय के लिए जो हिन्दुस्तानी बोली जाएगी, उसमें संस्कृत मूल के शब्द ज्यादा होंगे। वही वक्तव्य जब पंजाब में दिया जाएगा तो उसमें अरबी-फ़ारसी के शब्द शामिल होंगे।'' दरअसल हिन्दी और उर्दू दोनों को अधिकाधिक गतिशील और मिश्रित होकर हिन्दुस्तान की जनता की एक सामान्य कौमी भाषा होना था। इसके अलावा, यह इन दोनों भाषाओं में अंतःशत्रुता की जगह मेल-जोल, आवाजाही बढ़ाने का मामला भी था। इससे ऐतिहासिक स्मृतियों में अधिक से अधिक साझेदारी का अवसर मिलता था। गांधी 'हिन्दुस्तानी' के समर्थक थे। इसका यह अर्थ नहीं है कि वे देश की प्रांतीय भाषाओं और हिन्दी-उर्दू के विरोधी थे। वे भारतीय भाषाओं की तरक्की चाहते थे और हिन्दी-उर्दू को 'हिन्दुस्तानी' का पोषक तत्त्व मानते थे।

यहाँ उल्लेख कर देना चाहिए कि हिन्दुस्तान में पहले से हिन्दुस्तानी संगीत की एक तहज़ीब मौजूद थी। गांधी हिन्दी के जिस धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीय रूप को फैलाना चाहते थे, वह 19वीं सदी के ही सोच और संघर्ष का विकास था। हम भारतेंदु, बालकृष्ण भट्ट और अयोध्या प्रसाद खत्री के संघर्ष को याद करते हुए गांधी के इन विचारों को देख सकते हैं, ''हिन्दी भाषा वह भाषा है, जिसको उत्तर में हिन्दू और मुसलमान बोलते हैं और जो नागरी अथवा अरबी लिपि में लिखी जाती है। वह हिन्दी एकदम संस्कृतनिष्ठ नहीं है, न वह एकदम फ़ारसी शब्दों से लदी हुई है। गांव की बोली में जो माधुर्य मैं देखता हूँ, वह न लखनऊ के मुसलमान भाइयों की बोली में है, न प्रयाग के पंडितों की बोली में।'' स्पष्ट है कि 'हिन्दुस्तानी' की औपनिवेशिक धारणा से यह एक प्रस्थान है। गाँव की बोली से गांधी का तात्पर्य वह सीधी-सादी हिन्दी या हिन्दुस्तानी है, जिसे हिन्दू और मुसलमान दोनों बोलते हैं। हिन्दी और उर्दू के बीच कोई विवाद न होता, अगर ये दोनों भाषाएं साधारण बोलचाल में एक न होतीं।

गांधी की हिन्दी की अवधारणा का संबंध उनकी भारतीय संस्कृति की इस धारणा से है, ''भारतीय संस्कृति उन विभिन्न संस्कृतियों का संश्लेषण है जो इस देश में रच-बस गई हैं।... भारतीय सभ्यता भिन्न-भिन्न धर्मों का प्रतिनिधित्व करने वाली और अपने-अपने भौगोलिक तथा अन्य पर्यावरणों से प्रभावित संस्कृतियों का संगम है। अतः भारतीय संस्कृति भारतीय है। यह न पूरी तरह हिन्दू है, न इस्लामी और न कोई अन्य। यह इन सबका मिला-जुला रूप है और मूलतः पूर्वी है। हमारे युग की भारतीय संस्कृति अभी निर्माणाधीन है। हममें से अनेक लोग उन संस्कृतियों का, जिनके बीच आज टकराव की स्थिति दिखाई दे रही है, एक मिश्रण तैयार करने का प्रयास कर रहे हैं।'' *(भाईचारा, महात्मा गांधी के विचार)*। यह मिश्रण तेल-पानी जैसा नहीं, मिसरी-पानी जैसा है। यह इकहरी पश्चिमी संस्कृति के जवाब में मिश्रित चरित्र वाली पूर्वी संस्कृति की बात है। इसमें सिर्फ संस्कृत का योगदान ही नहीं है। गांधी की 'हिन्दुस्तानी' का संबंध मिली-जुली संस्कृति से है। 'हिन्दुस्तानी' भाषा और भारतीय संस्कृति दोनों ही उनकी दृष्टि में निर्माणाधीन हैं।

आज कहा जाता है कि भारतीय लेखक को अपनी जातीय स्मृतियों और विरासत को अंतर्ध्वनित करने के लिए संस्कृत के भाषिक परिसर की ज़रूरत है, यह मानो काफ़ी है। कहना न होगा कि इस धारणा से बौद्ध और इस्लाम धर्म, सूफ़ी और संत कवि और द्रविड़ तत्व बहिष्कृत दिखाई देते हैं। निर्मल वर्मा ने 2004 में एक भाषण में कहा, ''जहाँ तक भारतीय भाषाओं के मूल सांस्कृतिक संस्कारों का प्रश्न है, उन्हें सुगठित करने में संस्कृत का योगदान मेरी दृष्टि से उतना ही केंद्रीय महत्व रखता है, जितना एक समय में लातिन और ग्रीक भाषाओं ने यूरोपीय देशों के जातीय संस्कारों को निर्मित करने में सक्रिय भूमिका अदा की थी।'' *(वर्तमान समय में भाषा और साहित्य की स्थिति)*। गांधी जिस पूर्वी संस्कृति की बात कर रहे थे, वह सिर्फ संस्कृत भाषा के संस्कारों से नहीं बन सकती थी। संस्कृति के मनुवादी और कर्मकांडी संस्कारों से या अरबी-फ़ारसी के कट्टरवादी संस्कारों से कभी नहीं बन सकती थी। गांधी 'हिन्दुस्तानी' को हजारों साल के सामाजिक मिश्रण और विकास से जोड़ने की बात कर रहे थे। अशोक वाजपेयी जब कहते हैं, ''एक हिन्दी लेखक के रूप में यह कह सकता हूँ कि अच्छी हिन्दी लिख पाने के लिए संस्कृत जानना भी बहुत ज़रूरी है।'' *(कभी-कभार)*, लगता है 'हिन्दी-हिन्दू-हिन्दुस्तान' की एक हल्की सी ठुमक हिन्दी मन में कहीं न कहीं अभी बची हुई है।

हम देखते हैं कि 20वीं सदी के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध दोनों दौर में सोच एवं व्यवहार के स्तरों पर हिन्दी की मुख्य धारा का रिश्ता हिन्दुस्तानी की राष्ट्रीय अवधारणा से रहा है, 'भारतीय या पूर्वी संस्कृति' की उपर्युक्त धारणा से रहा है। उसका रिश्ता संस्कृत से उतना नहीं है, जितना हिन्दी क्षेत्र की बोलियों/भाषाओं से है। यह भी उल्लेखनीय है कि हिन्दी में अंतर्जातीय अखंडता के साथ एक भरी-पूरी विविधता है, जो इसके विशाल क्षेत्र की वजह से स्वाभाविक है।

हमें भाषाई स्तर पर साम्राज्यवादी घुसपैठ एवं तोड़फोड़ के परिवेश में गांधी की उदारता, दृढ़ता और दर्द को समझना होगा। वे कहते हैं, ''हमारे युवक और युवतियां अंग्रेजी और दुनिया की दूसरी भाषाएं खूब पढ़ें, लेकिन उनसे मैं आशा करूंगा कि वे अपने ज्ञान का प्रसाद भारत को और सारे संसार को उसी प्रकार प्रदान करें जैसे बोस, राय और कवि रवींन्द्रनाथ ने किया था। मगर मैं हर्गिज़ नहीं चाहूँगा कि कोई भी हिन्दुस्तानी अपनी मातृभाषा को भूल जाए या उसकी उपेक्षा करे या उसे देखकर शरमाए अथवा यह महसूस करे कि अपनी मातृभाषा के ज़रिये वह ऊँचा से ऊँचा चिंतन नहीं कर सकता है।'' गांधी की बुनियादी बेचैनी यही थी। हम जानते हैं कि हिन्दी पट्टी सहित देश के सभी बड़े चिंतक और विद्वान समाज विज्ञान, इतिहास, अर्थशास्त्र, प्रबंधन, राजनीति आदि विषयों पर किताबें अपनी मातृभाषा में नहीं लिखते। वे अपनी भाषा के विद्वानों की सभा में भी अंग्रेजी में भाषण देते हैं। हालांकि उन्हें यह भी पता है कि टीवी में आने पर हिन्दी में बोले बिना बड़ा दर्शक समुदाय उन्हें नहीं मिल सकता।

कहा जा सकता है कि आज के ज़माने में गांधी बेहद असुविधाजनक हैं, खासकर उनके लिए जो नए साम्राज्यवादी रास्तों से या सामंती समाज के बचे तत्त्वों को हथियार बनाकर विकास और सत्ता का सुख हासिल करना चाहते हैं।

उत्तर–आधुनिकता का दार्शनिक पसारा

प्रणय कृष्ण

सामान्य तौर पर फ्रांस में 1970 के दशक में जन्मी उत्तर-आधुनिकता के बारे में यह धारणा बन चली है कि जहाँ प्रतियोगी पूंजीवाद यथार्थवाद से जुड़ा हुआ था, इज़ारेदार पूंजीवाद आधुनिकता का युग था, उसी तरह बहुराष्ट्रीय पूंजीवाद उत्तर-आधुनिकता का ज़माना है। बहरहाल मेरी समझ से उत्तर आधुनिकता का संबंध बहुराष्ट्रीय पूंजीवाद से उतना सीधा नहीं है जितना कि माना या बताया जाता है। पश्चिमी दार्शनिक परंपरा में लंबे समय से चली आ रही अनेक प्रवृत्तियाँ सन् 70 के दशक में एक तरह के वैचारिक-राजनीतिक शून्य को भरने के लिए उत्तर-आधुनिकता के रूप में घनीभूत हुईं। यह याद रखना ज़रूरी है कि विज्ञान और तकनीक ने 19वीं सदी से ही जिस तरह दर्शनशास्त्र को `queen of knowledge' के पद से लगभग पूरी तरह से विस्थापित कर दिया, उसके बरअक़्स एक दार्शनिक प्रतिक्रिया तभी से अस्तित्व में है। उत्तर-आधुनिकता की अनेक प्रवृत्तियाँ और स्रोत हैं। उत्तर-आधुनिकता पश्चिम की अनेक ज्ञानशाखाओं के जिन ढेरों पहलुओं को 'रिसाइकिल' करते हुए आकार ग्रहण करती है, उसका पसारा बहुत बड़ा है। 20वीं सदी में पश्चिम का भाषावैज्ञानिक दर्शनशास्त्र (यानी विट्गेन्सटाइन से लेकर ए.जे. आयर तक), मानववाद विरोधी तत्वमीमांसा (यानी नीत्शे से लेकर हाइडेगर तक), मार्क्सवादी ज्ञानशाखाओं में ग्राम्शी के प्रभुत्व सिद्धांत, फ्रैंकफ़ुर्ट स्कूल के अध्ययन तथा लुई अल्थ्यूसर, ई. बॉलीवर आदि द्वारा विकसित संरचनावादी मार्क्सवाद, सरंचनावादी अध्ययन-शाखाओं में एफ. सस्यूर और रोमन जैकोब्सन के भाषाशास्त्रीय अध्ययन जिनमें उन्होंने सामान्य रूप से भाषा में निहित संरचनाओं की पड़ताल की थी, आदिम समाजों की संरचनाओं के बारे में लेवी स्ट्रॉस का अध्ययन जो नई दिशाएं उद्घाटित करता है, जैक लाकां द्वारा मनोविज्ञान में निहित संरचना का अध्ययन तथा फूको द्वारा शुरुआती दौर में मनोरोग विज्ञान, औषधिशास्त्र इत्यादि कुछ एक सैद्धांतिक प्रबंधों के उदय की स्थितियों का अध्ययन, उत्तर-संरचनावादी अध्ययनों में देरिदा के विखंडनवाद, क्रिस्तेवा का नारीवाद, लाकां का उत्तर-संरचनावादी मनोविश्लेषणवाद, देरिदा के द्वारा उपस्थिति पर आधारित पश्चिमी तत्व-मीमांसा को दी गई चुनौती, फूको के द्वारा ज्ञान, शक्ति और विमर्शों की सह-अपराधिता, ल्योतार द्वारा वैधता और मुक्ति के महा-आख्यानों को प्रश्नांकित किया जाना, विज्ञान में सापेक्षतावाद के सिद्धांत, क्वांटम मेकैनिक्स, प्रोबॅबिलिटी थियरी आदि में हुए परवर्ती विकास, सूचना और संचार-क्रांति के चलते ज्ञान के साथ हमारे संबंध में आए बदलाव, यह सब कुछ उस पसारे में आता है जिसके भीतर से उत्तर-

आधुनिकता की सैद्धांतिकी आकार ग्रहण करती है। यह पूरी ही सैद्धांतिकी व्यापक अर्थों में विमर्श को एक समस्या के रूप में तथा ज्ञान को व्यवस्था देने वाली प्रणालियों को संदेह की दृष्टि से देखती है। उत्तर-आधुनिकता जैसे शब्द की स्फीति इतनी अधिक हो गई है कि वह फ़िल्म, थिएटर, नृत्य, संगीत, कला, स्थापत्य, साहित्य, दर्शन, धर्मशास्त्र, मनोविश्लेषणशास्त्र, इतिहासलेखन, साइबरनेटिक्स, बायोटेक्नॉलॉजी, जेनेटिक्स आदि नए विज्ञानों की बहुतेरी परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों से ग्रहण किए गए सैद्धांतिक निष्कर्षों का अराजक समुच्चय बन गया है। इसलिए कई उत्तर-आधुनिकतावादी इस शब्द से परहेज़ भी करना चाहते हैं। यहां मेरे लिए यह संभव नहीं कि उत्तर-आधुनिकता के जितने स्रोत और व्याप्ति के क्षेत्र मैंने पहले गिनाए हैं उन सब पर अलग-अलग विचार कर सकूँ। विषय की सामान्य सैद्धांतिकी से ही काम चलाएं।

उत्तर-आधुनिकतावाद और उत्तर-संरचनावाद के परिक्षेत्र अंतःव्यापी हैं। इन्हें हम जुडवां सैद्धांतिकी भी कह सकते हैं। उत्तर-आधुनिकता ने जीवनरूपों को सापेक्ष, जड़विहीन, स्वपोषित, सांस्कृतिक परंपराओं और व्यवहारों से निर्मित तथा किसी भी आरंभिक मूल अथवा अंतिम लक्ष्य से विहीन बताया। मानवीय क्रियाव्यापार महज़ तर्क से संचालित नहीं। प्राक्तार्किक सत्ता, आस्था, हित या इच्छाओं के संदर्भ भी उनमें उतने ही निहित हैं। मानव जीवन का कोई स्थिर केन्द्र नहीं। कोई भी संपूर्णता या सार्वभौम तार्किकता उसकी अनंत विविधता को समेट नहीं सकती। संस्कृतियों और आख्यानों की बहुलता को वरीयताक्रम में व्यवस्थित नहीं किया जा सकता है। 'अन्यता' या 'भिन्नता' को समरूपता में अंटाया नहीं जा सकता। ज्ञान स्वयं सांस्कृतिक संदर्भों के सापेक्ष है। 'सत्य' व्याख्या का उत्पाद है, तथ्य विमर्शों की निर्मितियां है, 'वस्तुगतता' शक्तिशाली व्याख्या व्यवस्थाओं का दावा मात्र है। मानवीय कर्ता स्वयं एक बिखरी हुई, आत्मविभाजित इकाई है जिसका न कोई स्थिर स्वभाव है और न ही कोई सारतत्त्व। उत्तर-आधुनिकता ने पश्चिमी ज्ञानोदय के तमाम महावृत्तांतों-सत्य, तर्क, विज्ञान, प्रगति, सार्वभौम मुक्ति, मानववाद, इहलौकिकता आदि के दावों को ख़ारिज किया। उत्तर-आधुनिकता की राजनीति सत्य, समरूपता, संपूर्णता, सार्वभौमता, जड़ या आधार की धारणा, सामूहिक परिवर्तनकारी कर्ता की धारणा और महावृत्तांतों का सफ़ाया चाहती है। ताकि (उसके अनुसार) ईमानदार, प्रभावी, आमूल परिवर्तनवादी राजनीति का उदय हो सके। पश्चिमी सांस्कृतिक और ज्ञानात्मक प्रतिमानों को प्रश्नांकित करके, उनके प्रति गहरी शंका उत्पन्न करके उत्तर-आधुनिकता ने हाशिए पर ठेले गए समूह, उनकी दबाई गई पहचान, उनके अलग क़िस्म के अनुभवों और इतिहासों की संभावना पर बल दिया।

मानववाद, प्रगति, वस्तुनिष्ठता,तर्कवाद, इतिहास आदि ज्ञानोदयी धारणाएं यों भी 20वीं सदी में पश्चिम में दो-दो विश्वयुद्धों को रोक नहीं सकीं और बुर्जुवा बौद्धिक वर्ग के एक तबके ने इससे यही ग्रहण किया कि ज्ञानोदयी परियोजना का मानव-मुक्ति का सपना कभी पूरा नहीं हो सकता। उसके लिए अलग तरह की तत्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा की ज़रूरत है। यह प्रवृत्ति खुद आधुनिकतावाद में ही पल रही थी। दूसरी ओर विज्ञान में 20वीं सदी में जो प्रगति हुई उसने वैज्ञानिक निश्चयता में आत्मविश्वास को थोड़ा झटका दिया। लेनिन ने अपने ग्रन्थ 'भौतिकवाद और अनुभवसिद्ध आलोचना' (1914) में भौतिकी के संकट की चर्चा की है। जबकि सापेक्षतावाद के सिद्धांत, क्वांटम मेकैनिक्स, प्रोबॅबिलिटी, थियरी आदि में हुए परवर्ती विकासों के चलते ऐसे कई बुनियादी मत प्रश्नों के घेरे में आ गए जिन पर विज्ञान की भव्य इमारत खड़ी थी। अगर ग्राम्शी वह पहला महान मार्क्सवादी था जो इस वातावरण में

अपने बौद्धिक सांचे के चलते मार्क्सवाद के कुछ कम विज्ञानवादी और अधिक खुले अध्ययन की ओर अग्रसर हुआ, तो उत्तर-आधुनिकतावादी आधी शताब्दी के बाद विज्ञान की अब तक की अविवादित संप्रभुता पर ही प्रश्नचिन्ह खड़ा करने लगे। ये लोग दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान दिखाई पड़ने वाली विज्ञान की विनाशक शक्ति और नाभिकीय विध्वंस की संभावनाओं से घबरा उठे थे। इनकी प्रतिक्रिया भले ही आधुनिकतावादी इलियट की अध्यात्म की ओर वापसी से अलग थी लेकिन चिंता का कारण वही था। इनकी चिंता का एक कारण वह सर्वसत्तावादी प्रवृत्ति भी थी जिसे कुछ एक कम्युनिस्ट पार्टियों ने मार्क्सवाद के सर्वज्ञ विज्ञान पर कम्युनिस्ट नेतृत्व के महारथ के दावे के कारण ज्ञान और संस्कृति के क्षेत्र में प्रदर्शित किया था और उचित ठहराने की कोशिश की थी। यह भी महसूस किया गया कि योरप और अमेरिका से निकलकर विज्ञान और बुद्धि की विनम्र आवाज़ वास्तव में समूची दुनिया को गुलाम बना लेने के अभियान में निकली पूंजी की ही सहायक बन गई। 70 के दशक को केन्द्र कर इस पृष्ठभूमि को दूसरे सिरे से देखने से पता चलता है कि विज्ञान और तकनीकी क्रांति के चलते पूंजीवाद की बुनियादी संरचना काफ़ी हद तक बदल चुकी थी और दिन प्रतिदिन बदलती जा रही थी। यह क्रांति पूंजीवाद को जीवन की एक नई खुराक पिला रही थी, लोगों की जीवनशैली और उनके दृष्टिकोण के साथ-साथ सब तरफ़ व्यापक परिवर्तन ला रही थी। ठीक इसी समय समाजवादी देशों में बढ़ती समस्याओं के लक्षण लगातार उजागर होते जा रहे थे। दूसरी ओर मज़दूर वर्ग और कम्युनिस्ट पार्टियों की अगुआ क्रांतिकारी भूमिका लगातार कम से कमतर होती जा रही थी। हालांकि ऐसा लग रहा था कि यह स्थिति नव-वाम (जिसके प्रति अनेक उत्तर-आधुनिकतावादियों ने अपना समर्थन जताया था, या अपने जीवन के उत्कर्ष काल में उसके साथ रहे थे) के उदय से तथा महिलाओं, छात्रों आदि के अ-वर्गीय आंदोलनों में हासिल नए गतिरोध-भंग के ज़रिए प्रति संतुलित हो रही है। '60 और' 70 के दशक के नए सामाजिक आंदोलन जैसे कि अश्वेत मुक्ति का आंदोलन, नारीवादी आंदोलन, छात्र आंदोलन तथा समलैंगिकों के अधिकार के आंदोलन कुछ खास तरीकों के शोषण के विरुद्ध संघर्षरत थे। पारंपरिक राजनीतिक वामपंथ ने इन आंदोलनों को वैसा महत्व नहीं दिया। बहुत बाद में इन आंदोलनों की कुछ प्रवृत्तियां ऐसी उभरीं जिन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि उत्तर-आधुनिकता किसी न किसी रूप में ऐसा दर्शन है जो उनकी आकांक्षाओं को वाणी देता है।

इन सबके और कुछेक अन्य विकासों के सम्मिलित प्रभाव से बुद्धिजीवियों के एक अच्छे-खासे हिस्से को लगने लगा कि शास्त्रीय मार्क्सवाद के सिद्धांत अपनी वैधता एक हद तक खो रहे हैं। संक्षेप में बदली हुई दुनिया सर्वहारा की एक नई भूमिका और उसके सैद्धांतिक हथियार के एक मुकम्मल विकास की मांग कर रही थी । लेकिन कम से कम योरप में ऐसा कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा था। उत्तर-आधुनिकता की विचारधारा और राजनीति इसी शून्य को भरने के लिए दूसरे अनेक निम्न-पूंजीवादी प्रयत्नों की तरह ही पैदा हुई।

उत्तर-आधुनिकता अपने अतिरेकी रूपों में न केवल मार्क्सवाद या समाजवाद को प्रश्नांकित करती है बल्कि वह आधुनिकता के उस पूरे युग को ही खारिज करती है जिसका उदय पूंजीपति और सर्वहारा जैसे आधुनिक वर्गों के आगमन के साथ हुआ। वह ज्ञानोदय के पूरे युग, मानवमुक्ति की उसकी महान परियोजनाओं को खारिज करते हुए उन्हें महाख्यानों की संज्ञा देते हुए यह स्थापित करती है कि ऐसे महाख्यान पूर्व-निर्धारित लक्ष्यों की ओर समाज को ढकेलते हैं और अंततः सर्वसत्तावादी राजनीतिक

व्यवस्थाओं में पतित होते हैं। उत्तर-आधुनिक चिंतक वर्ग या मानवीय एकजुटता की ऐसी किसी कोटि को भी स्वीकार नहीं करते जो नस्ल, लिंग, जाति और एथिनिसिटी जैसे 'कल्पित समुदायों' (Benedict Anderson की धारणा) को काटते हुए आकार ग्रहण करती है।

ज्ञानमीमांसा और उत्तर-आधुनिकता

ज्ञानमीमांसा उत्तर-आधुनिकता को समझने की कुंजी है। अलग से शीर्षक देकर इस पर विचार करने का यह मतलब नहीं समझना चाहिए कि दूसरे प्रसंगों में ज्ञानमीमांसा का प्रश्न नहीं आवेगा। दरअसल इस पर्चे के सभी उपशीर्षकों के विषयों में ज्ञानमीमांसा का ही प्रश्न किसी न किसी रूप में प्रासंगिक है। लिंडा हचेन ने रोलाबार्थ की एक अवधारणा के माध्मय से उत्तर-आधुनिकता के प्रकार्य को समझाने की कोशिश की है। बार्थ का शब्द है Doxa जिसका अर्थ जनमत, प्रकृति की आवाज और सर्वानुमति के नज़दीक पड़ता है। हचेन के मुताबिक उत्तरआधुनिकता हमारे सांस्कृतिक प्रतिनिधित्वों / निरूपणों और उनके अपरिहार्य राजनीतिक आशयों को de-doxify करता है। (The Politics of Post-modernism, Routledge, 2005, pg.3) मतलब यह कि जो कुछ भी प्राकृतिक, सर्वसम्मत या सामान्यबोध के रूप में स्वीकृत है, उसके पीछे के शक्ति-संबंधों, पूर्वाग्रहों को उघाड़कर रख देता है। प्रथमतया वह यह दिखलाता है कि जो कुछ नैसर्गिक, सार्वभौम या सर्वसम्मत माना जा रहा है वह किसी न किसी विमर्श का हिस्सा है। विमर्श और कुछ नहीं बल्कि संवादात्मक गतिविधि में मुब्तिला विभिन्न पक्षों के बीच संबंधों की प्रणाली है। रसेल के अनुसार हम दुनिया को सिर्फ सामाजिक रूप से स्थापित अर्थों की प्रणालियों के संजाल यानी अपनी संस्कृति के विमर्शों के जरिए ही जान सकते हैं। उत्तर-आधुनिकता को द्वंद्ववाद से ऐतराज़ इसलिए है कि वह पक्ष और प्रतिपक्ष की द्वंद्वात्मक एकता यानी संपक्ष को स्थापित करता है। जबकि उत्तर-आधुनिकता विभिन्नता, विरोध, विसंगति और अंतर्विरोध को किसी भी एकता की मार्फ़त मिटाए जाने को खिलाफ़ है। उसका काम द्वंद्ववादी पद्धति के ठीक उलट है। यानी जो कुछ एक दिख रहा है उसके भीतर ही अनेकता को दिखलाना, केन्द्र का अपकेन्द्रण करना, सार्वभौम को विखंडित कर उसकी विशिष्टता को खोल देना।

उत्तर-आधुनिकों में ज्यां ल्योतार और ज्यां बॉद्रिला ने संकेत चिन्हों के उत्पादन और पुनरुत्पादन के सामाजिक अर्थशास्त्र पर केन्द्रित किया। हैबरमास और ल्योतार दोनों इस बात पर सहमत हैं कि आधुनिकता का निर्वाह एकता और सार्वभौमता की धारणाओं के बगैर संभव नहीं था। लेकिन जहाँ हैबरमास के लिए ज्ञानोदयी तर्कनिष्ठा के संदर्भ में आधुनिकता की परियोजना अभी समाप्त नहीं हुई है और उसका पूरा होना आवश्यक है, वहीं ल्योतार के लिए आधुनिकता को इतिहास ने ही विलुप्त कर दिया। ल्योतार ने प्रस्तावित किया कि इतिहास ने आधुनिकता के दावों का अंत कर दिया है। आधुनिकता से अविभाज्य इतिहास की धारणा की त्रासद परिणति नात्सियों के यातनागृहों में हुई। पूंजीवादी तकनीकी क्रांति ने ज्ञान की सारी ज्ञानोदय प्रसूत अवधारणाओं को तोड़कर आधुनिकता की वैधता को अंतिम चोट पहुंचाई।

इतिहास का 'कर्ता' वह 'मानव' था जिसकी अवधारणा स्थिर, अखंड और सब चीज़ों से परे थी। उत्तर-संरचनावाद ने मानवीय कर्ता की अवधारणा का खंडन किया। फूको ने 'कर्ता' के दायरे से बाहर जाकर ज्ञान को सत्ता से जोड़कर देखा। उत्तर-संरचनावादी नारीवाद ने साम्राज्यवादी 'कर्ता' और

मानववाद के 'कर्ता' में रिश्ता देखा। जहां उत्तर-औपनिवेशिकता इस साम्राज्यवादी कर्ता को अपनी आलोचना के निशाने पर रखती है वहीं उत्तर-आधुनिकता मानववाद के 'कर्ता' को। नारीवाद 'कर्ता' की दोनों धारणाओं के पितृसत्तात्मक अंतर्य को उद्घाटित करता है।

उत्तर-आधुनिकता ने इतिहास के मानवीय कर्ता (व्यक्तिगत और सामूहिक) के आधुनिकतावादी दावों का भी खंडन किया। उसने ज्ञानोदय के प्रगति, तर्क, विज्ञान आदि विचारों-मूल्यों को मिथक कहा और उनके सार्वभौम सत्य होने के दावों को झटका दिया। 'कर्ता' की एक खास आधुनिकतावादी धारणा का विरोध करते-करते उत्तर-आधुनिकता ने 'कर्ता' को ही पूर्णतः अदृश्य या समाप्त मान लिया, ठीक वैसे ही जैसे कि उसने आधुनिकता के सार्वभौम सत्य के दावों का विरोध करते-करते 'सत्य' की ही मृत्यु मान ली। पूंजीवादी मानववाद का विरोध तमाम तरह की अंतवादी घोषणाओं में अभिव्यक्त हुआ-इतिहास का अंत, विचारधारा का अंत, कर्ता का अंत, सत्य का अंत। इस अंतवाद का नतीजा यह हुआ कि दुनिया को बदलने और बनाने की वास्तविक क्रियाओं (राजनीति) का निषेध ही मानो 'उत्तर' वादी तमाम सैद्धांतिकी का केन्द्र बिन्दु बन गया। एक ही राजनीति बच गई और वह थी पाठ की राजनीति। चूँकि ये उत्तरवादी सिद्धांत दमित और हाशिए के स्वरों के ही सिद्धांत हैं अतः इनके कारण जिन तबकों के राजनीतिक कर्तृत्व को नुकसान पहुंचा वे दमित तबके ही थे। शासक जमातों के लिए उत्तरवादी वैचारिकी ऐसे प्रतिरोध की तरह थी जिससे वास्तविक दुनिया में उन पर कोई आंच भी नहीं आती थी और वास्तविक राजनीतिक विरोध की संभावना को एक निष्परिणामी, बौद्धिक-सांस्कृतिक दिशा में मोड़ देने की सुविधा भी थी।

यदि सभी विमर्श कहानियाँ या आख्यान हैं और कोई भी एक दूसरे से अधिक वस्तुगत और सत्यनिष्ठ नहीं है तब यह मानना पड़ेगा कि सबसे घृणित किस्म के नस्लवादी, पुरुषसत्तावादी और प्रतिगामी सामाजिक-आर्थिक सिद्धांत उतने ही वैध अथवा अवैध हैं जितने कि अन्य, इसीलिए वर्तमान सामाजिक व्यवस्था की आलोचना के लिए ज्ञानात्मक सापेक्षतावाद एक अत्यंत कमज़ोर आधार है।

कान्ट (1724-1804) ने ज्ञानमीमांसा की यह समस्या उठाई थी कि वस्तु निजरूप यानी thing in itself जानी ही नहीं जा सकती क्योंकि जानने वाला उसे अपने ही मस्तिष्क में स्थापित देश-काल की सरणियों की मध्यस्थता के बगैर नहीं जान सकता। अतः जो वह जानता है वह वो चीज नहीं है जो अपने आप में वह है। कांट की उठाई समस्या का हल प्रत्ययवादियों और भौतिकवादियों ने अपने-अपने ढंग से किया। दूसरी ओर संदेहवादी और अज्ञेयवादी हल के चक्कर में पड़े ही नहीं। विडंबना यह है कि आज के समय में उत्तर-आधुनिकता ने इन्हीं की परंपरा संभाल ली है। भारतीय दर्शन के बहुत पुराने स्याद्वाद और अनेकांतवाद की याद आना स्वाभाविक है।

विज्ञान और उत्तर-आधुनिकता

सन् 1942 में विख्यात भौतिकशास्त्री इर्विन श्रोडिंगर ने इस बात को भूलने के खिलाफ़ चेतावनी दी थी कि विज्ञान सामान्यतः मानवीय संस्कृति से बंधा हुआ है, जिसके संदर्भ के बग़ैर वह अर्थहीन है। यह बात उस समय से कहीं ज़्यादा आज सत्य के नज़दीक है। उत्तर-आधुनिकता जिस अतिसापेक्षतावाद, संशयवाद और यहां तक कि शून्यवाद की ज्ञानमीमांसा, राजनीति के प्रति उदासीनता और राजनीति के संपूर्ण बिखराव के साथ-साथ सामाजिक नैतिक मूल्यों के प्रति जैसा दुविधात्मक रवैया रखती है, उसे कई

दफ़ा प्राकृतिक विज्ञानों की कुछ शाखाओं की अधुनातन खोजों के आधार पर समर्थन दिया जाता है। ल्योतार ने इस स्थिति के प्रति सजगता दिखाते हुए यह कहा था कि उत्तर-आधुनिक स्थिति में विज्ञान का सरोकार ऐसी चीज़ों से है जो अनिश्चयात्मक हैं। उसे ठोस नियंत्रण की सीमाओं तथा अपूर्ण सूचनाओं के लक्षण से युक्त टकरावों, खंडित तथ्यों, विभीषिकाओं और व्यावहारिक विडंबनाओं से दो चार होना पड़ रहा है। क्या यह सचमुच सही है? जब यह आविष्कार संभव हुआ कि पदार्थ ऊर्जा में रूपान्तरित हो सकता है और ऊर्जा पदार्थ में तो उस समय भी एक प्रत्ययवादी चर्चा शुरू हो गई थी जिसका कहना था कि पदार्थ का विलोप हो गया (देखें लेनिन की पुस्तक Materialism and Empirio Criticism) क्वांटम भौतिकी ने भी इसी प्रकार दर्शन में अनेक नए सिद्धांतों को पैदा किया। 1975 में फ्रिजियोफ़ कॉपरा की अत्यंत लोकप्रिय पुस्तक Tao of Physics में नई भौतिकी और प्राचीन पूर्वी रहस्यवाद खासतौर पर मायावाद, बौद्ध दर्शन और ताओ दर्शन के बीच समानता को प्रतिपादित किया गया था। एक महत्वपूर्ण अनुच्छेद में कॉपरा ने लिखा, ''जैसे ही हम पदार्थ की गहराई में उतरते हैं, प्रकृति हमें अलग-अलग 'बुनियादी बिल्डिंग ब्लॉक्स' के रूप में नहीं दिखती बल्कि संपूर्ण के विभिन्न घटकों के बीच संबंधों के जटिल संजाल की तरह नज़र आती है। यह संबंध देखने वाले को भी बुनियादी तौर पर अपने भीतर समाविष्ट किए रहते हैं। मानवीय प्रेक्षक, प्रेक्षण प्रक्रिया की शृंखला की अंतिम कड़ी होता है। किसी भी आण्विक वस्तु के गुण सिर्फ़ उस वस्तु और प्रेक्षक के बीच अंतःक्रिया के ही दायरे में समझे जा सकते हैं। इसका अर्थ यह है कि प्रकृति के वस्तुगत विवरण का क्लासिकीय आदर्श अब सही नहीं रह जाता। आण्विक पदार्थ से अंतःक्रिया करने के क्रम में मैं और विश्व, प्रेक्षक और प्रेक्ष्य के बीच के पार्थक्य की कार्टेसियन पोज़ीशन संभव नहीं रह जाती। आण्विक भौतिकी में हम प्रकृति के बारे में जिस वक्त कुछ भी बोल रहे होते हैं उसी वक्त हम अपने बारे में भी बोल रहे होते हैं।'' '(The Tao of Physics' by Fritjof Capra 1975 (PP71-72)**)**

कॉपरा की लोकप्रिय पुस्तक से कहीं अधिक गंभीर वैज्ञानिक पुस्तक बर्नार्ड डी. स्पैगनेट की `Reality and the physicist, knowledge, duration and the quntum world' 1989 में प्रकाशित हुई। लेखक ने भौतिक यथार्थवाद की पुरानी धारणा को खारिज करते हुए दो तरह के यथार्थों की परिकल्पना रखी। एक वह स्वतंत्र यथार्थ, जिसे हम यथार्थ मानते हैं और दूसरा वह अनुभवगत यथार्थ जो कि हमारे द्वारा प्रत्यक्षतः अनुभव किया जाता है। लेखक के अनुसार स्वतंत्र यथार्थ ढका हुआ है हम सिर्फ़ उसकी कुछ संरचनाओं को ही जान सकते हैं जबकि अनुभवगत यथार्थ में कोई दुविधा नहीं होती और यही विज्ञान का क्षेत्र है। वैज्ञानिक मॉडल हमें उस स्वतंत्र यथार्थ की कुछ संरचनाओं के बारे में कुछ अनिश्चित से संकेत अवश्य देते हैं जबकि आनुभविक यथार्थ के बारे में हम वैज्ञानिक निश्चितता से बात कर सकते हैं। इन दो उदाहरणों को यदि हम देखें तो कॉपरा ने क्वांटम मैकैनिक्स द्वारा प्रेक्षक और प्रेक्ष्य के बीच बुनियादी अंतःक्रिया को ज्ञान के लिए आवश्यक बताया है, उस प्रक्रिया में जो चीज़ वास्तव में समाप्त होती है वह है कार्टेसियन विभाजन। लेकिन जहां तक मार्क्सवाद का सवाल है, यह मानते हुए कि पदार्थ मानवीय चेतना और ज्ञान से स्वतंत्र भी अस्तित्व रखता है, वह मानवीय ज्ञान की सापेक्षिक सीमाओं और प्रेक्षक व प्रेक्ष्य की अंतःक्रिया को अपनी ज्ञानमीमांसा का अनिवार्य हिस्सा मानकर चलता है। लिहाजा यथार्थ का ढका हुआ होना तो सच है, लेकिन विज्ञान लगातार ज्ञान की सरहदों को बढ़ाता जाता है और इस प्रक्रिया में ज्ञान के जटिल स्वरूप और उसकी असमाधेय सीमाओं को भी उद्घाटित करता है। यह धारणा किसी द्वंद्वात्मक भौतिकवादी के लिए

परेशानी उत्पन्न नहीं करती। लेकिन डी. स्पैगनेट ने जिस तरह ढके हुए स्वतंत्र यथार्थ और घटनात्मक अनुभवगम्य यथार्थ को दो विरोधी ध्रुव मान लिया है, वह किसी द्वंद्वात्मक भौतिकवादी को स्वीकार्य नहीं हो सकता। यह दोनों तरह के यथार्थ परस्पर व्यापी हैं और अन्तविरोधी हैं और उनके बीच की सीमारेखा लगातार बदलती रहती है। लेकिन लेखक जिस अतिरेकी निष्कर्ष तक पहुंचता है वह यह है कि जहां अनुभवगम्य यथार्थ के क्षेत्र में विज्ञान सर्वोच्च है वहीं स्वतंत्र यथार्थ के क्षेत्र में वह धर्म और मिथक जैसी अंतःप्रज्ञात्मक चेतना के साथ विवश खड़ा दिखाई देता है। यहां आकर लेखक वैज्ञानिक प्रत्ययवाद के सामने समर्पण कर देता है। चूंकि कार्टेसियन विभाजनवाद कभी भी मार्क्सवादी विश्वदृष्टि का हिस्सा नहीं रहा, जो कि मनुष्य और प्रकृति की आवयविक एकता और मानवीय ज्ञान की किंचित सापेक्षता को मानकर चलता है, अतः क्वांटम भौतिकी द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का निषेध नहीं करती 'एन्टी ड्यूहरिंग' में एंगेल्स ने बहुत ही साफ़-सुथरे ढंग से दिखलाया है कि निरपेक्ष सत्य गणित जैसी शुद्ध शाखाओं तक में हरदम नहीं पाए जाते और जैसे-जैसे हम भौतिकी, रसायन, जीवविज्ञान जैसे प्रकृतिक विज्ञानों और उसके भी आगे समाज विज्ञानों के क्षेत्र में बढ़ते हैं निरपेक्ष सत्य जैसी चीज अधिकाधिक विरल होती जाती है। निष्कर्ष में वे कहते हैं, ''सत्य और भ्रांति....की निरपेक्ष वैधता महज़ एक अत्यंत सीमित क्षेत्र में होती है....यदि हम उस सीमित क्षेत्र के बाहर उन्हें निरपेक्ष रूप से वैध मानकर प्रयोग करें तो हमें असफलता हाथ लगेगीः प्रतिपक्ष के दोनों ध्रुव एक-दूसरे के विरोध में रूपान्तरित हो जाते हैं, सत्य भ्रान्ति बन जाता है और भ्रांति सत्य।'' एंगेल्स ने ही मार्क्सवादी सिद्धांत सहित समस्त ज्ञान के बारे में कहा था कि उसमें ''वे अंश कहीं ज़्यादा हैं जिन्हें संवर्द्धित करने की संभावना है, उनकी अपेक्षा जिन्हें और संवर्द्धित नहीं किया जा सकता यानी जो सही हैं। सुसंगत द्वंद्ववाद के ज़रिए एक मार्क्सवादी यह ध्यान ज़रूर रखता है कि वह निरपेक्ष सापेक्षतावाद या अज्ञेयवाद की तरफ़ न ढुलक जाए। जैसा कि लेनिन ने बताया था ''.....सापेक्षतावाद को ज्ञान सिद्धांत का आधार बनाना खुद को या तो निरपेक्ष संदेहवाद, अज्ञेयवाद और वाक्छल या फिर आत्मवाद की ओर ढकेले जाने के लिए अभिशप्त बनाना है....मार्क्स और एंगेल्स का भौतिकवादी द्वंद्ववाद में निश्चय ही सापेक्षतावाद है, लेकिन उसे सापेक्षतावाद मे घटाया या न्यूनीकृत नही किया जा सकता, अर्थात् वह हमारे ज्ञान की सापेक्षता को संज्ञान में लेता है, वस्तुगत सत्य का निषेध करने के अर्थ में नहीं, बल्कि इस अर्थ में कि सत्य के बारे में हमारे ज्ञान की प्राप्ति की सीमाएं ऐतिहासिक स्थितियों पर निर्भर हैं।''

दरअसल यह सब कहने के बाद भी क्वांटम मेकैनिक्स की एक धारणा अवश्य ऐसी है जो भौतिकशास्त्रियों और मार्क्सवादियों के लिए भी कुछ जेनुइन समस्याएँ खड़ी करती हैं। क्वांटम मेकैनिक्स के अनुसार प्रेक्षण से पहले कोई भी प्रणाली या सिस्टम एक अनिश्चय या अनिर्धारित स्थिति में या फिर एक से अधिक स्थितियों में रहता है। जबकि प्रेक्षण या मापन का कार्य उसे एक निश्चित स्थिति प्रदान करता है। इस धारणा का अल्बर्ट आइन्स्टीन से लेकर हमारे समकालीन रोज़र पेनरोज़ तक के द्वारा ज़बरदस्त ढंग से मुकाबला किया जाता रहा। जैसे कि आइन्स्टीन ने रवीन्द्र नाथ टैगोर से शिकायत की थी कि यह धारणा दावा करती है कि यदि एक खास क्षण में कोई चांद को नहीं देख रहा है तो वह एक अनिर्दिष्ट स्थिति में चला जाएगा, या धुंधला जाएगा और अपना रूप और स्थिति वापस तभी प्राप्त करेगा जब कोई उसे देखने लगेगा। इस विषय को इर्विन श्रोडिंगर ने, जो स्वयं क्वांटम भौतिकी के बड़े वैज्ञानिक हैं, वैज्ञानिक ढंग से रखा। उन्होंने कहा कि बिल्ली को बक्से में बंद कर दीजिए और एक ऐसी

इलेक्ट्रानिक डिवाइस उसमें लगा दीजिए जो कि बिल्ली को अन-अनुमेय समय पर मार देगा। बक्से के भीतर यानी हमारे प्रेक्षण के परे जीवित बिल्ली किसी भी क्षण मौत का सामना कर रही होगी और क्वांटम मेकैनिक्स के अनुसार वह आंशिक रूप से मृत और अंशतः जीवित अवस्था में होगी या एक बिल्ली दो बिल्लियों में बदल जायेगी, एक मृत एक जीवित! जैसे ही हम बक्सा खोलेंगे और उसमें देखेंगे वैसे ही हमारा देखना, देखने से पहले की अनिर्धारित अवस्था को निर्धारित कर देगा : हम या तो जीवित बिल्ली देखेंगे या मृत बिल्ली! अविश्वसनीय और हास्यास्पद लग रहा होगा आपको, लेकिन श्रोडिंगर ने कहा कि हाँ यह ऐसा ही है। आइन्स्टीन ने उन्हें क्वांटम मेकैनिक्स की इस विडंबना को इस सुंदर तरीके से प्रस्तुत करने के लिए बधाई दी। लेकिन क्वांटम मेकैनिक्स के प्रति पक्षपात रहित होकर सोचने पर भी यह कहना होगा कि प्रेक्षक ज़रूरी नहीं कि मनुष्य ही हो। यह अंतःक्रिया किसी भी औज़ार या साधारणत : किसी भी वस्तु के साथ हो सकती है। इसी आधार पर स्टीफ़ेन हॉकिंग जैसे वैज्ञानिक क्वांटम मेकैनिक्स को बिना किसी संकोच के स्वीकार करते हैं। सामान्य अर्थों में बुनियादी तौर पर क्वांटम मेकैनिक्स की इस धारणा का यही मतलब है कि दो वस्तुओं के बीच की अंतःक्रिया दोनों की अवस्थाओं को या कम से कम किसी एक की अवस्था को बुनियादी तौर पर बदल देती है। और उतनी बात हमारे लिए कोई खास दार्शनिक उलझन नहीं पैदा करती। जहां तक ब्योरों का संबंध है हमें न तो जल्दबाज़ी में चीज़ों का अतिसरलीकरण करना चाहिए और न तो भौतिकवाद के बचाव में इन कथित बेढंगी चीजों का निषेध करना चाहिए, जब तक कि क्वांटम विवाद खुद भौतिकशास्त्रियों के बीच हल न हो जाए। ल्योतार हमारे सामने आज के विज्ञान का एक पहलू ही रखते हैं। विज्ञान भी सिर्फ क्वांटम मकैनिक्स नहीं है, उसकी ढेरों महत्वपूर्ण शाखाएं ऐसी हैं जहां वैज्ञानिक पद्धतियों की स्पष्टता मौजूद है। इतना ही नहीं बल्कि क्वांटम मेकैनिक्स की अनिश्चयता और प्रायिकता अंशतः मापी जा सकती हैं।इस पहलू को ल्योतार दबा जाते हैं। ल्योतार और दूसरे उत्तर-आधुनिकतावादी इस बात पर ध्यान देना भूल जाते हैं कि अणुओं-परमाणुओं की विभाज्यता, अनिश्चयता और chaos ज़ैसे नए महत्व की चीजों के बावजूद विज्ञान ने खुद का विलोप नहीं कर दिया। ये चीज़ें अभी भी वैज्ञानिक तर्कनिष्ठता के दायरे में ही हैं। यह भी उत्तर-आधुनिकता की विडंबना ही है कि विज्ञान की नवीनतम खोजों पर निर्भर होकर वे वैज्ञानिक तर्कनिष्ठा का विरोध करते हैं। अब ज़रा सोचिए कि जब विद्युत शक्ति और चुम्बकत्व को जोड़कर मैक्सवेल ने उत्तर-आधुनिकता से आधी शताब्दी पहले ही इलेक्ट्रोमैग्नेटिज़म का आविष्कार किया, फिर 70 के दशक में वाइनबर्ग ग्लाशोव और अब्दुस्सलाम ने इलेक्ट्रोमैग्नेटिज़्म और weak forces को जोड़कर standard model of particle physics दिया और आज जबकि इलेक्ट्रोमैग्नेटिज़्म, weak forces and strong forces की एक ही unified theory पर काम हो रहा है और हॉकिन्स जैसे महान वैज्ञानिक गुरुत्वाकर्षण को भी इनके साथ मिलाकर grand unified theory विकसित करने का सपना पाले हुए हैं, तब ऐसे में इससे बड़ा Grand narrative भला क्या होगा और तब उत्तर-आधुनिकता ने grand narratives के जिस अवसान की सैद्धांतिकी दी, उस सैद्धांतिकी का हम क्या करेंगे? यह सच है कि micro और macro संयोग और आवश्यकता, अराजकता और व्यवस्था के द्वंद्वों को निश्चय ही द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के अब तक विकसित रूप में उस तरह से समाहित नहीं किया जा सका है जैसा कि होना चाहिए। लेकिन इस रास्ते को छोड़ और कोई रास्ता है भी नहीं।

1998 में अमरीकी वैज्ञानिक सोकल ने अमरीकी अकादमिक संस्थानों में उत्तर-आधुनिकता के

नाम पर ज्ञानोदय की बुद्धिवादी परंपरा के नकार तथा विज्ञान को आख्यान, मिथ या सामाजिक निर्मिति मानने वाले सांस्कृतिक सापेक्षतावाद से क्षुब्ध होकर अमरीकी पत्रिका 'social text' में प्रचलित उत्तर-आधुनिक लेखों की नकल पर एक लेख लिखा जिसका शीर्षक था `Transgressing the boundaries: toward a transformative hermeneutics of quantum gravity.' सोकल ने फ़ैशनेबल उत्तर-आधुनिकता का भंडाफोड़ करने के लिए एक शरारतपूर्ण कदम उठाया। इस लेख में कदम-कदम पर डेल्यूज़, देरिदा, गुआतारी, लाकां, इरीग्रे, ल्योतार, ब्रूनो लातओर, माइकल सेरेस, वाइरीलियो आदि फ्रांसीसी सिद्धांतकारों के उद्धरण देते हुए उनकी प्रशंसा की गई थी। ये उद्धरण आमतौर पर इन विद्वानों द्वारा उद्धृत गणित और प्राकृतिक विज्ञानों के दार्शनिक और सामाजिक निहितार्थों से संबंधित थे। सोकल ने इनकी पैरोडी करते हुए तमाम ऊटपटांग बातें इस लेख में लिखीं और ज्ञानात्मक सापेक्षतावाद की लंबी उड़ानें भरीं। यहां तक लिख डाला कि यूक्लिड का 'पाई' और न्यूटन का g जिसे कभी स्थिर और सार्वभौम माना जाता था उसे अब उनके समय के इतिहास और पंरपराओं के ही परिप्रेक्ष्य में समझा जाता है। इसी तरह की तमाम अन्य बातें भी सोकल ने लिखीं। इस प्रसिद्ध पत्रिका ने यह लेख छापा। सोकल जो चाहते थे वही हुआ। उन्होंने अलग से एक लेख लिखकर बताया कि किस तरह उन्होंने निहायत ही अर्थहीन, ऊटपटांग और मूर्खतापूर्ण बातें उत्तर-आधुनिक जार्गन में लपेटकर लिखीं जिसे social text ने छापकर महज़ उस पाखंड को ही उजागर किया जिसे उत्तर-आधुनिकता कहते हैं। सोकल ने बाद वाले लेख में यह कहा कि विज्ञान की जेनुइन आलोचना से शायद ही किसी को दिक्कत हो, क्योंकि यह सच है कि एक सामाजिक संस्था के रूप में विज्ञान; राजनीतिक, आर्थिक और सैन्य सत्ता से जुड़ गया है और वैज्ञानिकों की सामाजिक भूमिका कई बार बड़ी घातक सिद्ध हुई है। विज्ञान की खोजें सदैव ही प्रश्नांकित की जा सकती हैं और वैज्ञानिकों द्वारा की जाने वाली ग़लतियाँ भी कई बार की सामाजिक, राजनीतिक, दार्शनिक और धार्मिक पूर्वाग्रहों से पैदा होती हैं। लेकिन विज्ञान के जो सबसे खतरनाक पहलू हैं मसलन सैन्यवाद, सेक्सिज़्म वग़ैरह-वग़ैरह उन पर चोट करने की जगह उत्तर-आधुनिकता के नाम पर विज्ञान के सबसे बेहतर पहलुओं पर चोट की गई, मसलन दुनिया को तार्किक ढंग से समझना और वह वैज्ञानिक पद्धति जो वस्तुगत साक्ष्य और तर्क का सम्मान करती है। सोकल ने यह निष्कर्ष निकाला कि अमरीका और योरप में वाम की दिशाहीनता और मुक्त बाज़ार वाले पूंजीवाद के उत्थान ने जिस तरह की राजनीतिक हताशा को जन्म दिया, उसमें हताश लोगों के लिए पूंजीवादी सत्ता प्रतिष्ठान की जगह विज्ञान ही soft target बन गया। सामाजिक विज्ञानों में एक खास तरह के चमकदार जार्गन की बदौलत अकादमिक सफलता की सीढियाँ चढने वाले अध्येताओं की बाढ़आ गई है जो उत्तर-आधुनिक मुहावरों के बल पर धंधेबाजी कर रहे हैं।

सोकल ने सावधान किया कि सामाजिक विज्ञानों की अपनी समस्यायें हैं और उन्हें भौतिकी या जीवविज्ञान के वास्तविक या काल्पनिक हर paradigm shift की नक़ल नहीं करनी चाहिए। उदाहरण के लिए आण्विक स्तर पर भौतिकी के नियम आज प्रायिकता की भाषा में हैं बावजूद इसके निर्धारणवादी सिद्धांत अभी भी दूसरे स्तरों पर काफ़ी हद तक सही हैं, जैसे कि फ्लुइड मेकेनिक्स में या फिर खास तरह की सामाजिक-आर्थिक घटनाओं-क्रियाओं में। इसके अलावा बहुत सारी चीज़ें ऐसी हैं जो फ़िलहाल भौतिकी में भी पूरी तरह से समझी नहीं जा सकीं। ऐसे में जटिल मानवीय समस्याओं के संबंध में प्राकृतिक विज्ञानों की नक़ल करना कोई बहुत अच्छी बात नहीं।

सत्ता, प्रतिरोध और उत्तर-आधुनिकता

फूको के हिसाब से सत्ता कहीं एक जगह केन्द्रित नहीं होती, वह हर कहीं बिखरी हुई है। न तो कोई सत्ता से बाहर है और न किसी से सत्ता बाहर है। इसलिए प्रतिरोध का भी कोई स्वायत्त क्षेत्र नहीं है। जो प्रतिरोध हो सकता है वह भीतर से ही संभव है। ज़ाहिर है कि वह सत्ता से अनुकूलित भी होगा और उसके विरुद्ध भी। देरिदा के यहां चूंकि सब कुछ टेक्स्ट है इसलिए वहां भी प्रतिरोध का कोई स्वायत्त क्षेत्र नहीं है। वह हद से हद dominant discourses का विकेन्द्रण और क्रिटीक हो सकता है। ज़ाहिर है कि ऐसा प्रतिरोध भी कुल मिलाकर टेक्सचुअल होगा।

विज्ञान की सर्वशक्तिमान पकड़ के खिलाफ़ जोशीले जेहाद और 'सत्ता' के शिकंजे से 'सत्य' को मुक्त कराने की उद्दाम भावना ने उत्तर-आधुनिकता के पुरोधाओं को बुनियादी प्रेरणा मुहैया कराई थी। पराधीन ज्ञान को मुक्त कराने के अपने प्रयास में उत्तर-संरचनावादी और उत्तर-आधुनिकतावादी विचारशाखा के शायद सबसे महत्वपूर्ण स्तंभ फूको ने सत्ता और उसकी उत्पीड़न प्रणाली को विश्लेषित करने में ही अपनी समस्त सैद्धांतिक पड़ताल को दिशा दी। फ़ूको के शब्दों में ''सत्ता का प्राथमिक मतलब आर्थिक संबंधों की बरकरारी या उसका पुनरुत्पादन नहीं है, बल्कि सर्वोपरि वह एक शक्ति संबंध है। अंतर्वस्तु के रूप में सत्ता वह है, जो उत्पीड़न करती है। सत्ता प्रकृति का, सहज वृत्ति का, किसी वर्ग का, व्यक्तियों का दमन करती है...'' (Foucault: Power/ Knowlede, two Lectures) इस तरह की सामान्यीकृत और बिखरी हुई श्रेणी के बतौर सत्ता के अपने विश्लेषण में फूको मार्क्सवाद की उपयोगिता को 'स्थानीय शोध के उपयोगी औज़ारों' के समुच्चय की मान्यता देते हैं, लेकिन वे मार्क्सवाद जैसे ''विश्वव्यापी, सर्वसत्तावादी सिद्धांतों के निषेधकारी प्रभाव'' पर क्षोभ भी व्यक्त करते हैं। फूको के शब्दों में ''मार्क्स के चिंतन के साथ प्रत्यक्षतः या परोक्षतः जुड़ी धारणाओं की समस्त शृंखला का इस्तेमाल किए बग़ैर और मार्क्स द्वारा निरूपति व वर्णित चिन्तन-क्षितिज के अंतर्गत खुद को अवस्थित किए बिना मौजूदा समय में इतिहास लिखना असंभव है।'' इसी के साथ वे यह दुहराते हैं कि ''यदि मार्क्सवाद के खिलाफ़ हमें कोई आपत्ति है तो वह इस तथ्य में निहित है कि मार्क्सवाद कारगर ढंग से विज्ञान साबित हो सकता है... जब मैं आपको मार्क्सवाद की विज्ञानपरकता को स्थापित करने में अपनी ऊर्जा खर्च करते देखता हूँ... तो मेरे लिए इसका अर्थ होगा कि... आप मार्क्सवादी विमर्शों को और ऐसे लोगों को जो उनके पैरोकार हैं प्रतिष्ठापित कर रहे हैं— ऐसी सत्ता के प्रभावों के साथ, जिसके लिए पश्चिम देशों में मध्ययुग से ही विज्ञान को ज़िम्मेदार माना जाता है और जो वैज्ञानिक विमर्शों में लगे लोगों के लिए सुरक्षित रही है।''

''सत्ता वह है, जो दमन करती है''— फूको यही बताते हैं। लेकिन यह दमन क्यों करती है? क्या सिर्फ़ उत्पीड़न का लुत्फ़ उठाने के लिए? परपीड़न कामुकों के लिए यह बात सही हो सकती है, लेकिन दमन के पीछे सर्वाधिक सामान्य और सर्वाधिक व्यापक उद्देश्य क्या हैं? क्या समाज में ऐसी स्थितियां हासिल करना और उन्हें बरकरार रखना इसका उद्देश्य नहीं होता, जो आर्थिक और राजनीतिक आधिपत्य की गारंटी करें? मार्क्सवाद ठीक यही बात कहता है और इन स्थितियों को वर्ग स्थितियों की संज्ञा देता है, साथ में यह भी जोड़ देता है कि शासक वर्गों के हाथों राजसत्ता इन दमनों को अंजाम देते रहने का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण औज़ार है। क्या आप इससे इंकार करते हैं? और जब आप 'दमन की प्रणालियों के विश्लेषण' की मांग करते हैं तो क्या आपको राज्य मशीनरी के ही विश्लेषण से ही आरंभ

नहीं करना चाहिए, जैसा कि मार्क्सवादी करते हैं?

फूको सही निरूपित करते हैं कि ''बुद्धिजीवी के सामने मूल राजनीतिक समस्या है सत्य का उत्पादन करनेवाली राजनीतिक, आर्थिक, संस्थागत शासन प्रणाली'' में परिवर्तन लाना। लेकिन बुद्धिजीवी यह काम कैसे कर पाएंगे– इस बारे में वे बिल्कुल चुप्पी साध लेते हैं। शायद यह एक सुविचारित चुप्पी है। सिद्धांततः, फूको मुक्ति के लिए किसी राजनीतिक परियोजना को ज़रूरत से ज़्यादा खींचने के खिलाफ़ हैं, क्योंकि ऐसी किसी भी परियोजना के सफल होने पर सत्ता के एक नए— संभव है, अधिक दमनकारी-संस्थागत विन्यास का ही जन्म होगा। इसलिए वे एकबार में ही हमेशा के लिए शोषण और दमन मिटाने की सामूहिक कार्रवाही के प्रति स्पष्ट रूप से शंकालु हैं। वे सिर्फ सत्ता के खिलाफ़ स्थानीकृत, आंशिक चरित्र वाले प्रतिरोध का ही अनुमोदन कर सकते हैं। उनका राजनीतिक दर्शन एक अमूर्त स्वातंत्र्यवाद है, जो अपना कोई ठोस लक्ष्य निर्धारित नहीं कर सकता, और न उसे ऐसा करना चाहिए। उनका दर्शन विद्रोह की एक 'शुद्ध आत्मा' है, जो कार्रवाहियों के वास्तविक दौर से बचता रहता है।

इतिहास और उत्तर-आधुनिकता

इतिहास लेखन में पिछले 40 वर्षों में जो नए मुद्दे, और बहसें शामिल हुई हैं उनमें उत्तर आधुनिकता की चुनौती का बड़ा हिस्सा है। रोलाँबार्थ ने यह मानने से ही इंकार कर दिया कि अतीत का कोई स्वतंत्र अस्तित्व होता है। उनके जैसों के लिए अतीत का इतिहासकारों द्वारा प्रतिनिधिकरण या निरूपण ही अतीत का यथार्थ है, क्योंकि इतिहास में जो चीजें पुनर्निर्मित की जाती हैं वे पाठों और विमर्शों की शृंखला के अलावा भला क्या हैं? देरिदा तो और आगे जाकर कहते हैं कि भाषा के बाहर कुछ नहीं है। सब कुछ पाठ है। ज़ाहिर है कि यह दृष्टिकोण इतिहास के आनुभविक आधार को ही ध्वस्त करता है। इतिहासकारों पर मिशेल फूको का सर्वाधिक असर है।

फूको ने 'इतिहास' के ज्ञानात्मक व्यवहार से अलग ज्ञान की पुरातात्विक समझ (archeology of knowledge) विकसित की। विचारों और संस्थाओं की आनुवांशिकी को समझना उनका मुख्य कार्यक्षेत्र बना। उनके अनुसार इतिहासकार निरंतरताओं की व्याख्या करते हुए विच्छिन्नताओं और असंबद्धताओं को विकास और प्रगति के वृहत्तर चौखटे में जड़ देता है। जबकि फूको की दिलचस्पी इन्हीं अंतरालों, असंबद्धताओं, व्यतिक्रमों और अंतर्विरोधों में है, जिन्हें वे किसी सर्वसमावेशी (totalising) आख्यान में सामान्यीकृत (normialise) नहीं करना चाहते। उत्तरआधुनिकता ज्ञान के संपूर्णतावादी यानी totalising प्रवृत्ति के खिलाफ हैं। totalising वह प्रक्रिया है जिसके जरिए कोई इतिहासकार या सिद्धांतकार अपनी सामग्री को सुसंगति, निरंतरता और एकताबद्ध रूप प्रदान करता है। इस प्रक्रिया में अनिवार्य रूप से वह उस सामग्री पर अपने आधिपत्य और उस्तादी को स्थापित करता है। उनके अनुसार ज्ञानोदय प्रसूत प्रगति की विकासवादी धारणा ने इतिहास की 'सर्वसमावेशी' पद्धति को जन्म दिया जिसमें अतीत की हर विसंगति को तराशकर साफ सुथरे विकासवादी ढांचे में अँटा दिया जाता था। इतिहास और उसके लेखन में निरंतरता की धारणा को चुनौती देना उनके अनुसार संपूर्णतावादी धारणा को ही चुनौती देना है। अब कारणता और सादृश्य की समरूपता की जगह, फूको के अनुसार

इतिहासकार मुक्त होकर उन वैविध्यपूर्ण, परस्पर भिन्न और अंतर्विरोधी विमर्शों की छितराती, बिखरती, अन्योन्यक्रिया के रूप में इतिहास को समझ सकता था, जिसमें अतीत और अतीत के हमारे ज्ञान की अनिश्चयता का स्वीकार निहित है। फूको के हस्तक्षेप से इतिहास के एकत्ववादी, परिसीमित और विकासवादी आख्यानों की जगह इतिहास की बहुवचनीयता की धारणा को प्रश्रय मिला। अब इतिहास अनेक हो सकते थे। विजेताओं और हारे हुओं के अलग-अलग इतिहास संभव थे, केन्द्र और हाशिए, स्त्री और पुरुष, उपनिवेशक और उपनिवेशित, सबके अलग और परस्पर विरोधी इतिहास संभव थे । अतीत की घटनाएं स्वयं हमारे सामने नहीं होतीं हैं, उनके आख्यान ही होते हैं, जो कि निर्मित किए जाते हैं, उनकी ज्ञानात्मक व्यवस्था स्वतः नहीं बनती, बल्कि बनाई जाती है। टुकड़ों और कतरों में विभाजित अतीत को इतिहास, विमर्श के किसी परिक्षेत्र में व्यवस्थित करता है और इन विमर्शों में कुछ खास सामाजिक और वैचारिक संदर्भ उत्कीर्ण होते हैं। फूको के हस्तक्षेप से इतिहास का 'अर्थ' अब अधिक अस्थिर, संदर्भगत, संबंधात्मक और कामचलाऊ माना जाने लगा।

फूको ने The Order of Things में यह दिखलाया कि सुसंगत, निरंतर, स्वायत्त और मुक्त 'कर्ता' दरअसल इतिहासतः अनुकूलित और निर्धारित निर्मित है। फूको का यह कहना कि मानवीय कर्ता इतिहासतः अनुकूलित होता है स्वायत्त नहीं, मार्क्सवाद सहित दूसरी विचारशाखाओं में पहले ही मान्य रहा है, लेकिन कर्ता कुल मिलाकर निर्मित ही है, और वह भी संकेतन प्रणाली के माध्यम से बनी एक textual निर्मिति है, यह धारणा और कोई नहीं मान पाता। उत्तरआधुनिकता के लिए इतिहास और आख्यान में इसलिए फ़र्क नहीं क्योंकि ऐतिहासिक दस्तावेज खुद ही अतीत का निरूपण मात्र है तथा ऐतिहासिक घटनाक्रम के जो अभिलेख मिलते हैं वे स्वयं न तो निर्दोष होते हैं न निष्पक्ष। वे स्वयं जिन घटनाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं उनके साथ उनका संबंध आलोचनात्मक और यहां तक कि रूपान्तरकारी भी हो सकता है। दिक्कत यह है कि इतिहास लेखन को अभिलेख केन्द्रित मानना अपने आप में ही आंशिक रूप से ही सही है। दरअसल पुरातत्त्व और मुद्राशास्त्र को भौतिकवादियों ने पहले भी ज़्यादा भरोसे की चीज़ माना। हालांकि इस बात से भी उत्तर आधुनिक ज्ञानमीमांसा को फ़र्क नहीं पड़ता क्योंकि उनके लिए टेक्स्ट का अर्थ महज़ भाषा नहीं बल्कि वस्तु संसार भी है जिसे वे संकेतन की प्रणाली के भीतर ही निबिद्ध मानते हैं।

ब्रिटिश इतिहासकार हॉब्सबॉम ने 1993 में The New Trend To History शीर्षक लेख में लिखा ''पश्चिमी विश्वविद्यालयों में खासतौर पर साहित्य और मानवविज्ञान के विभागों में एक बौद्धिक फ़ैशन के रूप में उत्तरआधुनिकता का उत्थान हुआ है जो यह संकेत करता है कि वस्तुगत अस्तित्व का दावा करने वाले सभी 'तथ्य' महज़ बौद्धिक निर्मितियां हैं। संक्षेप में तथ्य और आख्यान में कोई स्पष्ट अंतर नहीं है। लेकिन इतिहासकारों के लिए यहां तक कि सर्वाधिक रैडिकल प्रत्यक्षवादविरोधी इतिहासकारों के लिए भी इन दोनों के बीच अंतर करना बुनियादी रूप से ज़रूरी बात है।'' हॉब्सबॉम ने इसी लेख में यह दिखलाया कि किस प्रकार मेहनत से लिखे गये ऐतिहासिक प्रबंध इतिहास के नाम पर भारत, इज़राइल, बाल्कन देशों और अन्य जगहों पर लिखे गये प्रतिक्रियावादी काल्पनिक आख्यानों को निरस्त करने में सफल हुए। वे दिखलाते हैं कि किस तरह उत्तरआधुनिक दृष्टिकोण इन खतरों के सामने हमें निहत्था बनाता है।

साम्राज्यवाद, भूमंडलीकरण और उत्तरआधुनिकता

फूको के अनुसार normative तर्कवाद उसी तरह से सत्ता बनाता है जैसे शरीर में वायरस। यह bio-political power आत्मसंचालित और आत्मोत्पादक है। Empire शीर्षक अपनी पुस्तक में माइकल हार्ट और एन्टोनियो नेग्री ने साम्राज्य को bio-political production और bio-political social order से निर्मित माना है। सत्ता के बारे में जीवविज्ञान की सैद्धांतिकी का मॉडल लेकर फूको, डेल्यूज़, गुअतारी ने सत्ता की जो संकल्पना खड़ी की है वह साम्राज्य के एक ऐसे वर्णन में काम आती है जिसके बाहर कुछ नहीं है। हार्ट और नेग्री लिखते हैं, ''वृहद transnational corporation ही इस जैव-राजनीतिक विश्व की बुनावट के बुनियादी धागे हैं। पूंजी का संगठन सदैव ही समूची दुनिया को अपने घेरे में लेने के लिए प्रयासरत रहा है लेकिन 20वीं सदी के उत्तरार्द्ध में ही बहुराष्ट्रीय और वित्तीय कॉरपोरेशनों ने दुनिया के भौगोलिक क्षेत्रों को जैव-राजनीतिक तौर पर ढांचाबद्ध करना शुरू किया.... वह स्थान जहां हम व्यवस्था के जैव-राजनैतिक उत्पादन को चिन्हित कर सकते हैं वह है संचार उद्योगों द्वारा विकसित भाषा, संचार और संकेत व्यवस्था के उत्पादन के अपार्थिव गठजोड़, संचार नेटवर्कों को विकास का नई विश्व-व्यवस्था के उदय के साथ आवयविक संबंध है.....लगभग सारी ही मानवता किसी सीमा तक पूंजीवादी शोषण के नेटवर्कों में या तो सोख ली गई है या फिर मातहत बना ली गई है.'' (Michael Hardt & Antonio Negri, Harvard University Press, 2001, pg-31-32) ज़ाहिर है कि सारी दुनिया जिस सूचना और संचार के सर्वव्यापी संजाल से शासित है वह संजाल एक अविशेषीकृत, अमूर्त, अपार्थिव और समांगी विश्वपूंजीवाद है।

बहुराष्ट्रीय निगमों के उत्थान की प्रवृत्ति लगभग एक सदी पहले शुरू हो चुकी थी लेकिन उसने एक पूरी तरह से नए दौर में प्रवेश कर लिया है। 1998 के आंकड़ों के अनुसार यदि विश्व की 100 अर्थव्यवस्थाओं के वार्षिक सकल घरेलू उत्पाद की एक लिस्ट बनाई जाए तो उनमें 51 निगम होंगे और 49 देश। दुनिया के शीर्षस्थ 200 निगमों का वार्षिक उत्पादन 9 सबसे बड़ी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं को छोड़कर बाकी दुनिया के सकल घरेलू उत्पाद से ज़्यादा है। लेकिन तस्वीर का दूसरा पहलू यह है कि लगभग सभी बहुराष्ट्रीय निगम अपने गृह-राष्ट्रों में न केवल पूरी तरह से जमे हुए हैं बल्कि उन राष्ट्रों की सत्ताएं उनके हितों का पूरी तरह से संरक्षण करती हैं। बहुराष्ट्रीय निगमों को महज़ पूंजी और तकनीक का चमत्कार मानना मूर्खता है। वे अंतर्राष्ट्रीय व्यापार और युद्ध में अलग-अलग राष्ट्रीय ताक़तों के हाथ में ताक़तवर औज़ार की तरह है।

आज जब हम उत्तर आधुनिकता पर चर्चा कर रहे हैं तब उसका पानी बहुत कुछ उतर चुका है और अब हम उसके इतिहास की ही बात कर सकते हैं। यह भी विडंबना ही है कि ऐसी वैचारिक प्रवृत्तियां जो इतिहास, विचारधारा, यथार्थ, मानवीय कर्ता इत्यादि के अंत की घोषणाओं की प्रेरक रहीं, आज हम उन्हीं के इतिहास और विचारधारा पर चर्चा को बाध्य हैं। कुछ लोगों को इस तरह की चीज़ें बड़ी छिछोरी लगेगी लेकिन क्या किया जाए, ऐसा जब हो ही गया है। आज तो उत्तर आधुनिकता की प्रासंगिकता के नए-नए तर्क गढ़े जा रहे हैं। पूंजी की उत्तरजीविता जितनी भी उत्तरआधुनिकता की उत्तरजीविता नहीं बची। कुछ लोग अभी भी यह कह रहे हैं कि पूंजी का बाजार चूंकि विश्वव्यापी हो गया है इसलिए विश्व मज़दूर का भी उदय हो गया है। हकीक़त ये है कि बहुराष्ट्रीय पूंजी ने मज़दूरों को भरसक अपने ही देश में

महदूद रखने के लिए आव्रजन नियम पहले से ज़्यादा कड़े कर दिए। योरप के राष्ट्राध्यक्षों की चिंता है कि अधिकतम संभव mechanisation के बाद भी मज़दूरों की ज़रूरत है जबकि योरप की जनसंख्या घट रही है। इस संकट के बावजूद वे पिछड़े देशों से मज़दूर आयात करने को तैयार नहीं हैं। उन्हें work permit दी जाएगी तो नागरिक अधिकार नहीं मिलेंगे और किसी देश में नागरिक अधिकार भी मिल जाएं तो बसने की इजाज़त नहीं होगी। लिहाज़ा श्रम का भूमंडलीकरण और सूचना संचार के तेज प्रवाह की तरह श्रम का भूमंडलीकरण प्रवाह कहीं देखने में नहीं आता। ठीक इसी तरह भूमंडलीकरण के साथ उत्तर आधुनिकता के आवयविक संबध पर ज़ोर देने वाले लोग संचार क्रांति पर सवार भूमंडलीय पूंजी प्रवाह के युग में राष्ट्र-राज्यों के पीछे हटने और अप्रासांगिक होने की बात कर रहे थे। लेकिन हकीक़त यह है कि राष्ट्र-राज्य बाक़ायदा बरक़रार हैं और बढ़-चढ़कर इस प्रवाह में अपनी भूमिका निभा रहे हैं। जेम्स पेत्रास ने दिखलाया है कि किस प्रकार अधिकांश बहुराष्ट्रीय निगम मुट्ठीभर राष्ट्र-राज्यों से आते हैं और उनके बहुराष्ट्रीय क्रियाकलाप की कल्पना भी नहीं की जा सकती यदि उनके मूल राष्ट्र-राज्य उनके लिए ताक़त का इस्तेमाल न करें। बहुराष्ट्रीय निगमों में 500 सबसे बड़े निगमों में से आधे अमरीकी हैं।

उत्तर आधुनिकता से सीखकर मार्क्सवाद का विकास करने की वकालत करने वाले बता रहे हैं कि मज़दूर का चाल-चेहरा-चरित्र बदल चुका है। वह पारदेशीय हो चला है और मार्क्स ने भी तो 'दुनिया के मज़दूरों एक हो!' कहा था। ऐसे में भला अप्रासंगिक हो उठे राष्ट्र-राज्य वाली चौहद्दी में पुराने किस्म की सर्वहारा राजनीति का क्या भविष्य? लेकिन जरा सोचिए कि ये मार्क्स ही थे जिन्होंने उसी कम्युनिस्ट मैनीफ़ेस्टो में यह कहा था कि मज़दूर वर्ग को सबसे पहले अपने राष्ट्र-राज्य के भीतर के पूंजीपति वर्ग पर विजय प्राप्त करनी होगी। यानी खुद राष्ट्र बन जाना होगा। दरअसल उत्तर आधुनिकता ने जिस ज्ञानमीमांसा के आधार पर संभवतः मार्क्सवाद से ज़्यादा smart गति से ज्ञान और सूचना के प्रवाह तथा विज्ञान और तकनीक की नई उपलब्धियों को ध्यान में रखते हुए अपना विकास किया, वह ज्ञानमीमांसा मार्क्सवाद की नहीं हो सकती।

यथार्थ और उत्तरआधुनिकता

बॉद्रिला ने अपने एक लेख The Precession of Simulacra में यह कहा कि mass media ने यथार्थ को कदम दर कदम निष्प्रभावी बनाया। पहले उसने यथार्थ को प्रतिबिम्बित किया, फिर उसे ढंका और विरूपित किया, उसके बाद उसने यथार्थ के अभाव को ढंका और अंत में उसने यथार्थ के भ्रम या प्रपंच को पैदा किया। यानी अर्थ और यथार्थ के साथ अर्थ के संबंध को पूरी तरह से नष्ट किया। बॉद्रिला के इस लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि वे मानते हैं कि कभी यह संभव भी रहा होगा कि यथार्थ तक बगैर मध्यस्थता के पहुंचा जा सके। लेकिन दूसरे उत्तरआधुनिक यह मानते हैं कि mass media के पहले भी किसी मौलिक यथार्थ का अस्तित्व संभव नहीं था। हम यथार्थ को प्रतिनिधिकरण या निरूपण के ज़रिए ही जान सकते हैं। यथार्थ, प्रतीक चिन्हों की व्यवस्था के माध्यम से दुनिया के विमर्शों में संगठित होकर ही अर्थवान बनता है। लिहाज़ा उत्तरआधुनिकों के लिए जो एकमात्र राजनीति संभव है वह प्रतिनिधिकरण या निरूपण की राजनीति है। उनका मानना है कि यथार्थ के बारे में हमारी common sense मान्यता इस बात पर आधारित होती है कि उसे किस प्रकार प्रस्तुत, किया गया है, किस प्रकार विमर्श में अवस्थित

किया गया है, किस तरह व्याख्यायित किया गया है। यानी प्रस्तुति,विमर्श में अवस्थिति और व्याख्या की मध्यस्थता किसी भी यथार्थ में निहित है। अर्थात् इनके बग़ैर कोई यथार्थ संभव नहीं है। यथार्थ के बारे में कुछ भी नैसर्गिक नहीं है और कभी भी नहीं रहा है। mass media के अस्तित्व में आने के पहले भी। उत्तरआधुनिक सिद्धांत और व्यवहार यह इंगित करता है कि हर चीज़ इस अर्थ में सांस्कृतिक है कि वह प्रतिनिधिकरण की मध्यस्थता के कारण ही ज्ञान का विषय बनती है। इस प्रकार सत्य, संदर्भ और ग़ैर सांस्कृतिक यथार्थ की धारणाएं अब समाप्त हो चली हैं, जैसा कि बाँद्रिला का दावा है। इस प्रकार उत्तरआधुनिक ज्ञानमीमांसा के लिए सारा संसार ही संकेतन, निरूपण या प्रतिनिधिकरण से बना है। इनके पार कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिस तक सीधा पहुंचा जा सके। उत्तर आधुनिक ज्ञानमीमांसा प्रतिनिधिकरण के उस यथार्थवादी धारणा के खिलाफ़ है जिसमें माध्यम की पारदर्शिता शब्द और दुनिया के बीच, संकेतचिह्न और वस्तु के बीच, प्रत्यक्ष या नैसर्गिक संबंध माना जाता था। आधुनिकतावादी कला ने भी इसे चुनौती दी थी जब उसने कहा कि माध्यम स्वयं में पूर्ण है अतः अपारदर्शी है। भाषा अपने से बाहर किसी अन्य वस्तु का संकेत नहीं करती है। बल्कि वह एक आत्मनिर्भर संकेत विधान है। इसी धारणा के चलते कला की स्वायत्तता जैसे विचारों का जन्म हुआ। उत्तरआधुनिकता यथार्थवादी पारदर्शिता और आधुनिकतावादी स्वचेतनता दोनों को इतिहास और संस्कृति निर्मित बताते हुए उनकी नैसर्गिकता के दावे को चुनौती देती है। उत्तरआधुनिकता। यथार्थवादी और कलावादी दोनों तरह के दावों के कहानीपन या आख्यान होने के प्रति सजग है। कह सकते हैं कि उत्तरआधुनिक कथा लेखन की आत्मसजगता दरअसल आख्यानपरक प्रतिनिधिकरण के अनचीन्हें और नैसर्गिक आशयों के प्रति सजगता है। रोलाँबार्थ ने एक बार प्रश्न उठाया कि क्या यथार्थ का यह लक्षण नहीं है कि उस पर आधिपत्य नहीं स्थापित किया जा सकता? और क्या यह व्यवस्था या प्रणाली का लक्षण नहीं है कि वह प्रभुत्व स्थापित करे? तब वह व्यक्ति जो आधिपत्य को नकारता है वह यथार्थ का सामना कैसे करे? दरअसल बार्थ ने यहीं उत्तरआधुनिकता के ज्ञानमीमांसीय द्वंद्व को सामने रखा है जिसका अर्थ यह है कि उत्तरआधुनिक ज्ञान भी किसी भी अन्य ज्ञान की तरह प्रभुत्व से मुक्त नहीं है। उसके पक्ष में इतना ही कहा जा सकता है कि वह इस प्रभुत्व के प्रति, उसकी ताक़त और सीमाओं के प्रति, उसके विनिर्मित होने के प्रति सचेत है। इसी तरह यथार्थ, मानव केन्द्रिकता या किसी भी केन्द्र को न मानने वाली और अपकेन्द्रित करने वाली उत्तर आधुनिकता क्या सचमुच केन्द्र-विहीन है। क्या फूको के विमर्शों का केन्द्र सत्ता नहीं है? क्या देरिदा के विमर्शों का केन्द्र लेखन नहीं है?

उत्तर-आधुनिकता संबंधी जो प्रश्न दिमाग़ में उठते हैं उन्हें मैं यहाँ रखते हुए यह कहना चाहता हूँ कि इसकी सैद्धांतिकी के साथ बहस का अभिप्राय यह नहीं है कि उत्तर-आधुनिकता की चुनौती ने ज्ञान के विकास में कुछ भी उल्लेख योग्य योगदान नहीं किया है। खासकर साहित्य और संस्कृति के रूपों और युक्तियों, ज्ञानात्मक और सत्ता संबंधों के बारे में इसके प्रकांड अध्येताओं के साथ जूझते हुए हम अवश्य ही अपने समकालीन संसार, मानवजीवन और चेतना की अधिक सकारात्मक समझ की ओर कदम बढ़ा सकते हैं।

उन्मुख

इस वर्ष का नोबेल पुरस्कार जर्मन लेखिका हेरटा मुलर को मिला है। इस मुबारक मौक़े पर अपने पाठकों के लिए हम हेरटा मुलर के आत्मवृत्त का एक अंश विशेष रूप से यहाँ दे रहे हैं। यह आत्मवृत्त इस सच्चाई की तरफ़ हमें उन्मुख करता है कि तानाशाही के प्रेतों से मुक्ति अभी भी हमारे लेखकों को नहीं मिल पाई है।

और वैज्ञानिकों को भी कहाँ? ऐसे कई उदाहरण वैज्ञानिकों के जीवन में भी देखने को मिलते हैं जब राज्यों ने अपनी तरफ़ से वैज्ञानिकों के अंतरराष्ट्रीय रिश्तों को बहुत ही संदेह की नज़र से देखा और वैज्ञानिकों से कभी-कभी उनके अपने ही देशों में 'क़ैदियों' की तरह का व्यवहार किया गया। विज्ञान को अपनी सकारात्मक भूमिका में, विश्व-मानव के लिए, बिना किसी भेद-भाव के, आने का अवसर क्या आज भी मिल पा रहा है? इस चिंता में जब तक राज्य और वैज्ञानिक-समाज, दोनों का साझा न हो, विकास का ढोल पीटना व्यर्थ है। विज्ञान और मनुष्य-समाज एक-दूसरे के प्रति किस व्यापक समझदारी के साथ उन्मुख हों-इस पर प्रकाश डालने वाला एक पत्र भी हम इसी स्तंभ में प्रकाशित कर रहे हैं, जो प्रसिद्ध जर्मन वैज्ञानिक (१९३२ में भौतिकी के लिए नोबेल पुरस्कार से सम्मानित) वार्नर हाइजेनबर्ग ने कॉमिलिटॉनेन को १९४६ में लिखा था।

विज्ञान और अंतरराष्ट्रीय समझ

हाईजेनबर्ग

वार्नर हाइजेनवर्ग का जन्म जर्मनी के डुइसबर्ग में 1901 में हुआ था। म्यूनिख में उन्होंने सैद्धान्तिक भौतिकी की पढ़ाई की और 1932ई. में भौतिकी का नोबेल पुरस्कार प्राप्त किया। उन दिनों के जर्मनी के विश्वविद्यालयों की झलक प्रसिद्ध वैज्ञानिक मैक्स बॉर्न इस तरह देते हैं, ''उन दिनों जर्मनी के विश्वविद्यालयों में कक्षा की परीक्षाओं के बिना और छात्रों पर बिना किसी नियंत्रण के साथ, पढने और पढ़ाने की पूर्ण स्वतंत्रता थी। विश्वविद्यालय मात्र लैक्चर्स मुहैया कराते थे और छात्रों को खुद निर्णय लेना होता था कि वे किसके लैक्चर में उपस्थित हों।'' इस व्यवस्था ने कई नोबेल पुरस्कार विजेता उत्पन्न किये, हाइजेनबर्ग उन्हीं में से एक थे। वे एक जोशीले पर्वतारोही और स्कीइंग करने वाले भी थे।

हाइजेनबर्ग का ''अनिश्चितता का सिद्धान्त'' उनके सभी अनुसंधानों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, जिसपर दार्शनिक विमर्श हुए। क्वान्टम भौतिकी ने भौतिकी की कई समस्याओं का हल प्रदान किया, लेकिन् क्वान्टम भौतिकी के ही महत्वपूर्ण अनुसंधान कर्त्ता अल्बर्ट आइंस्टीन इस विकास को लेकर हमेशा शक की स्थिति में रहे। एक बार जब हाइजेनबर्ग अपने अनिश्चितता के सिद्धान्त पर भाषण दे चुके तो आइन्सटीन ने प्रतिक्रिया दी थी,'' अद्भुत! नये लोगों के पास जो विचार हैं, वे कमाल के हैं, लेकिन मैं इनके एक भी शब्द पर विश्वास नहीं कर सकता।'' तथापि अनिश्चितता का सिद्धान्त क्वान्टम भौतिकी के महत्वपूर्ण आधारों में से एक है, और क्वान्टम भौतिकी के वर्तमान में भौतिकी में हो रहे सभी अनुसंधानों का आधार है।

हाइजेनबर्ग उन बहुत थोड़े से महत्वपूर्ण वैज्ञानिकों में से एक थे, जो नाज़ी समय में जर्मनी में ही रहे। द्वितीय विश्वयुद्ध में उन्होंने परमाणविक अनुसंधानों का नेतृत्व किया लेकिन युद्ध के अंत तक परमाणविक हथियार बनाने के कार्य में बहुत कम प्रगति हो सकी। बाद में खुद उन्होंने स्वीकार किया कि ऐसे खतरनाक हथियार बनाने के लिए उनकी नैतिकता गवाही नहीं देती थी, इसीलिए इस लक्ष्य से उन्होंने बड़ी बुद्धिमत्ता के साथ अपने क़दम पीछे हटा लिये थे। अमेरिका को

जब हाइजेनबर्ग के परमाणविक बम पर कार्यरत होने का समाचार मिला, तो अमेरिकी सरकार ने पूर्व बोस्टन रेड सॉक्स कैचर 'मोइ बर्ग'को स्विटज़रलैंड में चल रहे भाषण में हाईजेनबर्ग की हत्या के लिए भेजा, लेकिन दूसरी पंक्ति में बैठे 'मोइबर्ग'ने हाइजेनबर्ग के कथन सुने और स्वयं जर्मन परमाणविक बम कार्यक्रम की प्रगति पर अनिश्चित्ता की स्थिति में पहुँच गया तो उसने अपनी पिस्तौल जेब से बाहर नहीं निकाली। विज्ञान-प्रसार में लगे कॉमिलिटॉनेन ने 1946 में जब हाईजेनबर्ग से ''विज्ञान और अंतरराष्ट्रीय समझ'' पर विचार माँगे तो उन्होंने कॉमिलिटॉनेन को यह पत्र लिखा—इसका हिंदी अनुवाद किया है भौतिक विज्ञानी **मेहरबान राठौर** ने—

प्रिय कॉमिलिटॉनेन,

यह अक्सर कहा जाता है कि विज्ञान को जनता और अंतरराष्ट्रीय समझ के बीच का सेतु होना चाहिए। इस पर भी बार-बार बहुत ही न्यायसंगत ढंग़ से सिद्ध करते हुए ज़ोर दिया जाता है, कि विज्ञान अंतरराष्ट्रीय होता है; यह आदमी के विचारों को उन मामलों की ओर निर्देशित करता है, जो सभी लोग समझते हैं। और जिनके समाधान में विभिन्न भाषाओं, नस्लों या धर्मों के वैज्ञानिक समानता से शरीक होते हैं। इस विशेष समय में, विज्ञान की इस भूमिका के सम्बन्ध में तुम्हें कह रहा हूं; यह ज़रूरी है कि हमें अपने लिए चीज़ों का इतना सरलीकरण नहीं करना चाहिए। हमें विपरीत सिद्धान्त पर भी विचार-विमर्श करना चाहिए; जो कि हमारे कानों में अभी तक ताज़ा है कि विज्ञान राष्ट्रीय होता है। और यह कि विभिन्न नस्लों के विचार मूलभूत रूप से अलग-अलग होते हैं। यह दृष्टिगोचर होता है कि विज्ञान को पहले उदाहरण के रूप में,अपने लोगों की सेवा करनी पड़ी थी और अपनी खुद़ की राजनीतिक शक्ति की सुरक्षा में सहायता भी करनी पड़ी थी : कि विज्ञान सभी तरह के तकनीकी विकास का आधार तैयार करता है; अतः सभी तरह की प्रगति और साथ ही सैन्य शक्ति का भी। यह भी पाया गया कि मूलभूत विज्ञानों और दर्शनों का कार्य हमारे विश्वासों को आधार प्रदान करना था। ये प्रकारान्तर से, हमारे अपने लोगों के बीच राजनीतिक शक्ति की नींव के रूप में देखे गये। इन दोनों तर्कों में कौन सही है और तर्कों के सापेक्ष गुण क्या हैं? जो कि इनके पक्ष में दिये जा सकते हैं; मैं इस पर विचार विमर्श करना चाहता हूँ।

इस प्रश्न पर स्पष्ट होने के लिए हमें यह खोजना पड़ेगा कि सर्वप्रथम विज्ञान को प्रगति का रास्ता कैसे मिलता है? कैसे एक व्यक्ति विशेष वैज्ञानिक समस्याओं के सम्पर्क में आता है? और ये समस्याएँ उसके इस शौक को कैसे उत्तेजित करती हैं। तुम मुझे ग़लत नहीं समझोगे, यदि मैं परमाणविक भौतिकी की बात करूँ, और अपने अनुभवों को छात्र के रूप में याद करूँ, क्योंकि मैं केवल अपने विज्ञान को ही अच्छी तरह से जानता हूँ।

म्यूनिख विश्वविद्यालय आने के लिए जब मैंने 1920 ई0 में स्कूल छोड़ा, तब हमारे युवाओं की नागरिकों के रूप में स्थिति, आज की स्थिति से बहुत मेल खाती थी। प्रथम विश्वयुद्ध में हमारी हार ने उन सभी आदर्शों के प्रति गहरा अविश्वास उत्पन्न किया, जो कि युद्ध में प्रयोग किये गये और जिन्होंने युद्ध में हमें पराजय का रास्ता दिखाया। जो अब खोखले प्रतीत होते हैं। हम अपने लिए यह जानना चाहते थे कि इस दुनिया में क्या मूल्यवान है और क्या नहीं? हम लोग अपने अभिभावकों और शिक्षकों पर विश्वास नहीं करना चाहते थे। इस प्रक्रिया में कई अन्य के इतर हमने विज्ञान को पुनः मूल्यवान पाया। कुछ चर्चित पुस्तकें पढ़ने के पश्चात्, मैंने विज्ञान की एक शाखा, जो परमाणुओं से सम्बन्धित थी, में अपने रुचि जगानी शुरू की और सापेक्षवाद के सिद्धान्त में दिक्काल से सम्बन्धित विशेष कथ्यों पर अपना नज़रिया विकसित करना चाहा। इस राह में, मैं अपने गुरु सोमरफ़ील्ड के भाषण सुनने आया, जिन्होंने इस आग को हवा दी और जिनसे मैंने इस दौरान सीखा, कि कैसे प्लाँक, रदरफ़ोर्ड, और बोर के अनुसंधानों से परमाणु के बारे में एक नई और गहरी समझ विकसित हुई। मैंने जाना कि डैन, नील्सबोर, और अंग्रेज रदरफ़ोर्ड ने परमाणु की सूक्ष्म सौरमंडल की तरह होने की कल्पना की; और यह भी जाना कि तत्वों की सभी रासायनिक विशेषताओं की भविष्यवाणी बोर सिद्धान्त की सहायता से की जा सकेगी, इलैक्ट्रान के ग्रहीय पक्ष का इस्तेमाल करते हुये। उस समय तक, यद्यपि यह पाया नहीं जा सका था। इस अंतिम बिन्दु ने मुझे सर्वाधिक आकर्षित किया और 'बोर' के प्रत्येक नवीन कार्य पर ओज और जोश के साथ म्यूनिख़ सेमिनार में विचार विमर्श हुआ। गोटिंगटन में, ग्रीष्मकाल में सोमरफ़ील्ड ने मुझे नील्सबोर द्वारा दिये जाने वाले परमाणविक सिद्धान्त से सम्बन्धित भाषणों को अपने साथ सुनने के लिए आमंत्रित किया। तुम अच्छी तरह यह कल्पना कर सकते हो कि इस घटना का मेरे लिए क्या महत्व था? जो कि भविष्य में 'बोर उत्सव' के रूप में जानी जायेगी, गोंटिंगटन के भाषणों की इस शृंखला ने बहुत तरह से विज्ञान और विशेष रूप से परमाणविक भौतिकी की ओर मेरे रुझान का निर्धारण किया था।

सर्वप्रथम, बोर के भाषणों से हम एक इंसान के विचारों की शक्ति का अनुभव कर सके जो इन समस्याओं के साथ गम्भीरतापूर्ण ढंग से जुड़ा हुआ नहीं था और जो सम्पूर्ण विश्व में किसी अन्य की अपेक्षा इन समस्याओं को समझता भी था। द्वितीय, कुछ बिन्दु ऐसे भी थे, जिनके सम्बन्ध में बोर की व्याख्या से पहले मैंने अपना अलग दृष्टिकोण विकसित किया था। रौन्स और हैन्सबर्ग तक की पैदल यात्राओं में इन प्रश्नों पर ख़ासी बहस हुई।

इन वार्तालापों ने मुझ पर गहरा प्रभाव छोड़ा। सर्वप्रथम, मैंने सीखा कि जब हम परमाणविक संरचना को समझने की कोशिश कर रहे हों तब किसी का जर्मन या डेनिश या अंग्रेज़ होना स्वाभाविक रूप से महत्वहीन था। मैंने कुछ और भी अधिक महत्वपूर्ण बात जानी कि विज्ञान में निर्णय हमेशा, क्या सही है और क्या ग़लत है? तक पहुँच जाता है। यह (विश्वास) आस्था का प्रश्न नहीं था, और न ही परिकल्पना का। एक निश्चित कथ्य साधारणतया सही हो सकता था और दूसरा कथ्य साधारणतया ग़लत। न तो उत्पत्ति, न नस्ल इस प्रश्न को निर्धारित करती है। यह प्रकृति द्वारा निर्धारित किया जाता है, आप चाहें तो ईश्वर द्वारा कह सकते हैं, इंसान द्वारा कतई नहीं।

इन अनुभवों से अत्यधिक समृद्ध होकर मैं म्यूनिख़ लौटा और सोमरफ़ील्ड के निर्देशन में अपना कार्य जारी रखा। जब मैंने अपनी डॉक्टरेट की परीक्षा पास कर ली, तब मैं तथाकथित रॉकफ़ैलर ग्रान्ट की सहायता से, 1924 के बसन्त में ''बोर'' के साथ कार्य करने कॉपेनहेंगन गया। वहां मैं विभिन्न

राष्ट्रीयताओं; अंग्रेज़, अमेरिकी, स्वीडिश, नॉर्वेइयन, डच और जापानी युवाओं के चक्र में शामिल हो गया। सभी एक ही विषय 'बोर का परमाणविक सिद्धान्त' पर काम करना चाहते थे। वे लगभग सदैव एक बड़े परिवार की तरह सैर-सपाटा करने, खेलने और बैठकों में भाग लेने के लिए साथ रहते। भौतिकविद्ों के इस चक्र में मेरे पास, दूसरे देशों के लोगों और उनकी विचार प्रक्रिया को यथार्थपूर्ण ढंग से जानने का सुअवसर था। दूसरी भाषाओं को सीखना और बोलना एक आवश्यकता बन गयी थी, जो कि जीवन जीने के दूसरे तरीकों, विदेशी साहित्य और विदेशी कलाओं से रूबरू होने का बेहतर तरीका था। मैं साफ़ तौर पर और अधिक स्पष्टता से यह देख सकता था कि जब एक कठिन वैज्ञानिक समस्या को सुलझाने के लिए संयुक्त प्रयास किये जाते हैं, देशों और नस्लों की विविधता कितनी कम महत्वपूर्ण होती है। विचारों की असमानता जो कि कलाओं में स्पष्ट दिखती थी, मुझे ख़ुद की सम्भावनाओं को समृद्ध करने का ज़रिया प्रतीत हो रही थी, न कि एक व्यथा उत्पन्न करने वाला कारक।

इस पृष्ठभूमि के साथ, मैं 1925 ई. के ग्रीष्मकाल में कैम्ब्रिज आया और रूसी भौतिकविद 'किपल्जा' के अध्ययन पर मैंने एक कॉलेज में कुछ सिद्धान्तविदों के समक्ष एक भाषण दिया। वहाँ उपस्थित लोगों में से एक असाधारण रूप से बुद्धिमान छात्र जोकि बमुश्किल 23 साल का होगा, ने मेरी समस्याओं को स्वीकार किया और कुछ ही महीनों में परमाणविक सेल के विस्तृत सिद्धान्त की रचना की। उसकी विचार प्रक्रिया मुझसे बहुत भिन्न थी। उसके गणितीय ढंग हमारे द्वारा गोटगिंटन में इस्तेमाल किये गये तरीकों से अधिक सुन्दर और व्यावहारिक थे। हॉलाँकि, बाद में वह उन्हीं परिणामों पर पहुँचा, जिन पर बोर, जॉर्डन और मैं पहुँचे था, कम से कम महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर तो निश्चित रूप से। परिणाम इतने सुन्दरतापूर्वक परस्पर पूरक थे कि इस पुष्टिकरण और तथ्य ने विज्ञान की ''वस्तुनिष्ठता'' और भाषा, नस्ल और विश्वास से स्वतंत्रता को सिद्ध किया।

कॉपेनहैंगन और कैम्ब्रिज की तरह, गोटिंगटन परमाणविक भौतिकविदों के अंतरराष्ट्रीय परिवार के केन्द्र के रूप में बना रहा। फ्रैंक, वॉर्न पॉल और तमाम वैज्ञानिक, जिनके बारे में तुम परमाणु बम से सम्बन्धित होने के लिए अख़बार में पढ़ते हो, उन्होंने इस कार्य को निर्देशित किया था, जैसे कि ऑपेनहैमर और ब्लेकैट, साथ ही फ़र्मी, जिसने कि उस समय गोटिंगटन में अध्ययन किया था।

मैं विज्ञान के समुदाय की अंतरराष्ट्रीयता के उदाहरण के रूप में व्यक्तिगत यादों के ही हवाले दे सकता हूं। ऐसा अन्य तमाम विज्ञानों में सदियों से वास्तव में ऐसा ही है, और परमाणु भौतिकविदों का यह परिवार किसी भी प्रकार से सामान्य से अलग न था। मैं विज्ञान के इतिहास से तमाम बुद्धिजीवियों के अंतरराष्ट्रीय गुटों का हवाला दे सकता हूँ जो कि साझा कार्य के द्वारा, देशों के अग्रणी लोगों से जुड़े हुये थे।

यद्यपि मैं सत्रहवीं शताब्दी में वैज्ञानिकों के एक अन्य समूह की चर्चा करना चाहूँगा, जिसने योरोप में गणितीय विज्ञान की शुरुआत की। ऐसा करना विशेष रूप से उचित भी है क्योंकि यह वर्ष वैज्ञानिक अकादमियों की स्थापना के साथ-साथ 'लैबनीज़' की याद में मनाया जा रहा है। मैं उस समय की बयानी के लिये डिल्थे (Dilthey)के कुछ वाक्यों को संदर्भित करना चाहूँगा.....।

''भाषाओं और राष्ट्रीयता की सीमाओं की बाधा से मुक्त, एक बन्ध, कुछ लोगों को जोड़े था, जिन्होंने इस नये विज्ञान को अपनी ज़िंदगी समर्पित कर दी थी। उन्होंने एक नये बुद्धिजीवियों के राज की

स्थापना की और इसके लिए वे चेतनावान भी थे, नवजागरण के ठीक कुछ समय पहले, मानवतावादियों और कलाकारों ने इस तरह की अरिस्टोक्रेसी के बारे में महसूस भी किया था। लैटिन और बाद में फ्रैंच भाषाओं ने जितना सम्भव था, सरलतम आपसी समझ की सेवा की और वे वैज्ञानिक विश्व साहित्य का उपकरण बनीं। पहले से ही, सत्रहवीं, शताब्दी के मध्य में पेरिस, दार्शनिकों और वैज्ञानिकों के सहकर्म का केन्द्र बन चुका था। वहाँ गैसेन्दी, मार्सीन और होब्र्स ने विचारों का आदान प्रदान किया, यहाँ तक कि अभिमानी देकार्ते भी इस समूह से कुछ समय के लिए जुड़ा। उसकी उपस्थिति ने हॉब्स और बाद में लैबनीज़ पर अविस्मरणीय प्रभाव छोड़ा; जिनके लिये ये था कि दोनों गणितीय विज्ञान के विचारों के लिए समर्पित हो गये थे। बाद में लन्दन, एक अन्य केन्द्र बना.....''

इस तरह हम देख सकते हैं कि विज्ञान पूरे इतिहास में लगातार इस तरह से काम करता रहा और यह कि ''बुद्धिमानों के गणतंत्र ने यूरोप के जीवन में हमेशा एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। यह हमेशा स्वतः सिद्ध माना जा चुका है कि इस तरह के अंतर्राष्ट्रीय समूह से जुड़ाव, किसी वैज्ञानिक को स्वयं को उनमें से एक समझने और अपने लोगों की समर्पित होकर सेवा करने से रोक नहीं सकता। इसके विपरीत, विचारों का यह विस्तार अक्सर अपने देश के जीवन के सर्वोत्तम पक्षों के प्रति आदर बढ़ा देता है। व्यक्ति इससे प्रेम करना सीखता है, और स्वयं को इसका ऋणी महसूस करता है।''

यह सब कह चुकने के बाद, मुझे अब अवश्य ही, इस प्रश्न पर बात करना चाहिए कि ये सभी वैज्ञानिक सहकर्म, ये सभी मानवीय रिश्ते, दुश्मनी और युद्ध को रोकने में कितने कम कारगर हैं।

सर्वप्रथम यह ज़ोर डालते हुए कहना चाहिए कि विज्ञान सामाजिक जीवन के एक छोटे से भाग का ही प्रतिनिधित्व करता है। और यह कि देशों के केवल बहुत कम लोग ही वास्तविक रूप से विज्ञान से जुड़े होते हैं। राजनीति, यद्यपि सापेक्ष रूप से अधिक मजबूत ताकतों के द्वारा आकार लेती है। राजनीतिकर्मियों को जनता के बड़े हिस्से के क्रियाकलापों, उनकी आर्थिक स्थिति और उनकी परम्परा के पक्षधर कुछ विशेषाधिकार वाले गुटों की ताक़त के लिए संघर्ष से रूबरू होना पड़ता है। ये ताकतें, जहाँ तक, हमेशा मुट्ठी भर लोगों को आवश्यकता से अधिक शक्तिशाली बनातीं थीं जो विवादित प्रश्नों, जैसे वस्तुनिष्ठता, शान्ति, और आपसी समझ की आत्मा का प्रश्न के सम्बन्ध में विचार-विमर्श के लिये तैयार रहते थे। विज्ञान का राजनीतिक प्रभाव हमेशा कम रहा है; जोकि पर्याप्त रूप से समझने योग्य है। यद्यपि, यह अक्सर वैज्ञानिक को एक ऐसे स्थान पर रख देती है जो कि लोगों के किसी अन्य समूह से कुछ कारणों से बहुत अलग होता है। विज्ञान के व्यावहारिक अनुप्रयोग जनता के जीवन पर महान प्रभाव डालते हैं। समृद्धि और राजनीतिक ताकत विज्ञान की स्थिति पर निर्भर करती है और वैज्ञानिक इन व्यावहारिक परिणामों को नज़र अंदाज़ नहीं कर सकता, भले ही उसकी विज्ञान में रुचि व्यावहारिक प्रकृति की ही न हो। इसीलिये, एक वैज्ञानिक के क्रियाकलाप अक्सर उससे अधिक प्रभावशाली, वज़नी होते हैं, जितना कि वह आशा करता है या अपनी चेतनानुसार प्रभाव अक्सर तय करता है; प्रभाव चाहे सकारात्मक हों या नकारात्मक। जब देशों के बीच के अंतर आगे मेल नहीं खा सकते तब वह (वैज्ञानिक) इस तरह अक्सर दर्दनाक निर्णयों का सामना करता है या फिर वह अपने ही लोगों या मित्रों से काट दिये जाता है जिनसे कि वह साझा कर्म से जुड़ा था। यह स्थिति अलग-अलग विज्ञानों में अलग-अलग होती है। एक चिकित्सक, जो कि राष्ट्रीयता से परे होकर जनता की सहायता करता है, वह राज्य की मांगों से अपने क्रियाकलापों का मेल, उस भौतिकविद् की अपेक्षा अधिक सरलता से करा सकता है, जिसकी

खोजें विनाशकारी हथियारों के लिये इस्तेमाल की गयी हैं। वहाँ राजनीतिक ताक़तों को मज़बूत करने की चिन्ता रहती है, जहाँ एक ओर, राज्य की माँगे अपने लोगों के लाभ के लिए विज्ञान को सूचीबद्ध करना चाहतीं है। दूसरी ओर वह कर्त्तव्य होता है जिसके लिये वैज्ञानिक स्वयं के उस कार्य के प्रति सदैव ऋणी होता है जोकि उसे दूसरे देशों की जनता से जोड़ता है।

वैज्ञानिक और राज्य के बीच सम्बन्ध विशिष्ट रूप से कुछ दशकों में बदल चुका है। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान वैज्ञानिक अपने राज्यों से इतने क़रीबी से जुड़े हुये थे कि अकादमियों ने अक्सर दूसरे देशों के वैज्ञानिकों को निष्कासित किया था या दूसरे देशों के ख़िलाफ़ अपने लक्ष्यों के पक्ष में पक्के इरादों वाले कागज़ों पर उनसे दस्तख़त करवाये थे। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान शायद ही ऐसा हो। वैज्ञानिकों के बीच के बन्ध अक्सर और मज़बूत हुये, यहाँ तक कि कई राष्ट्रों में उनकी ख़ुद की सरकारों और उनके बीच शुरू होने वाली परेशानियों में भी। वैज्ञानिकों ने बिना किसी विचारधारात्मक पक्ष के स्वतंत्रतापूर्वक सरकार की योजनाओं को परखने का दावा किया। राज्यों ने अपनी तरफ़ से वैज्ञानिकों के अंतर्राष्ट्रीय रिश्तों को बहुत ही अविश्वास की नज़र से देखा जिससे वैज्ञानिकों से कभी-कभी अपने ही देश में कैदियों की तरह का व्यवहार किया गया। और उनके अंतर्राष्ट्रीय रिश्ते अनैतिक माने गये। इसके विपरीत, अब यह लगभग तय हो चुका है कि वैज्ञानिक अपने सहकर्मियों की जहाँ भी सम्भावना होगी, सहायता करेंगे, भले ही वे परस्पर दुश्मन राष्ट्रों से क्यों न हो? यह विकास सौभाग्य से राष्ट्रीयता के ख़िलाफ़ अंतर्राष्ट्रीयता को मज़बूत करेगा,लेकिन इसके लिए अत्यन्त सजग रहना पड़ेगा कि यह ख़ुद विज्ञान के पेशे के ख़िलाफ़ विशाल भीड़ में अविश्वास और दुश्मनी उत्पन्न करने वाला ख़तरनाक तूफान न बन जाय।

कुछ तरह की समस्याएँ पिछली शताब्दियों में देखीं गयीं, जब विज्ञान से जुड़े लोग सहनशीलता और स्वतंत्रता के सिद्धान्त के साथ खड़े हो गये। हमें केवल गैलीलियो और गॉर्डेनो के बारे में ही सोचने की आवश्यकता है कि ये परेशानियाँ आज और अधिक महत्वपूर्ण मानी जातीं हैं, क्योकि आज विज्ञान के व्यावहारिक प्रभाव सीधे लोगों का भविष्य तय करते हैं।

यह मुझे हमारे वर्तमान में अस्तित्व के एक डरावने पहलू की ओर ले जाता है, जिसे स्पष्टता से जल्द ही पहचानना चाहिये, ताकि सही क़दम उठाये जा सकें। मैं केवल ऊर्जा के उन नये स्रोतों के सम्बन्ध में ही नहीं सोच रहा हूँ, जिनमें भौतिकी ने पिछले सालों में विजय पायी है; और जो अकल्पनीय विनाश भी कर सकते हैं। अन्य कई क्षेत्रों में, प्रकृति के साथ छेड़छाड़ की नई सम्भावनायें हममें भय उत्पन्न कर रहीं हैं। यद्यपि यह सत्य है कि जीवन के विनाश के रासायनिक तरीके पिछले युद्धों में शायद ही इस्तेमाल किये गये हों। जीवन विज्ञान में भी हमने अब तक मानसिक और शारीरिक विशेषताओं का एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में जाने की प्रक्रिया और परमाणु की संरचना और रसायन शास्त्र पर वह अंतरर्दृष्टि प्राप्त कर ली है कि संक्रामक बीमारियों के कृत्रिम रूप से फैलाने की व्यावहारिक संभावनायें उत्पन्न हो गयीं हैं। शायद और बदतर, मानव के जीव वैज्ञानिक विकास को किसी पूर्वनिर्धारित चयनित ब्रीडिंग की दिशा में प्रभावित किया जा सकता है। अंततः मानव की मानसिक और आध्यात्मिक आस्था को प्रभावित किया जा सकता है; और यदि ऐसा विज्ञान की ओर से हुआ तो यह जनता की विशाल भीड़ों को भयानक मानसिक बिखंडन की ओर निर्दिष्ट कर सकता है। कोई भी यह समझ सकता है कि विज्ञान एक क्षेत्र के विस्तृत पहलू की ओर बढ़रहा है जहाँ मानवता की मृत्यु और जीवन, बड़े स्तर पर कुछ, बहुत

थोड़े से लोगों के समूह के क्रिया कलापों पर निर्भर करता है। अब तक इन बातों के बारे में पत्रकारिक और सनसनी के रूप में अखबारों में बहस हुई है और अधिकतम लोगों ने उस ख़तरे को महसूस नहीं किया है जो कि उन्हें भविष्य में होने वाले अनिवार्य वैज्ञानिक विकास के परिणाम के रूप में डरा रहा है। निश्चित रूप से यह विज्ञान का लक्ष्य है कि वह इन खतरों के प्रति मानवता को जगाये और दिखाये कि आज मानवता के लिये ये सब कितना महत्वपूर्ण है। राष्ट्रीय और विचारधारात्मक सोच से स्वतंत्र होकर सबको इस खतरे से निबटने के लिए एक सूत्र में बाँधे। निश्चित ही, इसे करना, कहने से बहुत कठिन है। लेकिन यह एक महत्वपूर्ण कार्य है जिससे हम अधिकतम समय तक बच नहीं सकते।

एक अकेले वैज्ञानिक के लिए यद्यपि, उसकी अपनी चेतना के अनुसार और सभी बंधनों से परे होकर निर्णय लेने की आवश्यकता है, चाहे एक लक्ष्य अच्छा हो या दो लक्ष्यों में से कम बुरा हो। हम इस तथ्य से आँखें नहीं मूँद सकते कि जनता का बड़ा हिस्सा और उनके साथ, जिनके हाथों में सरकार की सत्ता होती है, दोनों अक्सर, संवेदनाहीन और अंध-पक्षपाती रवैये के साथ कार्य करते हैं। उन्हें एक वैज्ञानिक, वैज्ञानिक ज्ञान देकर आसानी से इस परिस्थिति को नियंत्रित कर सकता है, जिसे शिलर (Schiller)ने अपनी पंक्तियों में लिखा है—

'तरस खाइये उन पर जो स्वर्ग का प्रकाश बरसाते हैं उस पर–जो हमेशा के लिए अंधा है। यह प्रकाश उसके किस काम का? यह देशों और शहरों को झुलसाकर रख देने और काला करने के सिवा और क्या कर सकता है?'

क्या विज्ञान वास्तव में, जनता के बीच समझ बढ़ाने में सहयोग कर सकता है? जब वह इन परिस्थितियों से जूझ रहा हो। यह महान ताक़तों को कमज़ोर करने की ताक़त रखता है, मानव के नियंत्रण में भूतकाल में रही किसी भी ताकत से भी अधिक शक्तिशाली ताकतों को भी। लेकिन ये ताकतें उथल-पुथल भी ला सकतीं हैं यदि इनका इस्तेमाल संवेदनहीनता से किया गया।

मुझे यह विज्ञान के वास्तविक पीढ़ीगत लक्ष्य की ओर ले जाता है। विकास जिसे मैंने अभी वर्णित किया और परोक्ष रूप से, जो कि उन ताक़तों के ख़िलाफ़ हो चुका है, जो मानव के नियंत्रण में हैं और जो विज्ञान को ख़तरनाक परिस्थिति तक ले जा सकता है, यह विकास निश्चित रूप से, हमारे समय की किसी आध्यात्मिक प्रक्रिया से जुड़ा होना चाहिये और इसके संबंध में संक्षेप में बोलना आवश्यक है।

आइये, कुछ शताब्दियों पूर्व समय को देखें; जब मध्यकालीन मानव आविष्कृत हुआ, क्रिश्चियन यथार्थ से परे दैवीय रहस्य के केन्द्र में भी भौतिक अनुभव का एक अन्य यथार्थ था। यह ऐसा वस्तुनिष्ठ यथार्थ था, जिसे हमने अपने अनुभवों या प्रयोगों से महसूस किया। लेकिन इस नये क्षेत्र के विकास के दौरान कुछ चीजें बिना परिवर्तित हुये वैसी ही रह गयीं। प्रकृति ने वस्तुओं को दिक् में स्वयं में संजोये रखा है, जो कि कारण और प्रभाव के अनुसार परिवर्तनशील हैं, इसके बाहर आत्मा का संसार था। अर्थात, किसी के अपने दिमाग का यथार्थ, जो बाहरी संसार को अधिक या कम आदर्श आइने की तरह परावर्तित करता था। विज्ञानों के द्वारा निश्चित की गयी वास्तविकता और क्रिश्चियन वास्तविकता में बहुत अंतर था। तिस पर भी इसने मज़बूत नींव के आधार पर मानवकर्म के साथ एक दैवीय दुनियाँ का प्रतिनिधित्व किया और जिसमें कि जीवन के लक्ष्य के सम्बन्ध में कुछ भ्रम था। संसार दिक् काल में अनन्त था, इस तरह इसने ईश्वर को प्रतिस्थापित कर दिया है। या कम से कम, अपनी अनन्तता द्वारा

दैवीयता का एक प्रतीक बन गया है।

लेकिन, अपनी शताब्दी में प्रकृति का यह दृष्टिकोण भी चुपके-चुपके जाल रचने वाला बन गया। विचारों की मूलभूत अभिवृत्तियाँ अपना चरम महत्व खोतीं गयीं, जैसे-जैसे साकार कर्म संसार के केन्द्र की ओर मुड़ता गया। यहां तक कि दिक् काल भी अनुभव का विषय बन गया और अपनी प्रतीकात्मक विषय वस्तु खो चुका है। विज्ञान में हम अधिकाधिक महसूस करते हैं कि हमारी प्रकृति की समझ, किसी निश्चित चेतना से आरम्भ नहीं हो सकती, कि यह किसी चट्टानाकार नींव पर भी निर्मित नहीं हो सकती; लेकिन, समस्त चेतना, क्या कहूँ, एक अथाह गहराई के ऊपर लटकी है।

विज्ञान का यह विकास संभवतः मानव जीवन के सभी मूल्यों के बढ़ते हुये सापेक्ष निर्धारण से मेल खाता है। एक निर्धारण जो कि कुछ दशकों से दृष्टव्य हो चुका है और जिसका अंत आसानी से, 'किस लक्ष्य के लिए?' प्रश्न से ढकी हुयी एक सामान्य शकयुक्त अभिवृत्ति में हो सकता है। यह इस प्रकार एक अविश्वास की अभिवृत्ति को विकसित करता है, जिसे 'निहिलिज़्म' कहा जाता है। इस दृष्टिकोण से जीवन प्रयोजनहीन प्रतीत होता है, सबसे बढ़िया, एक रोमांच जिसे हमें सहन करना पड़ता है जब हम इस सम्बन्ध में कुछ कह नहीं पाते। यह अभिवृत्ति हम आज दुनियाँ के कई भागों में पाते हैं और इसका सर्वाधिक दुखद भाग भ्रामक निहिलिज़्म है; जैसे 'वीजसेकर' ने अभी इस संबंध में कहा है। यह भ्रम और धोखा देने वाले के रूप में, छिपा हुआ निहिलिज़्म ही है। प्रत्येक निहिलिस्ट अभिवृत्ति की चारित्रिक विशेषता उस ठोस विश्वास की कमी है जो कि किसी की सभी प्रतिक्रियाओं को दिशा और शक्ति दे सकता है। निहिलिज़्म ख़ुद किसी के जीवन में सही और ग़लत के लिए अचूक (अभिवृत्ति) अंतर्वृत्ति की कमी को दर्शाता है कि भ्रम और वास्तविकता क्या है? यह देशों के जीवन को उन असीम शक्तियों की दिशा में निर्दिष्ट करता है जो कि किसी ख़ास लक्ष्य को पाने के लिए संगठित हो चुकी होतीं हैं और बहुत विपरीत परिणाम रखती हैं और विकराल विनाश का कारण बनतीं हैं। ईर्ष्या के कारण लोग अक्सर इतने अंधे हो जाते हैं कि वे इस बदलाव को दोषदर्शी नज़र से देखते हैं और इसे सिर्फ कंधे उचकाकर ख़त्म कर देते हैं।

कुछ वक़्त पूर्व मैंने कहा था, मानव के दृष्टिकोण में यह विकास हो सकता है जो वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विकास से कुछ सम्बन्ध रखता हो। इसीलिये हमें निश्चित रूप से ये पूछना चाहिये कि क्या विज्ञान भी ठोस विश्वास खो चुका है? मैं यह बहुत साफ़ करते हुये अत्यंत चिन्तित हूँ कि इस तरह का कोई प्रश्न नहीं उठता। विज्ञान की वर्तमान अवस्था संभवत : सबसे मज़बूत तर्क है, जो विश्व की महान समस्याओं के प्रति और अधिक आशावादी अभिव्यक्ति के लिये हमारे पास है।

विज्ञान की उन शाखाओं में, जिनमें हम अपने ज्ञान को बीच हवा में लटका हुआ पाते हैं; उन शाखाओं में हम क्रिस्टल की तरह साफ़, सापेक्ष फ़ेनोमेना (परिघटना) की समझ प्राप्त कर चुके हैं। यह ज्ञान इतना पारदर्शी है और दोष- सिद्धि की ताकतों को लेकर चलता है कि अत्यधिक भिन्न लोगों और नस्लों के वैज्ञानिक इसे सभी अगली विचारधाराओं और चेतना के अविवादित आधार के रूप में स्वीकार कर चुके हैं।

वास्तव में, हम भी विज्ञान में ग़लतियाँ करते हैं और यह खोजे जाने और सुधारे जाने में कुछ समय लेती हैं। लेकिन हम इतना विश्वास ज़रूर दिला सकते हैं कि सही और ग़लत सिद्ध करने वाला

निर्णय अंततः अवश्य निकलता है। यह विश्वास सिर्फ़ विश्वास, नस्ल या वैज्ञानिक की उत्पत्ति पर निर्भर नहीं करता है। बल्कि यह निर्णय एक ऊंची शक्ति के द्वारा लिया जाता है। जो कि हमेशा के लिये, सभी लोगों पर लागू होता हो। जबकि हम राजनीतिक जीवन में, मूल्यों के सतत-परिवर्तन, भ्रमित और पथभ्रष्ट विचारों के एक-एक समूह का, दूसरे उतने ही भ्रमित और पथभ्रष्ट समूह से संघर्ष को नकार नहीं सकते, विज्ञान में सही और ग़लत हमेशा रहेगा। विज्ञान का अंतर्भाग मेरे दिमाग में उन मूलभूत विज्ञानों ने बनाया है जो व्यावहारिक अनुप्रयोगों से वास्ता नहीं रखतीं। एक उच्चतर शक्ति है जो कि हमारी इच्छाओं से प्रभावित नहीं होती, जो अंततः निर्णय करतीं है और तय करती है। कई ऐसी शाखायें हैं जिनमें मूलभूत विचार प्रकृति के छिपे हुये सामंजस्य को खोजने का प्रयास करते हैं। मानवता आज उस आंतरिक वृत्त को पा सकती है जिसमें विज्ञान और कला अलग नहीं किये जा सकते, जिसमें विशुद्ध सत्य का मानवीकरण मानव-विचारधाराओं और आकांक्षाओं द्वारा छिपा हुआ नहीं रहेगा।

तुम निश्चित रूप से यह पूछ सकते हो कि जनता के विशाल समूह की इस सत्य तक कोई पहुँच नहीं है और यह लोगों की अभिवृत्ति पर बहुत कम प्रभाव छोड़ेगी। लेकिन जनता की बड़ी भीड़ की पहुँच सीधे तौर पर केन्द्र तक कभी नहीं रही। यह हो सकता है कि आज के लोग यह जानकर संतुष्ट हो सकते हैं कि यद्यपि द्वार सबके लिए खुला नहीं है, लेकिन द्वार के उस पार कोई धोखा-धड़ी नहीं हो सकती। वहां हमारे हाथों में कोई शक्ति नहीं है–निर्णय एक ऊंची शक्ति द्वारा लिये गये हैं। लोगों ने इस केन्द्र के लिए अलग-अलग समय अलग-अलग शब्दों का इस्तेमाल किया है। उन्होंने इसे ''आत्मा'' कहा अथवा 'ईश्वर' या वे किसी अन्य उपमा का इस्तेमाल करें या बड़े आरेख के रूप में समझें। इस केन्द्र तक पहुँचने के कई रास्ते हैं, यहाँ तक कि आज भी विज्ञान केवल उन सभी में से एक है। यद्यपि हमारे पास एक सार्वजनिक रूप से पहचानी जाने वाली भाषा नहीं है, जिसमें हम स्वयं को सुबोध बना सकें। यह एक कारण हो सकता है कि इतने लोग इसे देख नहीं सकते, लेकिन आज भी यह वैसा है जैसा पहले था। और कोई भी विश्वक्रम इस पर आधारित होना चाहिये। यह विश्वक्रम निश्चित रूप से उन लोगों के द्वारा निश्चित किया जायेगा, जिन्होंने इसकी दृष्टि खोई नहीं है।

विज्ञान लोगों के बीच की समझदारी में सहयोग कर सकता है। यह ऐसा इसलिए नहीं करेगा, क्योंकि यह बीमार को दवा दिला सकता है, न ही, आतंक के कारण, जिसे राजनीतिक ताक़त अपनी दवा के साथ देगी, बल्कि केवल उस केन्द्र के प्रति हमारा ध्यान आकर्षित करके देगी, जो कि यद्यपि साधारणतः इस तथ्य को स्थापित करेगा कि ''दुनिया सुन्दर है''। विज्ञान को इतना महत्व देना, बिना सुनिश्चित हुये अत्यधिक विश्वास करना प्रतीत हो सकता है, लेकिन, क्या मैं आपको यह याद दिला सकता हूँ कि हमारे पास जीवन के कई पहलुओं में पुराने समय पर प्रश्नचिन्ह लगाने के कारण हैं। प्रकृति की विशुद्ध चेतना में हमारा काल वैज्ञानिक उपलब्धियों में किसी के लिये दूसरा स्थान नहीं रखता।

जो भी हो, ज्ञान में रुचि स्वयं मानवता में एक शक्तिशाली बल के रूप में अगले कुछ दशकों तक रहेगी। यद्यपि ये रुचि विज्ञान के व्यावहारिक परिणामों द्वारा तथा सत्ता संघर्ष द्वारा कुछ समय के लिए धूमिल पड़ सकती है। पर अंततः यही रुचि जीतेगी और सभी देशों और नस्लों को जोड़ेगी। विश्व के सभी हिस्सों में लोग खुश होंगे जब वे नया ज्ञान प्राप्त करेंगें और उसके प्रति कृतज्ञ होंगें जिसने इसे सबसे पहले खोजा।

प्रिय, कॉमिलिटॉनेन, तुम यहाँ लोगों के बीच समझदारी विकसित करने के लिये, अपने क्षेत्र में एकत्र हुये हो। ऐसा करने का इससे अच्छा रास्ता नहीं हो सकता कि युवावस्था की स्वतंत्रता और सहजता से, दूसरे देशों की जनता से, उनके सोचने के ढंग से और उनकी भावनाओं से अवगत हुआ जाए। अपने वैज्ञानिक कर्म से एक गम्भीर और जिसे भ्रष्ट न किया जा सके, ऐसी विचार प्रक्रिया को साथ लेकर आपसी समझदारी को जनता में फैलाने में मदद करो, क्योंकि इसके बिना कोई समझदारी संभव नहीं है। विज्ञान से इतर भी उन चीज़ों में भी सम्मान-भाव रखो, जो वास्तव में ध्यान देने योग्य हैं, और जिनके बारे में कुछ कहना काफ़ी मुश्किल है।

तुम्हारा
हाइजेनबर्ग

हेरेटा मुलर का आत्मवृत्त

8अक्टूबर 2009 को जब जर्मन लेखिका हेरटा मुलर को इस वर्ष का नोबेल पुरस्कार मिलने की घोषणा की गयी, तो उनकी प्रतिक्रिया थी 'मैं इस पर अभी भी विश्वास नहीं कर पा रही हूं' और पाश्चात्य साहित्य जगत में भी इस पर कुछ आश्चर्य ही हुआ क्योंकि जिन लोगों को इस वर्ष का पुरस्कार मिलने की संभावना व्यक्त की जा रही थी उनमें एमोस ओज (इसरायल) और फ़िलिप रोथ (अमेरिका) के नाम प्रमुख थे। इसके पहले अंग्रेज़ी साहित्य जगत में हेरटा मुलर का किसी ने शायद नाम भी नहीं सुना था क्योंकि इनके अब तक प्रकाशित 15 उपन्यासों में से केवल दो के ही अनुवाद अंग्रेज़ी में प्रकाशित हुए हैं। 1989 में इनका सर्वप्रथम उपन्यास 'पासपोर्ट' प्रकाशित हुआ जिसकी अब तक, यानी पिछले 20 वर्षों में, केवल बीस हजार प्रतियां ही बिक सकी थीं। इनके सभी उपन्यासों में रोमानिया के दमनकारी शासन का किसी-न-किसी रूप में चित्रण हुआ है और इसी कारण इन्हें लगभग 20 वर्ष पूर्व रोमानिया छोड़कर जर्मनी भागना पड़ा। नोबेल पुरस्कार मिलने की घोषणा के केवल दो ही दिन बाद लंदन के 'द गार्डियन' में इनका आत्मवृत्त प्रकाशित हुआ जिसमें उन्होंने रोमानिया के अपने जीवन की दारुण घटनाओं का बड़ा ही रोमांचकारी विवरण दिया है। इसका अनुवाद **महेन्द्र राजा जैन** ने किया है, जो उन दिनों संयोग से लंदन में ही थे।

मेरे लिए रोमानिया की प्रत्येक यात्रा एक दूसरे काल की भी यात्रा है, जिसमें मुझे कभी यह पता नहीं चला कि मेरे जीवन की कौन सी घटनाएं संयोग मात्र थीं और कौन सी पहले से नाटकीय रूप से घटित। यही कारण है कि मैंने अपने प्रत्येक सार्वजनिक वक्तव्य में इस बात की मांग की है कि मेरे सम्बन्ध में जो गुप्त फ़ाइलें रखी गयी हैं, वे मुझे देखने को मिलना चाहिए, पर किसी न किसी कारण मेरी यह मांग अस्वीकृत की जाती रही है। इसके विपरीत इसके पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं कि मुझ पर अभी भी रोमानिया की गुप्तचर सेवा की निगरानी रखी जा रही है।

इस वर्ष बसन्त में मैं न्यू यूरोपियन कालेज के आमन्त्रण पर बुख़ारेस्ट गयी थी। दूसरे दिन शाम को मैंने अपने एक मित्र के साथ खाना खाने का कार्यक्रम बनाया था और जैसा कि फ़ोन पर तय हुआ था वह मुझे लेने शाम को ठीक छह बजे मेरे होटल आने वाला था। ज्यों ही वह होटलवाली सड़क पर मुड़ा,

उसने देखा कि एक आदमी उसका पीछा कर रहा था। उसने जब होटल के काउण्टर पर मेरे विषय में पूछा तो रिसेप्शन पर कहा गया कि पहले उसे एक फ़ार्म भरना होगा। इससे उसका आशंकित होना स्वाभाविक था, क्योंकि इसके पहले ऐसा कभी नहीं हुआ था- सौसेस्क्यू (रोमानिया के पूर्व तानाशाह शासक) के समय में भी नहीं।

यह जानते हुए कि 6 बजे शाम को एक 'शेडो' की आवश्यकता होगी यह ज़रूरी समझा गया कि मेरे कमरे का फ़ोन 'टेप' कर दिया जाए। 'सेक्युरिटेट' (सौसेस्क्यू की गुप्तचर सेवा) का अस्तित्व वस्तुतः अभी समाप्त नहीं हुआ था, वरन अब वह 'एस आर आई' (रोमानियन इन्फार्मेशन सर्विस) के नाम से पूर्ववत काम कर रही थी और उसके स्वयं के आंकड़ों के अनुसार उसमें 'सेक्युरिटेट' के ही 40 प्रतिशत से अधिक लोग काम कर रहे थे। सही संख्या वस्तुतः इससे काफ़ी अधिक होगी।

इसी वर्ष बसन्त में कुछ शोधार्थियों को वे फ़ाइलें देखने को मिल गयीं जो 'एक्शन ग्रूप बनात' के रोमानियन जर्मन लेखकों से संबंधित थीं। इनमें मेरी फ़ाइल 'क्रिस्टीन' नाम से रखी गयी थी। पूरी फ़ाइल तीन खण्डों में है जिनमें कुल 914 पृष्ठ हैं। कहा जाता है कि यह फ़ाइल 8 मार्च 1983 को खोली गयी थी यद्यपि इसमें इस तिथि से पहले की कई बातें हैं। फ़ाइल खोलने का कारण जो बतलाया गया वह यह कि मेरे उपन्यास 'नादिर्स' में जान-बूझकर रोमानिया, विशेषकर वहां के गांवों की स्थिति, के सम्बन्ध में यथार्थता को तोड़-मरोड़कर पेश किया गया है। जासूसों द्वारा भी फ़ाइल में इस बात को विशेष रूप से नोट किया गया है और यह भी कि मेरा सम्बन्ध जर्मन भाषाभाषी उन कवियों से है जो शासन विरोधी रचनाओं के लिए 'कुख्यात' हैं।

ट्रैक्टर, फ़ैक्टरी टेहनोमेटल में मैं तीन वर्ष तक अनुवादक के रूप में रही, पर इन तीन वर्षों का कोई उल्लेख फ़ाइल में नहीं है। पूर्वी जर्मनी (जर्मन डेमोक्रेटिक रिपब्लिक), आस्ट्रिया और स्विटज़रलैंड से जो मशीनें आयातित की जाती थीं, उनके मैन्युअल का मैं अनुवाद करती थी। तीसरे वर्ष एक प्रोटोकोल आफ़िस बनाया गया। इस आफ़िस में मेरी नियुक्ति के लिए गुप्तचर सेवा के एक अधिकारी स्ताना ने मेरा दो बार टेस्ट लिया। दूसरी बार जब मुझे फ़ेल कर दिया गया तो उसके 'बिदाई' के शब्द थे : ''मुझे खेद है पर हम तुम्हें नदी में डुबो देना पसन्द करेंगे''।

एक दिन जब मैं अफ़िस पहुंची तो मेरे कार्यालय के बाहर मेरे शब्द कोश तथा अन्य पुस्तकें बिखरी पड़ी थीं। मेरा आफ़िस का कमरा एक इंजीनियर को दे दिया गया था और मुझे आफ़िस में नहीं जाने दिया गया था। ऐसी स्थिति में मैं अब घर भी नहीं लौट सकती थी। वे मुझे उसी समय बर्खास्त कर सकते थे। मेरे पास अब अपनी कोई टेबिल और कुर्सी भी नहीं थी। दो दिनों तक अवज्ञाकारी के रूप में आठ घंटों तक अपने शब्दकोशों के साथ नीचे के तल और पहली मंज़िल के बीच सीढ़ियों पर बैठकर अनुवाद कार्य करती रही ताकि किसी को यह कहने का मौका नहीं मिले कि मैंने कोई काम नहीं किया। आफ़िस के लोग मुझे देखते हुए निकल जाते थे चुपचाप। बिना कुछ बोले-चाले। आफ़िस की मेरी सहेली जेनी, जो इंजीनियर थी, को पता था कि यह सब कैसे और क्यों हुआ। रोज़ आफ़िस के बाद घर लौटते समय मैं उसे सब कुछ बतला देती थी। लंच ब्रेक में वह मेरे पास आती थी। हम सीढ़ी पर ही बैठते थे और साथ साथ लंच लेते थे। यार्ड में लगे लाउडस्पीकर पर हम पूर्ववत कोरस गाया करते थे जिनमें मेहनतकश कामगरों की खुशियों का ज़िक्र रहता था। तीसरे दिन मैंने जेनी की ही टेबिल पर काम करना

शुरू कर दिया। उसने एक तरफ़ की टेबिल मेरे लिए ख़ाली कर दी थी। पांचवें दिन सुबह वह दरवाज़े के बाहर मेरी प्रतीक्षा में थी और मेरे पहुंचते ही उसने कहा- 'मुझे दुख है पर तुम्हें मेरे आफ़िस में नहीं आने देने के लिए मुझे हिदायत दी गयी है। लोग कहते हैं कि तुम एक जासूस हो।'

इस मिथ्यापवाद का सीधा-सीधा अर्थ यही था कि मैं इस्तीफ़ा दे दूं। इन्हीं दिनों मेरे पिता की मृत्यु हो गयी और मैं अपने आपको सम्हाल नहीं पा रही थी। मुझे अपने आपको आश्वस्त करना था कि दुनिया में मेरा भी अस्तित्व है। मैंने अपने जीवन के अनुभव लिखना शुरू किया और उसी का परिणाम है 'नादिर्स' की कहानियां।

यह तथ्य कि मुझे जासूस करार दिया गया था, क्योंकि मैंने जासूस बनने से इन्कार कर दिया था, वस्तुतः मेरे लिए पिछले दिनों मुझे मार डालने की मिली धमकी से भी भयावह था, क्योंकि मुझे वही लोग दोषी समझ रहे थे जिन पर जासूसी करने से मना कर मैंने उन्हें बचाने की कोशिश की थी। वे मेरे इस जीवन का महत्वपूर्ण अध्याय हैं। लेकिन मुझ पर इस प्रकार का अभियोग लगने से मेरी आत्मा ही मानो एक प्रकार से लूट ली गयी थी।

यह स्थिति कब तक रही, अब याद नहीं। मुझे तो यह सीमान्त ही जान पड़ी। संभवतः यह कुछ सप्ताह रही। अन्ततः मुझे नौकरी से हटा दिया गया। इसके लिए मेरी फ़ाइल में दो ही शब्द हैं- मार्जिन में लिखे हुए 'पूछताछ प्रोटोकोल।'

कुछ वर्ष बाद घर पर मैंने फैक्टरी में मुझे जासूस करार दिये जाने की कोशिश पर जब विचार किया तो याद आया-मार्जिन में लेफ़्टिनेण्ट पादुकारियु ने लिखा था- यह सही है।

और अब इसके बाद पूछताछ की बारी आती है। डांट-डपट और फटकार कि मैं काम की तलाश में नहीं थी, कि मैं वेश्यावृत्ति से काम चला रही थी, कि मैं ब्लैक मार्केटिंग कर रही थी और ऐसे-ऐसे लोगों के नाम बतलाए गए जो मैंने जीवन में कभी सुने भी नहीं थे। और यह कि मैं पश्चिमी जर्मनी (जर्मन फ़ेडरल रिपब्लिक) के लिए जासूसी कर रही थी- यह इसलिए कि गेटे इन्स्टीट्यूट के एक लायब्रेरियन और जर्मन दूतावास के एक कर्मचारी से मेरे अच्छे सम्बन्ध थे।

घंटों इसी तरह के मनगढ़न्त आरोपों का जवाब देना। पर केवल इतना ही नहीं था। उन्हें किसी प्रकार के सम्मन की ज़रूरत नहीं थी। वे मुझे चाहे जहां से पकड़ लेते थे। एक बार मैं हेयर ड्रेसर के यहां जा रही थी कि एक पुलिसमैन मुझे पकड़कर एक मकान के भूतल में ले गया। वहां टेबिल के किनारे सादे कपड़ों में तीन लोग बैठे हुए थे। बॉस एक दुबला-पतला आदमी था। उसने मेरा पहचान पत्र मांगा और फिर कहा, ''अच्छा तुम वही रण्डी हो? आज यहां फिर मिल गये।'' मैंने उसे पहले कभी नहीं देखा था। उसके कहने के मुताबिक आठ अरब छात्रों के साथ मैंने सहवास किया था और उसके बदले में भुगतान के रूप में उन्होंने मुझे टाइट्स और कास्मेटिक्स दिये थे। मेरे यह कहने पर कि मैं किसी अरब छात्र को नहीं जानती, उसने कहा, ''हम चाहें तो 20 अरब छात्रों को गवाह के रूप में ला सकते हैं और तब तुम देखोगी कि मुक़दमा किस प्रकार दिलचस्प और शानदार होगा।''

बार-बार वह मेरा पहचान पत्र ज़मीन पर फेंकता था और हर बार मुझे झुक कर उठाना पड़ता था। ऐसा उसने 30-40 बार किया होगा। जब मैं पहचान पत्र उठाने के लिए नीचे झुकती थी, वह हर बार मेरे पीछे पुट्ठों के बीच में पैर से ठोकर मारता था। ऐसा करते समय मुझे दरवाज़े के पीछे से किसी औरत के

चीखने-चिल्लाने की आवाज़ सुनायी पड़ती थी। उत्पीड़न और बलात्कार! मैं बराबर मनाती थी कि यह केवल टेप रिकार्डिंग हो। और वहां मुझे बहुत ही कड़े उबले अण्डे और नमक के साथ कच्ची प्याज खाने को मिलती थी। मुझे वह सब मजबूरन निगलना पड़ता था।

बाद में उस दुबले-पतले आदमी ने मेरा कार्ड बाहर फेंक दिया और पीछे से ठोकर लगाकर मुझे बाहर निकाल दिया। मैं बाहर झाड़ियों में मुंह के बल गिरी। वहां मुंह उठाए बिना ही मुझे उल्टी हुई। बिना किसी प्रकार की जल्दी के, मैंने अपना कार्ड (पहिचान पत्र) उठाया और घर चली आई। सड़क से पकड़ कर लाया जाना सम्मन मिलने से भी अधिक भयावह था। किसी को पता नहीं था कि मैं कहां थी। लोगों ने समझा कि मैं लापता हो गयी हूँ, वापिस फिर कभी नहीं आने के लिए या हो सकता है कि मुझे नदी में डुबो दिया गया हो जैसी कि मुझे धमकी दी गयी थी। और इसे आत्महत्या कह कर बात समाप्त कर दी जाती। फ़ाइल में इस प्रकार की किसी पूछताछ का कोई जिक्र नहीं है, सम्मन का भी नहीं और न ही सड़क पर से खींच कर पकड़ कर लाये जाने का।

जब हम घर पर नहीं थे, गुप्तचर संस्था के लोग आते-जाते रहते। कभी-कभी वे जान बूझकर ऐसे संकेत छोड़ जाते थे जिनसे उनके आने का पता चल जाता था- सिगरेट के जले हुए टुकड़े, दीवाल पर से फ़ोटो हटाकर ज़मीन पर या बिस्तर पर, गिरी हुई कुर्सियां इधर-उधर कर दी जाना आदि। खाना खाते वक्त हर समय मन में भय समाया रहता कि कहीं उसमें ज़हर न मिला दिया गया हो। इस मनोवैज्ञानिक आतंक का भी फ़ाइल में कहीं ज़िक्र नहीं है। 'डी ज़ीट' (जर्मनी का प्रतिष्ठित समाचार पत्र) के पत्रकार रोल्फ़ माइकेलिस के आने का भी कहीं उल्लेख नहीं है। 'नादिर्स' के प्रकाशन के बाद वह मेरा इण्टरव्यू लेना चाहता था। उसने अपने आने की सूचना तार द्वारा दी थी। और उसे विश्वास था कि वह जब आएगा तो मैं घर पर मिलूँगी। लेकिन वह तार गुप्तचर संस्था द्वारा बीच में ही रोक दिया गया। चूंकि हमें इसकी कोई जानकारी नहीं थी, अतः उस समय मैं अपने पति रिचर्ड वेगनर के साथ उनके माता-पिता के घर गांव में कुछ दिन के लिए चली गयी थी। दो दिन तक लगातार वह हमारे फ़्लैट की घंटी बजाता रहा। दूसरे दिन तीन लोग हमारे फ़्लैट के बाहर बने छोटे से कमरे में, जहाँ कूड़ा इकट्ठा किया जाता था, उसकी ताक में छिपे रहे और ज्यों ही वह आया, उसे मार-मारकर अधमरा सा कर दिया जिससे उसके दोनों पैर के अंगूठे टूट गये। उस समय हम पांचवीं मंज़िल पर रहते थे और बिजली की कटौती के कारण लिफ़्ट काम नहीं कर रहा था। परिणामस्वरूप माइकेलिस को अंधेरे में उकड़ूं चलकर किसी प्रकार घिसटते-घिसटते नीचे और फिर सड़क पर आना पड़ा। फ़ाइल से माइकेलिस का तार गायब है पर पश्चिमी देशों से आए कई पत्रों के साथ की गयी छेड़छाड़ के संकेत हैं। फ़ाइल के अनुसार माईकेलिस यहां ही नहीं था। इससे पता चलता है कि गुप्तचर संस्ता ने अपने फुलटाइम स्टाफ की इस कार्यवाही को पूरी तरह नजरअन्दाज़ कर दिया है ताकि यदि कोई बाद में फ़ाइल देखे तो फिर किसी पर इसका उत्तरदायित्व नहीं आए। इससे पता चलता है कि सौसेस्क्यू के बाद की 'सेक्युरिटेट' पहले से भी अधिक क्रूर और भयानक हो गयी है।

माइकेलिस को हमारी सुरक्षा की चिन्ता थी और जब तक हम रोमानिया से बाहर नहीं आ गये उसने इन आक्रमणों के बारे में कुछ नहीं लिखा। पर मैं मझती हूं कि यह उसकी बहुत बड़ी ग़लती थी। इन घटनाओं को दबाना नहीं, वरन् इनका अधिक-से-अधिक प्रचार ही हमें पश्चिम में सुरक्षित रख सकता था। मेरी फ़ाइल से यह भी पता चलता है कि मेरे ख़िलाफ़ सेक्युरिटेट के लिए जासूसी करने के काफ़ी

मनगढ़न्त अभियोग लगाये गये। लेकिन मैं समझती हूं कि सेक्युरिटेट की ऐसी कोई योजना केवल इस कारण सफल नहीं हुई कि जर्मनी में मेरी पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थीं और मुझे कई जर्मन पुरस्कार मिल चुके थे और इसी कारण मुझे गिरफ्तार नहीं किया गया।

माइकेलिस हमारे यहां आने के पहले अपने आने की सूचना इसलिए नहीं दे सका कि हमारे यहां टेलीफ़ोन नहीं था। टेलीफ़ोन कनेक्शन के लिए रोमानिया में सामान्यजन को वर्षों प्रतीक्षा करना पड़ती है। पर हमें बिना आवेदन किये ही टेलीफ़ोन दे दिया गया था पर हमने लेने से इसलिए मना कर दिया क्योंकि हमें पता था कि हमारे छोटे से फ़्लैट में टेलीफ़ोन रहने का मतलब था बैठे-बिठाए मुसीबतों को आमन्त्रण। हमारे जिन मित्रों-परिचितों के यहां टेलीफ़ोन था, उनके यहां हम सब जाते थे तो टेलीफ़ोन का रिसीवर हटा दिया जाता था और ग्रामोफ़ोन का रिकार्ड चालू कर देते थे। वैसे भी टेलीफ़ोन लेने से मना कर देने का कोई तुक नहीं था क्योंकि फ़ाइल की जितनी सामग्री मुझे मिली, उसकी आधी से अधिक में इस बात के प्रमाण हैं कि हमारे फ़्लैट में किस-किस प्रकार 'बगिंग' की जाती थी।

हमारे बहुत ही करीबी मित्रों में एक थे रोनाल्ड विर्श। वे हमारे फ़्लैट के पास ही रहते थे और प्रायः प्रतिदिन हमसे मिलने आते थे। वे एक कसाईखाना में इंजीनियर थे, फ़ोटोग्राफ़ी के शौकीन थे और प्रतिदिन की कठिनाइयों और नीरसता का छायांकन करते रहते थे। छोटे-छोटे लेख आदि भी लिखते थे। उनके लेखों का एक संग्रह 1991 में 'द ड्रीम आफ़ द मून केट' नाम से जर्मनी में उनकी मृत्यु के बाद छपा था क्योंकि 1989 में वे अपने फ़्लैट में मृत पाये गये थे। उनके पड़ोसियों का कहना है कि उनकी मृत्यु के दिन, रात को उनके फ़्लैट से जोर-जोर की आवाजें आ रही थीं। मैं उनकी मृत्यु को आत्महत्या नहीं मानती। रोमानिया में मरना भी आसान नहीं है। मृत्यु के बाद मृतक संस्कार के पहले कई दिन तक तरह-तरह के आफ़िसों की ख़ाक छाननी पड़ती है। आत्महत्या के मामलों में पोस्टमार्टम सर्टिफ़िकेट दिया जाता है। पर रोलेण्ड के मातापिता को एक दिन में ही सभी आवश्यक कागज़ात मिल गये और बिना पोस्टमार्टम के ही उन्हें दफ़ना दिया गया। मेरी फ़ाइल में 'बगिंग प्रोटोकोल' सम्बन्धी जो सामग्री है उसमें कहीं उल्लेख नहीं है कि रोनाल्ड कभी हमारे यहां आए। उनका नाम इस प्रकार काट दिया गया है जैसे इस नाम के किसी व्यक्ति का कभी कहीं अस्तित्व ही नहीं था।

एक बहुत ही दुर्दान्त प्रश्न का उत्तर मुझे मेरी फ़ाइल में मिल गया है। 1987 में मेरे रोमानिया छोड़ देने के क़रीब एक वर्ष बाद जेनी मुझसे मिलने बर्लिन में आई। फ़ैक्टरी में मुझे प्रताड़ित किये जाने के समय से ही वह मेरी अच्छी मित्र बन गयी थी। फ़ैक्टरी से मुझे हटाये जाने के बाद भी हम प्रायः प्रतिदिन मिला करते थे। लेकिन जब मैंने बर्लिन में अपने रसोईघर में उसका पासपोर्ट देखा, तो उसमें फ़्रांस और ग्रीस के वीसा देख कर कुछ आश्चर्य हुआ। मैंने उससे पूछा कि उसने ऐसा क्या किया है कि उसे इन देशों के वीसा आसानी से मिल गये। तब उसने बतलाया कि उसे सेक्युरिटेट की ओर से भेजा गया था और वह मुझसे फिर से मिलने को बेहद उत्सुक थी। जेनी को कैन्सर था। उसकी मृत्यु बहुत पहले हो चुकी है। उसने बतलाया कि उसका काम हमारे फ़्लैट की जांच करना था और हमारे दैनिक जीवन के सम्बन्ध में पता लगाना था। हम लोग सुबह कब उठते हैं, कब सोने जाते हैं, हम शापिंग के लिए कहां जाते हैं, क्या खरीदते हैं आदि। उसने मुझसे वायदा किया कि वापिस जाकर वह मेरे सम्बन्ध में केवल वही बातें बतलाएगी जो हम दोनों ने तय कर रखी थीं। वह हमारे साथ ही रहती थी। जब तक वह रही, प्रत्येक दिन उसके प्रति मेरा अविश्वास बढ़ता गया। कुछदिन बाद मैंने उसका सूटकेस खोलकर देखा तो

उसमें मुझे बर्लिन स्थित रोमानियन कौन्सुलेट का टेलीफ़ोन नम्बर तथा मेरे फ्लैट की डुप्लीकेट चाभी मिली। उसके बाद उसके प्रति बराबर मेरा संशय रहा कि वह शुरू से ही मेरे सम्बन्ध में भेदिये का काम कर रही थी। उसकी दोस्ती तो मात्र एक आवरण थी। आज मुझे यह लिखते हुए खुशी है कि जैसा कि फ़ाइल से पता चलता है हमारी आत्मीयता हमारे अपने सम्बन्धों के कारण थी, न कि सेक्युरिटेट द्वारा प्रायोजित और यह भी कि जेनी ने मेरे आप्रवास तक कभी मेरे साथ भेदिये का काम नहीं किया। छोटी-छोटी बातों के लिए हम लोगों का आभार मानते हैं, वह ज़रा सी भी क्यों न हो उसमें भी हम ज़हर होने की सम्भावना से त्रस्त रहते हैं। पर यह तथ्य कि मेरी फ़ाइल से मेरे और जेनी के बीच की यथार्थ भावनाओं का पता चलता है— मेरे लिए खुशी का कारण है।

जर्मनी में 'नादिर्स' के प्रकाशन के बाद मुझे कई जगह से (लेक्चर के लिए) आमन्त्रण मिले, पर मुझे नहीं जाने दिया गया। लेकिन उसके बाद में जब मुझे साहित्यिक पुरस्कार मिलना शुरू हुये, तो सेक्युरिटेट को अपनी रणनीति बदलने के लिए बाध्य होना पड़ा। अक्टूबर 1984 में मुझे वास्तव में बाहर जाने की अनुमति मिल गयी, पर इसमें उनकी मंशा कुछ और ही थी। दुर्भावनापूर्ण थी। मुझे एक ऐसे व्यक्ति के रूप में देखा जा रहा था जो सरकार को धोखा देकर फ़ायदा उठा रहा है और देश के बाहर मुझ पर जासूस होने के रूप में संदेह किया जाता रहा। सेक्युरिटेट ने इन दोनों ही पहलुओं पर गहनता से कार्य किया, विशेषकर मेरे जासूस होने की बात को लेकर। मेरे ख़िलाफ़ काम करने के लिए, विशेषकर मेरे बारे में कुत्सित प्रचार करने के लिए, जर्मनी में जासूस भेजे गये। 1 जुलाई 1985 को जो कुछ किया गया उससे इस बात की पुष्टि होती है– कई बार की यात्राओं के बाद जर्मन स्टेट थियेटर के कुछ अभिनेताओं के बीच प्रचार किया गया और वह बहुत कुछ सफल भी रहा कि क्रिस्टीना (यानी मैं) रोमानियन सेक्युरिटेट की एजेण्ट है।

मेरे आप्रवास के बाद मुझे परेशान करने तथा मुझे अपने मित्रों-परिचितों से अलग करने के लिए सेक्युरिटेट ने और भी तीव्रता से काम करना शुरू किया। मार्च 1989 के एक नोट में लिखा है— हम ब्रांच 'डी' (डिसइन्फ़ार्मेशन) के साथ काम करेंगे उसके सम्बन्ध में इस प्रकार के लेख लिखेंगे और ऐसे उच्च सरकारी अधिकारियों संस्थाओं और लोगों के पास भेजेंगे जिनका जर्मनी में कुछ प्रभाव है जिससे यह भ्रम फैले कि वह सब सामग्री लेख पत्र आदि जर्मन सरकार की ओर से ही भेजे गये हैं।

मेरी फ़ाइल में मेरे दो रूप हैं। एक क्रिस्टीना के नाम से हैं जो स्टेट की दुश्मन है और सरकार उसके ख़िलाफ़ कार्यवाही कर रही है। इस क्रिस्टीना को निरस्त करने के लिए ब्रांच डी की मिथ्याकरण वर्कशाप में क्रिस्टीना की एक डमी तैयार की गयी है जिसमें ऐसी बातें हैं जिनसे मेरी अब तक की छबि बिगाड़ने की कोशिश है— जैसे पार्टी के प्रति ईमानदार कम्युनिस्ट। मैं जहां-जहां गयी, यह डमी मेरे साथ रही। उससे छुटकारा पाना आसान नहीं था। वस्तुतः मेरे कहीं पहुंचने के पहले ही वह वहां पहुंच जाती थी। भले ही मैंने शुरू से अब तक और हमेशा ही डिक्टेटरशिप के खिलाफ़ लिखा है, डमी इसके विपरीत अपना अलग रास्ता बनाते हुए चलती जाती है। वह मुझसे बिल्कुल अलग पूर्णतः स्वतन्त्र बन गयी है। भले ही रोमानिया में डिक्टेटरशिप समाप्त हुए 20 वर्ष हो रहे हैं, डमी का प्रेत अभी भी जीवित है। पर कब तक?

सृजनभूमि

हिंदी की सृजन-भूमि की उर्वरता का जायज़ा लेने में 'बहुवचन' की गहरी रुचि है। लेकिन इसकी कसौटी हम कह नहीं मानते कि किस रचनाकार को लेकर कहाँ कितनी धूम मची है या कहाँ कितना विवाद उठ रहा है। जो ख़ामोशी से भी अपना काम कर रहे हैं, लेकिन जिनकी ख़ामोशी किसी उदासीनता का पर्याय बनने से लगातार इनकार करती है- ऐसे रचनाकारों को पहचानने में भूल न हो, हमारी यह कोशिश है। 'कुछ ख़ामोशियाँ/साफ़-साफ़ सुनाई देती हैं' यह विश्वास रखने वाले एक कवि बख़्शीश सिंह (जिनके चार संग्रह 'दरवाज़े गिरवी रखे हैं', 'टुकड़ा-टुकड़ा ख़्याल', 'अपनी-अपनी ज़मीन पर' और 'पहला-पहला दु:ख' प्रकाशित हैं) की बारह नई कविताएँ यहाँ दी जा रही हैं। बाँदा के युवाकवि केशव तिवारी अपने इस संकल्प के साथ कि ''पहुँचना हमें भी है वहाँ जहाँ/ आदमी का बनाया सब कुछ/ मिले हर आदमी को'' प्रस्तुत हैं यहाँ, अपनी नौ कविताओं के साथ। पीयूष दइया अपनी डायरी के संवेदनशील गद्य से 'लापता क़िस्सों में' अपनी रचनात्मक पहुँच संभव बनाते हैं। विवेकानंद जैसे एकदम नये कहानीकार से आप का परिचय करा रही है उनकी कहानी 'विश्वास'। ऐतिहासिक उपन्यास के क्षेत्र में मेवाराम 'दाराशुकोह' जैसी कृति देकर अपनी ख़ासी साख जमा चुके हैं। 'सुल्तान रज़िया' शीर्षक से यहाँ प्रस्तुत उनका उपन्यासांश उनके शीघ्र प्रकाश्य नये उपन्यास के प्रति पाठकों को निश्चित ही उत्सुक बनाएगा।

चित्र-वीथी में इस बार हेम ज्योतिका की चित्र-शृंखलाओं से कुछ चुनी हुई कलाकृतियाँ।

नौ कविताएँ

केशव तिवारी

लो हम आ गये

पहुँचना हमें भी है वहाँ जहाँ
आदमी का बनाया सब कुछ
मिले हर आदमी को।

बैठे ठाले के कवि नहीं हैं हम
हम चाहते हैं ये नदी, पेड़, पहाड़, लोग
सब निकल पड़ें हमारे साथ।

हम जगह पर पहुँच कहें
सब अपने लिये सबसे माकूल
जगहें ढूढ़ लें।

सब पहाड़ों को उतार अपने अपने सर
अपने भीतर बहती नदी को
फैलने दें उसके पूरे विस्तार तक।

पहले से जमे लोगों से कहेंगे—
लो हम आ गये पूरे कुनबे के साथ,

अब सिकोड़ो बेवजह इधर उधर
फैले अपने पैर
तुम्हें रहना हो तो रहो हमारे साथ
हम तो अब टरने वाले नहीं।

अक्सर उपस्थित मिलता है

कवि कविता में रचता है।
एक दुनिया
और इस दुनिया को
कविताओं से निकल बाहर तलाशता है

बाहर की रची दुनिया को
अपनी दुनिया में भी खोजता है
कभी-कभी

इस खोज में लगा कवि
अक्सर उपस्थित मिलता है
समय की परिधि के
इस पार भी उस पार भी।

एक हठ यहाँ भी है

जेठ का मध्य है यह
अपने चारों ओर बह रही
आग के बीच

किसी हठयोगी सा बैठा
पंचाग्नि ताप रहा है
यह टुनटुनिया पहाड़

आज कुछ समय से पहले ही
लौट रही हैं
दुरेडी गाँव की औरतें
छंहा रही है नीम के नीचे
शहर से कंडा, लकड़ी, सब्जी
बेचकर लौटी हैं ये

एक हठ यहाँ भी है जो,
पहाड़ सा स्थिर नहीं है
ये पैरों से चलता है
और बोलता है आंखों से

फिर से आशंका में डूबा असाढ़ है
इनकी कठेठ पड़ गयी छाती में भी
कहीं न कहीं धुक-धुका रहा है
एक भय।

कल रात

सोचता हूँ जैसे मैं अवध
और बुंदेलखण्ड को चाहता हूँ
मेवाती मेवात को
भोजपुरिया भोजपुर को चाहता होगा

कल रात बतिया रहा था
दोस्त के ईंट भट्टे पर
सपरिवार काम करने आये
एक छत्तीसगढ़िया मजूर से

वह शराब में डूबा बता रहा था
अपने लोगों की बदमाशी
कैसे अपने ही लोगों ने लिखाया झूठा मुकदमा
सयानी होती बिटिया पर कसे छींटे

कई-कई बार बोला वह
एक रोटी खाकर भी न छोड़ता देश
रोटी ही नहीं, ये वजहें भी थीं सब छोड़ने की

बोला,सालों नहीं गया है दुर्ग
और न ही जाना चाहता है
चलते-चलते मैंने कहा,कल शाम मैं

जा रहा हूँ दुर्ग
तुम भी तो पाटन के लिए
उतरते होगे वहीं

जाने क्या छुपा था उसकी
नाराज़ आंखों के बीच
अचानक छलकने लगा बाहर
शराब के नशे में शिथिल
उदास आंखों को
इस तरह रोते मैने
देखा पहली बार

वो आज भी वहीं है

बहुत समय हो गया मैंने
वो निश्छल बेख़ौफ़
आंखें नहीं देखीं

जो मैं कटाई करते दंवरी करते
खेत हेंगाते लोगों की देखा करता था

मैं उनसे भी सहमत नहीं हूँ
जो रहते हैं कहीं और
आंखें कहीं और छोड़ आते हैं

जीवन भर कुछ समय का
देखा हुआ दोहराते हैं

बासी स्मृतियों में
कला की चाशनी मिलाते हैं

वो निडर आंखें आज भी वही हैं
कुछ-कुछ अपने समय को भाँपते
जहाँ उन्हें होना चाहिए

बस उन्हें याद करते हम
अपनी जगह पर नहीं है।

अवध और आम

अवध गमक रहा इन दिनों
दशहरी की महक से

दशहरी के कमज़ोर पड़ते ही
आयेगा गदराया चौसा
पतले छिलके का रस से भरा
पूरे भादौं बहेगा इसका मीठा रस

अवध की नस-नस में
ये दुनिया में जहाँ भी पहुँचे हैं
पहुंचे हैं अपनी अवधी पहचान के साथ

कहीं-कहीं अभी भी खड़े हैं
देशी दहक्खड आम

सेन्दुरिहा, खट्टुआ बिसहरी, भदइया की
अपनी जानी पहचानी खटास के साथ

सरपतिहा सेंवार से गुज़रते
छिल गये शरीर को सहलाते हवा
मिल जायेगी इनकी छांह में छहाते

गेहूँ कटाई के बीच इन्हीं से पीठ
टिकाये आम की चटनी रोटी खाते
मिल जायेंगे बिलासपुरिया कटइया मजूर

जेठ में आइये तो बस हवा में
एक ख़ास महक बता देगी

आप इस समय अवध में है।

महोबा

कितुआ ताल मदन सागर
विजय सागर, धुबनी पहड़िया
    का ये शहर
अल्हैतो, पारस पथरी मनिया देव,
महोबिया पान का ये शहर
गौरवशाली अतीत, विपन्न वर्तमान
    के बीच
हाँफ़ता भागता ये शहर
कितुआ के किनारे बैठे-बैठे
ये कभी आठ सौ साल पहले
चंदेलों के काल में चला जाता है।
कभी खाली तांगा लिये
सवारी के लिए गिड़गिड़ाता है।
कभी न झुकने की ज़िद के साथ
यह आज कितना बदल गया

कभी दिल्ली को चुनौती देने वाला
आज खुद में ही सिमट गया है
मदन ताल के बीचो-बीच बने
खखरा मठ के भग्नावशेषों से
भव्य इमारतों को ताकता है ये

कवि जगनिक के आल्हखण्ड का ये शहर
आल्हा-ऊदल ताला सैयद मलखान
इन लोकनायकों का तो
इतिहास नाम भी नहीं लेता है।

जिनके बिना यहाँ लोगों की
बात ही पूरी नहीं होती

इतिहास का होता है एक
अपना गणित
वह जानता है कहाँ बोलना है
और कहाँ सोट खीच लेना है

पर सच तो यह है कि
इतिहास जहाँ पर चुप हो जाता है
कविता बोलती है।

कंकरा का घाट

कंकरा तालाब का धोबी घाट
चिकने सपाट पत्थर
अब भी पड़े हैं यहाँ
पूस माघ की जाड़ा में रेल पकड़ने
जाते समय यहीं पर
घुटने-घुटने पानी में खड़े
हच्छु-हच्छू करते कपड़ा धोते देखा है।

हमने धोबियों को
रेह लपेटे कपड़ों की लादी गधों पर लादे
मोट मोट रोटी पोये री भरेठिन
चले होई कंकरा के घाट
गाते धोबी इसी घाट की बात करते थे
जब कहीं दूर दूर तक नहीं थी
रिन की चमकार

इन्हीं के बूते लकलकाते थे गांव के कपड़े
छियो राम छियो धोबी के लाल जियो
गाते गाते ये उसी चमकार के पीछे के अंधेरे में
कहीं खो गए
एक कसौटी जो इन्होंने अपने लिए
रखी थी ''धोबिया उहैनिक लागै जे धोवे
बकुला के पांख''

बकुलों के पंखों को देख कर
आज भी याद आ जाती है।

मेरा गाँव

पहले अधिरता घर लौटने पर
मड़हा में जागते मिलते थे दादा

आज जब रात-बिरात गाँव में
धरता हूँ पाँव
कोई आँखों आँखों में मिलता है
कुछ पड़तालता सा
कहाँ रहे इतनी देर

मेरा गाँव मेरी वल्दियत
जिसके बिना
लापहचान हो जाऊँगा मैं
मित्र कहते हैं पाँच सितारा
होटल में भी
झलक जाता है मेरा देशीपन
मुझे लगता है झलकना नहीं
साफ़ दिखना चाहिए

जब मैं धनहे खेत से आ रहा हूँ
तो मुझे दूर से ही गमकना चाहिए

यहीं पर खड़े होकर देखी है दुनिया
पहली बार
अब इसे मैं कांधे पर उठा
दिखाना चाहता हूँ दुनिया को

मेरा गाँव बाबा के सर की पगड़ी
माई के कमर पर चमकती
बारह लर वाली करधनी

आंगन में फूला गेंदा का फूल
पिछवाड़े का दहक्खड़ बबूल

इधर कुछ दिनों से पहले सा
निश्चिंत नहीं सो पाता है
जैसे बुढ़ाई में बाबा की
खटक गई थी नींद
चौंक चौंक उठते थे
कहते थे सपने में आता है बिगवा
जो सर पर खड़ा गुर्राता है
अब मेरे गाँव को भी कुछ
ऐसा ही सपना आता है
मुझसे मिलकर भी
कुछ कहता भी नहीं
और आश्वस्त भी नहीं हो पाता है

बारह कविताएँ

बख़्शीश सिंह

(1)

कुछ दरवाज़े
अक्सर बन्द रहते हैं
तभी खुलते हैं
जब कोई बाहर का रिश्ता
अन्दर से खोलता है

कुछ दरवाज़े
सिर्फ़ भिड़े होते हैं
बन्द नहीं होते
शायद उनके बाहर की दुनिया
और अन्दर के लोगों का रिश्ता
रिश्ता नहीं होता

कुछ दरवाज़े
कभी बन्द नहीं होते
खुले ही रहते हैं
इनमें हवा, रोशनी को
फ़र्क़ नहीं पड़ता
चाहे बाहर से अन्दर आए
या अन्दर से बाहर।

(2)

सपने बेचना चाहता हूँ
यदि तुम्हारे पास कुछ भी नहीं है
तो, क्या देकर ख़रीदोगे
इस बारे में सोचो

तब तक
फेरी लगा आता हूँ
उन लोगों के बीच
जिन्होंने कभी कोई
सपना नहीं ख़रीदा।

(3)

कुछ ख़ामोशियाँ
साफ़-साफ़ सुनाई देती हैं
चाहे तपती दोपहर हो
या धूल भरी शाम

क्यों चिल्ला रहे हो
किसके लिए चिल्ला रहे हो
पहले सुनो, समझो
तिनकों, टहनियों के
टूटने और कड़कने की आवाज़ें।

(4)

वह मेरे साथ था
जैसे हथेली की अँगुलियाँ
उसकी मरज़ी से
मुट्ठी बन्द होती थी
उसकी मरज़ी से

मुट्ठी खुलती थी

न जाने क्यों
वह इस बंद करने
और खोलने की मरज़ी को
सम्भाल न सका

अब हथेली ख़ुद को
हिकारत की नज़र से देखती है।

(5)

साये की ख़्वाहिशों ने
घेर लिया
आज अकेला देखकर

वैसे तो अक्सर खोया रहता था
अपने आप में
उसी तरह
जैसे पानी में पड़ा बर्फ़ का टुकड़ा

अब साये ने छू लिया मुझे
उसी तरह
जैसे धूप हवा को छू लेती है।

(6)

इन्सानों की तरह
परछाइयों के भी
नाम होते हैं
चेहरे होते हैं

जब वे बोलती हैं

तब बहुत सी
आवाज़ें गूंगी हो जाती हैं।

(7)

काले लिबास में
उससे
बिल्कुल साफ़ सुथरी
सफ़ेद सी
प्यार की बातें करता रहा

उसके विश्वास ने झांक कर कहा
यह लिबास क्यों?

मुझसे पहले
मेरा लिबास बोल उठा
इस पर कोई और
रंग नहीं चढ़ता।

(8)

गुज़री धूप की
इबारतें
संभाल के रख रखी हैं
दरख्तों ने
अपनी छाँव के पास

इस इंतज़ार में
कि कभी तो
कोई राहगीर आयेगा
किताब सा
चेहरा लिये हुए।

(9)

सूरज कभी झूठ नहीं बोलता

हाँ, कितना सच बोलता है
सुबह जानती है
दोपहर जानती है
उसके साथ चलते-चलते बादल जानते हैं
परछाईयाँ जानती हैं
जो गवाही भी देती हैं
संध्या के साथ-साथ
कि सूरज सिर्फ़ सच बोलता है।

(10)

हँसी की दीवार के पीछे
उसने अपना रोना रोया
कि मेरे पास मौत को ख़ुश
करने के कुछ लतीफ़े हैं

पर क्या
उनका ज़िक्र करना
सही होगा
इस बसंत के मौसम में।

(11)

हवाओं से
मेरी दुश्मनी क्या हुई
जहाँ से उठा था
वहीं बरसना पड़ा।

(12)

अंधेरे में भी
मेरे हाथ
ढूँढ लेते हैं
मोमबत्ती,
दियासलाई
क्योंकि सब कुछ संचित था
जाना पहचाना था

और रोशनी होते ही
सब चीज़ें बोलने लगती हैं
थोड़ा सा आराम मिलता था
अब कि
चर्चा शुरू, सवाल पर सवाल
चीज़ें कैसे इकट्ठा कीं
कहाँ से कीं और क्यों कीं?

कहानी

विश्वास

विवेकानंद

अकेलेपन से तंग आकर उसने अपने शरीर में आग लगा ली। घबराहट में वर्मा जी कछ समझ नहीं पाए। वह बाहर की ओर भागे, मदद के लिए आवाज़ लगाने, पर हतबुद्धि सड़क पर आकर खड़े हो गए। उन्हें समझ ही नहीं रही कि क्या करना है.... और अंदर प्रेमा जलती रही। ज़िन्दा चमड़े की बदबू और आग की उठती लपटों ने वर्मा जी का साथ दिया। लोग-बाग जमा होने लगे। किराएदार भी ऊपर से नीचे आंगन में आ गए। लेकिन तब तक प्रेमा इतनी जल चुकी थी कि उसे बचाया नहीं जा सकता था।

....प्रेमा मर गयी। नहीं, जल कर मर गयी।

यह सच सभ्य समाज के हर उस वर्ग को पता था जो फुसफुसाकर बातें करना जानता है। दुख की इस घड़ी में निडर समाज आंगन में खड़ा था और अस्पताल से पोस्टमार्टम तक और थाने से कचहरी तक की वास्तविकता सामने ला रहा था।

..... घर की बात घर में रह गयी, जल मरी प्रेमा समाज में कहीं दफ़न हो गयी।

दूसरे दिन शाम होते-होते वर्माजी के दोनों लड़के आ गए। बड़े लड़के के साथ उसकी पत्नी और बच्चे भी थे। इतने बड़े घर के बस एक कमरे के एक कोने में अपने आप को उकड़ूं किए बैठे वर्माजी। पूरा घर भाँय-भाँय करता, इतना डरावना कि बहू और बच्चे की हिम्मत नहीं हुई कोई और कमरा ताकने की। सारी रात पूरा परिवार एक बड़ा बल्ब जलाए साथ में लालटेन भी धीमी किए उसी कमरे में बैठा रहा। क्या हुआ? कैसे हुआ? अब क्या करना है? सारे सवाल वर्माजी की हालत में कहीं गुम हो गये। सफ़र के बचे बिस्कुट-सेब से बच्चों का काम तो चल गया, बड़े अपनी भूख़ को सवाल की तरह कहीं गुम कर गये। जैसे-तैसे सुबह हो आई। बाहर कुछ खट-पट सुनाई दी। बड़ा लड़का बाहर निकला तो उसने देखा किरायेदार अपना सामान धीरे-धीरे नीचे ला रहे हैं। पूछने पर पता चला कि वे लोग घर छोड़ कर कहीं और जा रहे हैं। ठेले पर सारा सामान लदवा कर, पत्नी और बच्चे को रिक्शे पर बिठाकर किरायेदार ने बड़े लड़के को साथ लिया और ऊपर चला गया। थोड़ी देर बाद दोनों नीचे आए, दोनों ने एक दूसरे को नमस्कार किया, फिर ठेले वाले को आगे बढ़ने का इशारा कर, किरायेदार रिक्शे पर अपनी पत्नी की बगल में जा बैठा। बड़ा लड़का देखता रहा पर मोड़ पर मुड़ते हुए भी किरायेदार ने पलट कर नहीं देखा। बड़ा लड़का जब पलटा तो पीछे पत्नी और बच्चों को खड़ा देख पल भर को सिहर गया। लेकिन इसका आभास उसने किसी को होने नहीं दिया और वहीं बारामदे में रखी कुर्सी पर बैठते हुए भारीपन को थोड़ा हल्का करते हुए उसने कहा : 'सोनू और प्रिया में कौन ये रुपये दादाजी को दे

आएगा?'

कोई आगे नहीं आया बल्कि दोनों मां के पीछे दुबक गए।

'राकेश... वापस घर चलो'-बड़े लड़के की पत्नी ने कहा।

'ऐसा नहीं होता माला',

'बहुत डर लगता है....'

'ठीक हो जाएगा'

'कैसे?'

'तुमने पिताजी को कुछ दिया या नहीं?'

'नहीं'

'वे तीन दिनों से भूख़े होंगे....'

'मुझे रसोई में जाने से डर लगता है, तुम साथ चलो तो फिर मैं कुछ कर लूंगी'

'अच्छा, क्या बनाओगी?'

'देखूंगी। वैसे दलिया है, बच्चों के लिए बनाऊंगी तो सब के लिए बना लूंगी...'

'संदीप कहां है'

'भैयाजी, पापाजी के कमरे में सो रहे हैं'

फिर रात तक सब निश्चय कर लिया गया कि कल तड़के ही सब राकेश के घर चले चलेंगे। वहीं पर सारा क्रिया-कर्म किया जाएगा। सुबह संदीप जाकर दो रिक्शे लेता आया। रिक्शे पर सामान रख दिया गया। बगैर हो-हल्ले के सब चले जाना चाहते थे। तभी दूधवाली काकी आ गई। रिक्शे पर बैठते-बैठते राकेश ने काकी का हिसाब किया और आगे के लिए मना कर दिया। रुपये को आंचल में बांधते हुए काकी वर्माजी के रिक्शे की ओर बढ़गई। 'बच्चा के मां' आर बूढ के कनिया नये मरै, लेकिन कि करभग सुहागन मरलय, योहो सुभे छै' कहती हुई काकी दूसरे घरों की ओर चल दी।

धीरे-धीरे आगे सब फिर से लय में आ गए। संदीप कुछ दिनों बाद अपने काम पर लौट गया। वर्माजी बच्चों में व्यस्त हो गए और माला और राकेश अपने कामों में। माला का स्नेह और संभाल सभी को इस त्रासदी से निकालने में सहायक रही। माहौल में पसरा मौन और संवाद-हीनता धीरे-धीरे मुस्कान में परिवर्तित होने लगी थी।

एक दिन शाम की चाय पापा को देकर जब माला मुड़ी तो वर्माजी ने उसे रोक लिया।

'बेटा कुछ देर यहां बैठो तो'

माला बैठ गयी।

'बच्चे अब बड़े हो गए हैं। तुम भी अब इतना घूंघट मत लिया करो....' वर्माजी बग़ैर रुके आगे कहते गए....बेटा अगर राकेश को ऊंचाई से फिसलते देखो तो तुम क्या करोगी'

'जी'

'हां क्या करोगी?'

'मैं नहीं समझी पापा'

'अगर राकेश ऊंचाई से गिर रहा हो तो तुम क्या करोगी?'

'मैं....मैं क्या करूँगी। उन्हें आवाज़ लगाऊंगी या उनकी ओर दौड़ जाऊंगी'

'और यही बात अगर मैं तुम्हारे लिए कहूं तो क्या राकेश भी....'

'अरे वे तो ऊंचाई से सीधे छलांग लगा देंगे'

इतना कह कर माला चली गई।.... पर क्या राकेश ऐसा करेगा? क्या वह इतनी हिम्मत दिखा पाएगा? नहीं-नहीं राकेश ऐसा नहीं कर सकता। इन औरतों का क्या, इस झूठ को विश्वास का नाम देकर जीती चली जाएं। उस दिन के बाद से वर्माजी की नींद उचट गई। बार-बार यही एक बात दिमाग को झकझोरती रहती कि अरे वे तो ऊंचाई से सीधे छलांग लगा देंगे। लेकिन कैसे? इतना प्यार तो मैं भी अपनी पत्नी से करता था और लगभग इतना यक़ीन तो उसका भी मेरे ऊपर था। लेकिन क्या हो गया उससे... वैसे भी प्यार या विश्वास होने से ही क्या हो जाता है। इससे आदमी के अंदर खुद को ज़िन्दा रखने की इच्छा का अंत तो नहीं हो जाता? माला अभी बच्ची है। पति को चाय और बच्चों को कपड़े पहना देने से दुनियादारी समझ में नहीं आ जाती। मुझे ग़लत ठहरा कर चली गई। अगर यह सब ग़लत होता तो उस दिन मैं भी उसके साथ ही जल गया होता। लेकिन नहीं, मैं ज़िन्दा हूं यानी मैं सही हूं। ये लड़की मुझे प्यार और विश्वास बताती है। जिस दिन ऐसा होगा न तो यही सबसे पहले भागेगी। फिर अगर मैं भागा तो कौन सी ग़लती की। राकेश भी भागेगा। सब भागेंगे। लाख़ कोशिशों के बाद भी वर्माजी अपने आप को ग़लत नहीं ठहरा पाते।

आगे कितने ही दिन इसी बेचैनी में काट दिये गए। एक दिन मौका देखकर वर्माजी ने माला से फिर कुछ वैसा ही सवाल किया।

'अच्छा माला क्या कभी राकेश ने तुम पर शक किया?'

'कैसा शक'

'मानो किसी ग़लत संबंध को लेकर....'

'पापाजी आप....'

'देखो, गुस्सा मत हो'

'कुछ होगा तभी शक करेंगे न'

'और राकेश को लेकर, मेरा मतलब अगर कोई तुम्हें आकर कहे...'

'भगवान् भी आकर कहेंगे न पापा, तो मैं उनकी भी न सुनूंगी और ऐसे ही उठ कर चली जाऊंगी।'

माला आवेश में उठ कर अंदर चली गई। और राकेश के आने के बाद सब बातें बताने तक उसका आवेश बना ही रहा।

राकेश ने सब बातें बड़े जतन से सुनी और माला को अपने पास खींचते हुए कहा : 'जो बातें मैंने उस दिन छलांग लगाने वाली बात पर कही थी, आज भी वही बात कहूंगा। पापा और मम्मी कभी अलग नहीं रहे। उसने पापा-मम्मी जितना प्यार जितना विश्वास कहीं नहीं देखा। अब इस उम्र में आकर मम्मी का

इतना लंबा साथ छूट गया। तो पापा में कुछ परिवर्तन तो आएगा ही न। वे ज़िन्दा हैं यही ग़नीमत समझो.... नहीं तो ये लोग एक दूसरे के बिना...। काकी ने ठीक ही कहा था कि बच्चे की मां और बूढ़े की स्त्री कभी न मरे। बस तसल्ली ये है कि मां सुहागन मरी, ये स्त्री के लिए शुभ ही है। कहते-कहते राकेश का गला भर्रा आया। उसने हाथ जोड़ कर आगे कहा : पापा भी अब ज़्यादा दिनों तक नहीं.... पर जब तक हैं....। माला ने उसे आगे कुछ कहने नहीं दिया। माला अपने अधीर होने पर शर्मिंदा थी। किसी का इतना लंबा साथ छूट जाने से उपजे ख़ालीपन को भरना असंभव था। पर दोनों ने पूरी रात उसी ख़ालीपन को संवारने में बिता दी। दोनों ने सुबह जल्दी ही बिस्तर छोड़ दिया। एक नई उम्मीद, एक नए जोश के साथ दोनों ने अपना-अपना दायित्व संभाला।'

सुबह जब चाय लेकर माला वर्माजी के कमरे में गई, तो उन्हें सोते देख उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने चाय मेज़ पर रखी और राकेश को बुलाने चली गई। पापा को ऐसे सोए देख दोनों को अच्छा लगा। राकेश ने इशारे से माला को बाहर चलने को कहा। आज वर्माजी बहुत खुश थे। माला के जवाब ने इस बार उन्हें सुला दिया था। 'भगवान भी आकर कहेंगे न पापा तो मैं उनकी भी न सुनूंगी' इस एक बात को वर्माजी बार-बार अपने ज़ेहन में दुहराते और निश्चिंत हो जाते।.... सात सालों में माला ने जितना सीखा, उतना तुमने सैंतालीस सालों में भी नहीं सीखा। जितना विश्वास उसे राकेश पर है, तुम्हें मुझ पर नहीं था। तुम ग़लत थीं। तुमने शक किया था, तो मरता कौन। मेरा किसी से संबंध होगा, ये सोचा कैसे तुमने। ग़लत तुम सोचो और उम्मीद करो कि कोई तुम्हें आएगा बचाने....? और अगर ऐसी उम्मीद करनी ही थी तो उससे पहले माला की तरह विश्वास करना सीखो।

माला के विश्वास ने वर्माजी को बड़ा चैन पहुंचाया। राकेश के छलांग लगाने के भरोसे पर माला का राकेश के ख़िलाफ़ भगवान् की भी न मानने के विश्वास ने विजय पायी थी। और उस विजय को गले में लटकाये वर्माजी विजेता की तरह घूमते रहे। इस बीच माला के लिए वे नत-मस्तक ही रहे। लेकिन धीरे-धीरे गले में लटके विजय माला के फूल मुरझाने लगे और एक दिन आया, जब आख़िरी फूल भी झड़ गया। अब कंधे को लटकाए फिरना वर्माजी के लिए दूभर हो गया। उन्हें सब तरफ़ से ध्यान हटाना चाहा, लेकिन जहां से जो हटता पीछे शून्य नहीं, दृश्य ही छोड़ता। फिर उन्होंने उल्टा किया। सब में ध्यान लगाना चाहा। लेकिन जो दिखता वो दृश्य नहीं शून्य हो जाता। उन्हें फिर नींद नहीं आई। अगर आंखें बन्द भी कर लेते, तो अपने आप को उस दिन के परिदृश्य में ही पाते।

सुबह का समय था। वर्माजी बाहर से टहल कर आए थे और बीच आंगन में चुपचाप अख़बार पढ़रहे थे। वंदना आयी और उन्हें चाय देकर चली गई। चाय की चुस्की की आवाज़ सुन प्रेमा आंगन में आ गई। 'चाय किसने दी आपको, वंदना ने....'

'हां'

'क्यों'

'क्यों क्या'

'एक दिन,दो दिन चलो ठीक है, ये रोज़-रोज़। आपको शर्म नहीं आती?'

'अच्छा ठीक है आगे से मना कर दूंगा।'

'ये मना करना तो कितने दिनों से चल रहा है आज तक तो कर नहीं पाए।'

'ठीक है कल से तुम सबेरे जाग जाना, बात ख़त्म।'

'क्यों मैं जागती नहीं थी? आज भी जाग जाती हूँ और आप लोगों का बिचिर-बिचिर सुनती रहती हूं। ऐसे में क्या करूँगी बाहर आकर और यही अगर बाहर आऊंगी तो छिनाल उधर छिटक जाएगी।'

अचानक मुंह से निकले अपशब्द पर वर्माजी खड़े हो गए और प्रेमा की बांह पकड़ कर खींचते हुए उसे अंदर ले गए।

'कैसा दिमाग़ हो गया है तुम्हारा। वंदना बच्ची है, अपने लिए चाय बनाती है और मुझे देखती है तो लाकर दे देती है।'

'बच्ची है? अपने राकेश से बड़ी है।'

'कितना कूड़ा भरा है तुम्हारे दिमाग में। इसलिए मैं किराया नहीं लगाना चाहता था। रिटायरमेंट के बाद आराम चाहता था....'

'उसकी क्या कमी है आपको। सौत तो बैठी ही है सब करने के लिए.....'

'छिः प्रेमा, अच्छा नहीं कर रही हो तुम।'

'और आप बहुत अच्छा कर रहे हैं....'

'क्या कर रहा हूँ मैं? आंगन में बैठ कर चाय पी लेता हूँ यही न, कोई कमरे में तो नहीं घुसा रहता।'

'तो वो भी कर ही लीजिए....'

'नहीं वह तुम्हीं करो....'

'क्या कहा आपने, क्या करूं मैं...'

'सुनोगी, दम है। शुरू-शुरू में जब संजीव आया था, जब वंदना और बच्चे उसके साथ नहीं आए थे। तब कितनी ही बार तुमने उसके कमरे में खाना पहुंचाया था। पहुंचाया ही नहीं था बल्कि खाना खा लेने तक बैठी भी रहती थीं। और देर रात तक खी-खी-खी-खी चलती रहती। फिर उसकी जूठी प्लेट लेकर वापस आतीं। उस वक़्त क्या होता था। इस सब के बारे में मैंने तुम्हें कभी कुछ कहा....'

'तो अभी आप क्या कर रहे हैं वर्माजी। आं.....। हम औरतों के लिए तो ये नोंक-झोंक भी....। मैं तो आज भी आपके लिए वैसे ही सब करना चाहती हूँ लेकिन चौंसठ साल.... बिस्तर से उतरते-उतरते वक़्त ले ही लेता है। पर आप लोग तो मर्द हैं, आप लोग भी ऐसे विचलित हो जाएंगे.... पहले समय कहां है.... फिर चैन कहां है..... लेकिन वर्माजी विश्वास कहां है। इसकी कोई चिंता नहीं। मुझमें भी नहीं है, मेरी भी ग़लती है..... पर इतनी बड़ी बात....' वर्मा जी उठकर बाहर चले गए। थोड़ी देर बाद अंदर एक ज़ोर की चीख़ हुई। वर्माजी अंदर दौड़े। आंगन में प्रेमा चिल्लाती रही 'मुझे बचा लीजिए, मुझे बचा लीजिए'। वर्माजी भागकर सड़क पर आ गए।

माला की बातें याद आते ही उन्हें हंसी आ गई कि वे तो ऊंचाई से सीधे छलांग लगा देंगे। वर्माजी उठकर बाहर सड़क पर आ गए।

डायरी

लापता क़िस्सों में

पीयूष दईया

(1)

भीख भूखे भिखारी

क्या आपने कभी कोई भिखारी देखा है? एक उस्ताद भिखारी। मैंने ऐसा कोई भिखारी नहीं देखा जो अपनी इच्छा के लालच से उन सब के सम्मुख अवश न हो जाता हो जहां उसे पता रहता है कि यह पूरी हो सकती है। इच्छा की भीख। लालच कभी पूरा नहीं होता। वह लाइलाज है। जैसे भूख। भीख लालच नहीं, न असल में भूख से है। भीख को भूख नहीं लगती, भिखारी को लगती है। भिखारी की जिजीविषा इस मामले में अमर होती है। वह बिसात नहीं छोड़ता। फेरा लगाता रहता है। एक छोर से दूसरे छोर तक। कभी यहां, कभी वहां। आस में। कहीं तो, कभी तो पत्ता लगेगा। भीख मिलेगी। पत्ता लग जाता है। अनेकों बार। हर जीत पर पहली हार याद आती है। पहली भीख। जिजीविषा पहली हार है, अन्तिम जीत। भिखारी जान लेता है। किससे मांगने पर भीख मिल जाएगी और किस पर दांव छोड़ा जा सकता है। भीख के लिए। किससे क्या मिल सकता है, किससे क्या नहीं। इसका ज्ञान अद्भुत है। भिखारी के पास, अगर वह उस्ताद है तो। यह अनुभव से नहीं, ज़ात के जन्म से आता है। ज़ाहिर है न जाने कितना समय भिखारी खपाता रहता रहा होगा भीख मांगने, अपमान सहने में। उस्ताद बनने के लिए। जन्मजन्मान्तरों तक। भूख को जानने में कि वह पूरी नहीं होती। जैसे दिशाएं जो अनन्त हैं। वह किसी भी दिशा में चाहे जितना भी आगे क्यों न चलता जाए, वह उस दिशा का अन्त नहीं पा सकता। यह जान लेता है, एक उस्ताद भिखारी। वह भीख से मुक्त हो जाता है। अब वह खेलता है पर कभी भीख से नहीं। भीख क़े लिए। वह मुक्त रहता है। वह भिखारी होता है, उस्ताद नहीं। खेलता है। वही उसका सरोकार बना रहता है। खेल। आख़िर तक। वह कभी जा नहीं पाता। भिखारी बना रहता है। न तत्सम में न तद्भव में। हमेशा यह विस्मृत किये कि उसकी रगों में यह ख़ून है जो दौड़ रहा है, भूख नहीं। उसका वास्ता ख़ून या रगों से नहीं, भीख से रहता है। वह खेलने लगता है, भूख से। उस्ताद भिखारी। खेल मुक्त, मुक्त खेल नहीं। वह ज़ात के जन्म से आता है, भीख से नहीं। न खेल से। खेल न जाने किसकी मुट्ठी में रहता है। मुट्ठी में भीख आ सकती है, नहीं भी। यह खेल है। हर बार। भिखारी भीख में बदल जाता है, भीख

भिखारी में। दोनों, एक में। भीख में। जग सकती है तीसरी आंख या कभी तीन इक्के निकल आ सकते हैं। भिखारी के पास, अगर वह उस्ताद है तो। भीख के लिए। गोया सबको भीख से बचा सके।

अब भीख है, भूख नहीं। उस्ताद है, भिखारी नहीं। तीसरी आंख है, तीन इक्के नहीं। ज़ात के जन्म से, जन्म की ज़ात में। आते न आते। भीख मांगते। भूखे हैं। भिखारी।

(2)

आग भूखी राख

भूख। वह हर बार शान्त हो जाती है। फिर से जगने के लिए। वह आग नहीं। जलती आग अपने से पूरी है नहीं, भूख नश्वर है, हर बार शान्त हो बारम्बार उग आती। वह हमेशा भूख है, अपने हर रूप में, अरूप में। चोला बदल बदल थकती नहीं। अमर है वह। भूख है, आग नहीं। आग भूखी नहीं सो जलाती है। अपने जलने में उसे स्वरूप नहीं। जो आ जाय उसे पूरा कर देती है। राख। आग नहीं। स्वरूप बदल लेती। हर बार। पूरा होने में। वह भूखी है, आग नहीं। भूख आग है, आग भूख नहीं। वह अमर है।

न भूख न आग। हर बार। राख। चोला बदलती। भूख शान्त होती, आग पूरा होती। अमर है चोला, अवतार लेता। न आग में न भूख में न राख में। वह अवतार है, अमर है, चोला बदलता। न बदलने में विद्यमान रहता। जैसे आग। जैसे भूख। जैसे राख। हर बार। तिलंगे तीन। आग में, भूख में, राख में। वे अवतार नहीं, चोला बदलते। तिलंगे हैं, तीन। शान्त होते, जगने के लिए। आग होते, जलने के लिए। भूखे होते, बारम्बार उग आने के लिए। अवतार चोला नहीं कि बदल लें, भूख नहीं कि शान्त कर लें, आग नहीं कि जल लें, राख नहीं कि अवतार ले लें।

अवतार स्वरूप नहीं। हर रूप में, अरूप में। विद्यमान। स्वरूप के रूप से, रूप के स्वरूप में। वह आग है, भूख नहीं। भूख आग नहीं। कि वह है, मान ले। कि भूखी है वह, न माने। कि अवतार है, माने न माने। न भूख में न आग में न राख में। हर रूप में, अरूप में। वह है। पूरा होने में। अमर नहीं जो जलाता है, भूखा है, थकता है, उग आता है। बारम्बार। वह न बदलने में है। न भूखा है, न बदलता है, न थकता है। नश्वर नहीं है। अवतार है। अमर है कि मर है। विद्यमान है। मान है। भूख नहीं कि आग है। न हो। कि राख नहीं, भूख नहीं। मानो न मानो जलती है। आग है, अवतार नहीं। मर है, अमर नहीं। जलता है, जलाता नहीं। थकता है, बदलता नहीं। नश्वर है, राख नहीं।

अमर है। भूख है। आग है। राख है। अवतार है। तोष है, संतोष नहीं।

(3)

त्रिभुज

एक ने गड्डी फेंट पत्ते बांटे। अपने को सयाना समझते, दूसरे को मूढ़मति। अन्धा चलने लगे, तीनों। देख लेते तो चाल चलने का हौसला हवा हो सकता था। बाजी जीत लेने की तमन्ना में। तीनों ने ख़तरा सूंघ लिया था, हवा में। देख कर चलने का। अमिट से दाग़दार होने का।

मंज़र हुस्न हुनर से तारी था। तनाव ताने।

हस्ती दांव पर लगी थी, तीनों की। अन्धा चलने में क़िस्मत का सहारा काम कर रहा था, देख लेने पर अपनी असलियत। दोनों हवा हो जाने थे, थोड़ी देर में। एक बोला, दूसरे से, ''चलो चाल''। दूसरे की निगाह अपनी जेब पर गिरी। तीसरा मुंतज़िर था, दूसरे का। अजब बनते घेरे में तीनों एक दूसरे के लिए मंझले थे। त्रिभुज बना था। लगा, कुबेर का खज़ाना है। चलने न चलने में तीनों का। फ़ैसला। रात सा काला और पत्थर सा सख़्त। ख़ामोश।

रात। तीनों की चाल देखती रही।

सबसे बौने पत्ते की चाहत में। बादशाह-बेग़म-ग़ुलाम के उनके तीन पत्तों में न निकल आने की दुआ में।

आंखवाले तीनों। हस्ती में।

तीन इक्के निकल आते।

तो?

वे मुफ़लिस के खेल में होते।

(4)

ख़ुदा खेल

वे तीन यूं दिखते कि तीन पत्ती हों। पत्ती के खेल में तीन। तीन पत्ती खेलते। तीन से खेल बनने-बिगड़ने में खेल का यूं आग़ाज़ बनता कि पत्ती हो, खेल की। मानो पत्ती नहीं, खेल हो। एक गुलाबी बहार नीले आवरण से भोली, दूसरी नाफ़ से यूं दर्शन में लोकती कि पत्ती हो। तीसरी में दर्शन रहता खेल में सुट्टा लगाता। सेंधमारी करता। न जाने किस सिगार का। पता लगाता। नीले का। तीन पत्ती में।

खेल में नहीं, खेल से बाहर रहते।

तीनों।

खेल सारा पत्तियों का होता, खेल का नहीं। खेल के बनने-बिगड़ने में यह सुट्टा लगाते तीनों जान नहीं पाते। मुग़ालते में रहते। खेल के। यह भूल होती। तीन पत्ती की। वह खेल में रहती, उन से फ़रार। नीले में। विद्यमान। खेलते, तीन पत्ती।

फूल मिलते नाफ़ नज़र से जैसे तोते की जान नज़र उतारती दर्शन में ज्यों गुलाबी बहार भोली नाफ़ से नज़र आती पत्ती में।

पत्ती होती, खेल नहीं।
खेल न जाने किसकी मुट्ठी में रहता।
तिकोन बनाता। नीले के
उतरते न उतरते
अभिनेत्री आंख
खेल में खिलती। खेलती
खुदा
खेल।

(5)

समान

सारी भाषाओं में खेल समान था। खेल था। कभी इक्के से जीतता, कभी दुग्गी से। बादशाह हमेशा बारहबानी रहता। हर खेल में कि खेल चलता रह सके। ज्यों गुलाम या बेग़म या कुछ और भी। खेल में।

भले तीन में।

आना चाहिए, देख लेने। निकलना चाहिए सो पत्ते देख कर चलने न चलने का फ़ैसला करना चाहिए।

इक्के का।
वही करते
तीनों।
सारी भाषाओं में
खेल से—
समान।

(6)

आखेट

आज कोई मेरी पिछली टोपी ले उड़ा। याद आया। न जाने कितने साल बीते। याद के। क्या करूं? पिछली की तलाश या नयी ख़रीद लूँ? मुझे नहीं मालूम। मैं अपने सर पर बाल उगने नहीं देता। अब भी। नहीं चाहता कि कोई घोंसला बनाये। बालों में, जानते हुए सब। इतने सालों तक। सब देखते रहे। टोपी पहने। अपने साथ क्या करता रहा?

नहीं जानता कि जानता हूँ।

शीशे में बाल आ गया है। बाल में शीशा देख रहा हूं या शीशे में बाल। दोनों। शीशा शब्द हो सकता है जिसे हटाया जा सकता है। शब्द में शीशे के बगैऱ शीशा दिखता है पर बाल नहीं। बाल हटाया जा सकता है, शब्द नहीं। साफ़ सुन रहा हूं, शीशे में दिखता। न शीशा मेरा है न बाल। तत्त्वतः दोनों एक हैं। सो शब्द भी। पहले या बाद में। जान लो या न जानो। तलाशान्त नहीं। अपने से।

वरना शीशा न हटा लेता यूं कि दूसरा न कोई। न शब्द बनता न होना हो सकता। दूसरा। साझा करने से।

अपना।

मुझे नहीं मिला और यह मुझे मन्जूर नहीं। अपना दूसरा होना। मैं हूं, इकलौता। जैसे न होना, होना। ईश्वर। एक शब्द। अकेला। जैसे नासूर। या नारी। या नर।

अपने से।

बहुल होता। आनन्द।

वह अपना दूसरा नहीं है। सामना करते, भागते। तलाश में तद्वत्, तत्त्वतः। अब जाने न वाला हूं। सिवाय छलना के पाना छलना है। याद में पिछली। टोपी पहने। अपने शब्द से, उतरते हुए शीशे में।

वहीं जाता है शिकारी जिधर शिकार हो। बाल!

जहां चाह वहां राह। न स्वप्न में न सांस में। टोपी में।

शून्य। देखता

हूं । आखेट

में कौन टोपी ले उड़ा।

(7)

अपने पिछले में

वे कब लंगड़ी कुर्सी में बदले

यह पता नहीं लेकिन पिछले का पता यूं है मानो ऊंगल कर दी हो। पिछली में। उन्हें पिछले में ऊंगल करना यूं पता है मानो फ़ितरत हो। अपने पिछले में, ऊंगल देने की। यह फ़ितरत है, उनकी। जैसे लंगड़े में टांग अड़ाना ऊंगल हो, लंगड़े की ऊंगल नहीं। वह अपने से है, ऊंगल। कुर्सी से नहीं, लंगड़े से। फ़ितरत नहीं। लंगड़ा आख़िर लंगड़ी कुर्सी है। अपने को लंगड़ा नहीं कुर्सी समझता। ऊंगल की। फ़ितरत से, अपने पिछले में। काश! न लंगड़ा होता न ऊंगल। ग़नीमत होती या काशानाकाश होता। होता तो, ऊंगल से नहीं लंगड़े से। लंगड़ा आख़िर ज़बान है, निर्जीव कुर्सी नहीं। कुर्सी में लंगड़ा है, कुर्सी को जानता। लंगड़ा है, लंगड़ी कुर्सी में। जाने। जानता रहे। जान को। लंगड़ी कुर्सी को। आख़िर लंगड़ा है, लंगड़े को जान न लेगा। कुर्सी से।

मुझे फ़ितरत का पता है, ऊंगल का नहीं।

ऊंगल फ़ितरत हो सकती है, ऊंगल नहीं। फ़ितरत का पता लंगड़ी कुर्सी को यूं है जैसे मुझे अभिनेत्री आंख का। जन्मान्तरों से। ऊंगल का पता काशानाकाश को होगा। जान को। फ़ितरत से, पिछली में। अभिनेत्री के बदले कुर्सी को।

फ़ितरत है लंगड़दीन की
ऊंगल
की।

उपन्यासांश

सुल्तान रज़िया

मेवाराम

कजरी के ग़ज़नी बाज़ार जाते ही शहज़ादी रज़िया ने गुल-ए-अब्बासी को क़िलेदार के पास भेजा। शहज़ादी को क़िलेदार पर इत्मीनान था। वे सोच रही थीं कि शहज़ादे की मौत की जानकारी शायद क़िलेदार को अब तक न होगी। क़िलेदार के पास गुल-ए-अब्बासी को पहुँचने में ज़्यादा देर नहीं लगी। गुल-ए-अब्बासी क़िलेदार को देखकर उसकी शान में अदब के साथ झुक गई। क़िलेदार इस वक़्त कुरआन शरीफ़ पढ़ रहे थे। उन्होंने गुल-ए-अब्बासी को देखकर कुरआन शरीफ़ उठाकर मेज़ पर रख दी और बोले, ''गुल-ए-अब्बासी, आज सुबह इतनी जल्दी कैसे आना हुआ?''

''जनाब क़िलेदार का इक़बाल बुलंद हो! गुस्ताख़ी की माफ़ी चाहती हूँ। हम हुज़ूर का क़ीमती वक़्त ज़्यादा ज़ाया नहीं करेंगे।''

अब तक क़िलेदार दीवान पर बैठ गए थे। उन्होंने पूछा, ''क्या बात है? शहज़ादी रज़िया कैसी हैं?''

''शाहज़ादी साहिबा ठीक हैं लेकिन....।''

''ख़ुदाबंद-ए-जहाँशाह तुर्कान बेगम ने शहज़ादे कुतुबुद्दीन का क़त्ल करा दिया है।''

''कब? हमें ख़बर नहीं हुई।'' क़िलेदार इस ख़बर को सुनकर चौंके।

''ख़ुदाबंद-ए-जहाँशाह तुर्कान बेगम के हुक्म से दारोग़-ए-ज़िन्दा और ख़्वाजासरा कुव्वतबख़्श ने मिलकर रात में शहज़ादे को मार डाला।''

''बेहद अफ़सोस की बात है। इस वक़्त ख़्वाजासरा कुव्वतबख़्श के दिमाग़ सातवें आसमान पर हैं। उन्हें बेगम साहिबा ने ज़रूरत से ज़्यादा छूट दे रखी है। दारोग़-ए-ज़िन्दा नसीमुद्दीन बेहद चापलूस है। वह बेगम साहिबा की जूतियाँ चाटता रहता है। यह दोनों मिलकर कुछ भी कर सकते हैं। मौक़ा मिलते ही इनकी ख़बर ली जाएगी। वैसे भी ख़ुदा इन्हें माफ़ नहीं करेगा। अल्लाह शहज़ादे कुतुबुद्दीन को जन्नत बख़्शे।''

क़िलेदार ने कुछ देर रुककर पूछा, ''हमारे वास्ते शहज़ादी हुजूर का क्या हुक्म है?''

गुल-ए-अब्बासी ने क़िलेदार के सवाल का कोई जवाब नहीं दिया बल्कि उसने पूछा, ''क्या

वज़ीर-ए-आज़म जुनैदी सुल्तान-ए-आलम का साथ छोड़कर भाग गए हैं?''

''हमें कल रात ही हरकारे ने आकर ख़बर दी थी कि वज़ीर-ए-आज़म जुनैदी सुल्तान का साथ छोड़कर भाग गए हैं।''

''वजह?''

''वजह तो हर आदमी जान रहा है। सुल्तान-ए-आलम की ऐयाशी अभी बंद नहीं हुई है। वे मैदान-ए-जंग में अपने साथ माशूकाबानो, हुस्नाबानो और हसीनाबानो को साथ ले गए हैं। मरहूम सुल्तान इल्तुतमिश के बाद वज़ीर-ए-आज़म जुनैदी की इज़्ज़त दिन-ब-दिन घट रही थी। वे घुटन महसूस कर रहे थे। उन्हें सुल्तान से मिलने के लिए बमुश्किल इजाज़त मिल पा रही थी। सुल्तान तो हर वक़्त हसीन कनीज़ों और भाँड़ों के बीच घिरे रहते हैं। सुल्तान का वज़ीर आइनुलमुल्क़ हुसैन अशअरी अपनी मनमानी चला रहा है। वह भी वज़ीर-ए-आज़म बनने के ख़्वाब को कोई इज़्ज़त बख़्श रहा था। सुल्तान के वज़ीर आइनुलमुल्क़ हुसैन अशमरी उनके पीछे हर वक़्त सुल्तान के कान भरते रहते हैं। वे वज़ीर-ए-आज़म बनने के ख़्वाब देख रहे हैं। ऐसे में बूढ़े तजुर्बेकार वज़ीर-ए-आज़म जुनैदी आख़िर क्या करते? उन्होंने अपनी जान ख़तरे में देखकर ही यह क़दम उठाया होगा।''

''क़्या सुल्तान-ए-आलम के साथ कनीज़ गुलचेहराबानो नहीं गई?'' गुल-ए-अब्बासी इस एक ही मुलाक़ात में तमाम जानकारी हासिल कर लेना चाहती थी।

''हमारा जहाँ तक ख़्याल है, सुल्तान की चारों ख़ास कनीज़ों में से तीन ही सुल्तान के साथ गई हैं। गुलचेहराबानो को सुल्तान के साथ जाते किसी ने नहीं देखा।''

''तब गुलचेहराबानो कहाँ गई?'' गुल-ए-अब्बासी ने क़िलेदार को और कुरेदा।

''हमें कुछ पता नहीं। क्या वह सुल्तान के हरम में मौजूद नहीं है?''

''नहीं! जिस दिन सुल्तान मैदान-ए-जंग के वास्ते क़िले से निकले थे, उसी वक़्त से गुलचेहराबानो ग़ायब है। हमें कहीं से जानकारी मिली है, वह पेट से थी।''

''तब उसे ज़रूर मौत के घाट उतार दिया गया होगा।'' क़िलेदार बोले।

अब गुल-ए-अब्बासी को यक़ीन हो गया था कि गुलचेहराबानो को मरवा दिया गया है। वह यही सोच रही थी कि शायद गुलचेहराबानो भी सुल्तान के साथ गई हो। अब उसने पूछा, ''अवध, बदायूँ, झाँसी, मुल्तान और लाहौर के क्या हाल हैं?''

''वहाँ भी बग़ावत जारी है।''

''सुल्तान-ए-आलम के क्या हाल हैं?''

''सुल्तान-ए-आलम हमेशा की तरह हसीन कनीज़ों की हसीन जुल्फ़ों में सो रहे होंगे। उन्हें सल्तनत से क्या मतलब है? सल्तनत तो ख़ुदाबंद-ए-जहाँशाह तुर्कान बेगम चला रही हैं।''

''क्या हुजूर इन हालात में शहज़ादी रजिया का साथ देंगे?'' गुल-ए-अब्बासी ने साफ़-साफ़ पूछा।

''शहज़ादी हुजूर की हम बेहद इज़्ज़त करते हैं। हम वादा करते हैं, उनके रास्ते में कभी नहीं आएँगे लेकिन.....।''

''लेकिन क्या?''

''हम ख़ुलेआम शहज़ादी हुजूर का साथ अभी नहीं दे पाएँगे। हमारी अपनी मजबूरी है। हमने शाही तख़्त की वफ़ादारी की क़सम खाई है। शहज़ादी हमें माफ़ करें!''

''शहज़ादी हुजूर आप पर बेहद भरोसा करती हैं। हमें उम्मीद है, आप अपने क़ौल से हटेंगे नहीं।''

''हम पर इत्मीनान रखें! यह एक तुर्क़ का क़ौल है।''

''अब हमें चलने की इजाज़त दें।''

''ख़ुदा हाफ़िज़!''

''ख़ुदा हाफ़िज़!''

अब गुल-ए-अब्बासी आदाब बजाकर कुश्क-ए-फ़ीरोज़ी की ओर चल दी। उसने कुश्क-ए-फ़ीरोज़ी पहुँचते ही देखा, कजरी वापस लौट आई है। उसने कजरी से पूछा, ''क्या काम हो गया?''

''मोहिनी मिल गई थी। उसे ख़त और अशर्फ़ियाँ सौंप दी गईं। वह उन्हें लेकर हमारे सामने ही कुव्वतुलमुल्क़ की हवेली की ओर चल दी थी।''

''क्या आपको ख़त और अशर्फ़ियाँ देते वक़्त किसी ने देखा तो नहीं?''

''नहीं! काम बहुत आसानी के साथ हो गया। हमें उम्मीद है, मोहिनी अब तक कुव्वतुलमुल्क़ की हवेली से अपने काम को अंजाम देने के बाद लौट आई होगी।''

शहज़ादी रज़िया पोशाकख़ाने में पोशाक बदल रही थीं। वे कुछ ही देर में पोशाकख़ाने से बाहर निकल आईं। उन्हें लाल रंग की पोशाक में देखकर हर किसी को हैरत हुई। गुल-ए-अब्बासी उन्हें इस पोशाक में देखकर बोली, ''हुजूर, यह तो फ़रियादी की पोशाक है।''

''जानती हूँ।''

''तब हुजूर ने यह पोशाक क्यों पहनी?''

''आज हम भी दिल्ली की अवाम के पास जाकर इंसाफ़ माँगना चाहते हैं। सुल्तान के पास मरहूम अब्बाहूजूर द्वारा लगवाई गई इंसाफ़ की जंजीर की आवाज़ सुनने का भी वक़्त नहीं है। मरहूम अब्बाहुजूर हमारे वास्ते हिन्दुस्तान के ताजो-तख़्त का नामज़दनामा लिख गए थे। जिस पर मरहूम अब्बाहुजूर के साथ-साथ ताज-उल-मुल्क़ मुहम्मद दबीर, क़ाज़ी-ए-सल्तनत कबीरुद्दीन, जलालुद्दीन और नसीरुद्दीन कासली के दस्तख़त मौजूद हैं। वे मरते वक़्त हमारी हिफाज़त में शाही मुहर भी रख गए हैं। ख़ुदा जाने, सुल्तान रुकुनुद्दीन फ़ीरोज़शाह ज़रूरी दस्तावेज़ों पर किस मुहर को लगवा रहे हैं। मरहूम अब्बाहुजूर का लिखा हुआ नामज़दनामा और शाही मुहर आज भी हमारे पास मौजूद है। इस नामज़दनामे के ख़िलाफ़ जहाँशाह तुर्कान बेगम ने अपने ऐयाश बेटे रुकुनुद्दीन को तुर्कान-ए-चिहिलगानी बंदगान-ए-शम्सी के अमीरों और मालिकों को मिलाकर शाही तख़्त पर बिठा दिया। जहाँशाह तुर्कान बेगम ने एक नहीं, अनेक बार हमारी जान लेने के वास्ते तमाम साज़िशें रचते हुए हम पर हमले कराए। ख़ुदा के फ़ज़्ल से हम बाल-बाल बच गए। शाही ख़ज़ाना, जिसकी आवाम मालिक है, उसे हसीन कनीज़ों, लौंडियों और भाँड़ों पर लुटाया जा रहा है। दीवान-ए-आम में सरेआम बाज़ीगर और नट तमाशा दिखा रहे हैं।

वहाँ मदारी बंदरों को नचा रहे हैं। जहाँशाह तुर्कान बेगम ने हमारे बेगुनाह भाई शहज़ादे कुतुबुद्दीन को क़ैद कराया। उसे क़ैद कराकर अंधा किया गया और आज रात उसे मौत की नींद सुला दिया गया। बेगम साहिबा को इतने पर भी चैन नहीं मिली। वे नहीं चाहती थीं, हमारे प्यारे भाई को शाही कब्रिस्तान में थोड़ी-सी जगह मिल सके। उन्होंने उसकी लाश जमुना नदी में फेंकवाकर मछलियों और कछुओं के हवाले करा दी। हमारे भाई मुइज़्ज़ुद्दीन को उनकी हवेली में नज़रबंद करा दिया गया है। आज हम अवाम की अदालत में जाकर सुल्तान रुकुनुद्दीन फ़ीरोज़शाह और ख़ुदाबंद-ए-जहाँशाह तुर्कान बेगम के कारनामे गिनाएँगे। हमें पूरा यक़ीन है, अवाम हमारी फ़रियाद सुनकर सही फ़ैसला सुनाएगी। आज अवाम जो भी फ़ैसला सुनाएगी, हमें मंजूर होगा।''

शहज़ादी ने दिल में भरी भड़ास एक साथ निकाल दी।

सभी बाँदियाँ अच्छी तरह से समझ गईं कि शहज़ादी आज अवाम की अदालत में जाकर ही रहेंगी। अब गुल-ए-अब्बासी बोली, ''हुजूर, जहाँशाह तुर्कान बेगम हमारी गैऱमौजूदगी में कुछ भी कर सकती हैं। आपकी छोटी बहन शहज़ादी सज़िया को सियासत से कोई लेना-देना नहीं है। उनका वक़्त नमाज़, रोज़े और कुरआन शरीफ़ पढ़ने में ही गुज़रता है। हमारे पीछे उन पर ख़तरा आ सकता है।''

''आप बज़ा फ़र्मा रही हैं। हमारा हुक़्म है, ज़नानी फ़ौज़ को लेकर कुश्क-ए-सफ़ेद पर फ़ौरन कब्ज़ा कर लिया जाए! जहाँ तक हो, तातारी बाँदियों से बिना जंग लड़े हथियार डलवा लिए जाएँ! जहाँशाह तुर्कान बेगम को कुश्क-ए-सफ़ेद में नज़रबंद कर लिया जाए! जब वे नज़रबंद हो जाएँगी तब वे शहज़ादी के ख़िलाफ कुछ नहीं कर पाएँगी। लेकिन ख़्याल रहे, इस हमले में जहाँशाह तुर्कान बेगम पर क़त्तई आँच नहीं आनी चाहिए। कुश्क-ए-सफ़ेद पर कब्ज़ा हो जाने के बाद कुश्क-ए-लाल पर भी कब्ज़ा कर लिया जाए! हालाँकि सुल्तान रुकुनुद्दीन फ़ीरोज़शाह की ख़ास बेगम और उनका कमसिन बेटा शहज़ादा अलाउद्दीन मसऊद सियासत से कोई ख़ास मतलब नहीं रखते हैं लेकिन फिर भी एहतियात के तौर पर उन्हें भी नज़रबंद करना होगा।''

इतना सुनते ही गुल-ए-अब्बासी ज़नानी फ़ौज़ को लेकर कुश्क-ए-सफ़ेद की ओर चल दी। इस वक़्त शहज़ादी रज़िया के पास गुलसुल्तानबानो और कजरी ही रुकी थीं। बाकी बाँदियाँ या तो सुबह ही शहज़ादी के हुक़्म से शहर के अंदर चली गई थीं या फिर गुल-ए-अब्बासी के साथ गई थीं। थोड़ी-सी मार-काट के बाद कुश्क-ए-सफ़ेद और कुश्क-ए-लाल पर ज़नानी फ़ौज़ ने आसानी के साथ कब्ज़ा कर लिया। हालाँकि इस हमले में कुश्क-ए-सफ़ेद की दो तातारी बाँदियाँ मारी गईं और चार तातारी बाँदियाँ घायल हुईं। ज़नानी फ़ौज़ की भी दो बाँदियाँ घायल हुई थीं। जिनकी मरहम-पट्टी कराई गई। कुश्क-ए-लाल में कब्ज़ा होने में देर नहीं लगी। वहाँ कोई मुठभेड़ नहीं हुई। अब गुल-ए-अब्बासी ने शहज़ादी रज़िया के बिना हुक़्म के ही दारोग़-ए-हरम को भी गिरफ़्तार करते हुए उसे नज़रबंद कर दिया। वादे के मुताबिक़ क़िलेदार ने किसी तरह की कोई मुख़ालफ़त इस मुहिम में नहीं की। अब क़िले की तमाम बाँदियाँ, लौंडियाँ और ख़्वाजासरा शहज़ादी रज़िया से आ मिले। इस वक़्त क़िले पर क़िलेदार का नहीं, बल्कि शहज़ादी रज़िया का कब्ज़ा था। गुल-ए-अब्बासी जब कुश्क-ए-लाल से लौट रही थी तो उसकी मुलाक़ात गुलबदन से हो गई। गुलबदन बेहद घबराई हुई थी। उसने पूछा, ''हमारे वास्ते क्या हुक़्म है?''

''आप बेख़ौफ़ होकर रहें। शहज़ादी रज़िया से पूछने के बाद ही कुछ बता सकूँगी।'' इतना

कहकर गुल-ए-अब्बासी गुलबदन के सिर पर हाथ रखकर चल दी। ज़नानी फ़ौज़ की तमाम बाँदियाँ, जिन्हें यह जानकारी नहीं थी कि गुलबदन गुल-ए-अब्बासी के साथ मिली हुई है, उन्हें अब यह जानकारी हो गई। हालाँकि ज़नानी फ़ौज़ की कुछ लड़कियों को पहले से ही शक था।

अब गुल-ए-अब्बासी ज़नानी फ़ौज़ को लेकर ख़्वाजासरा कुव्वतबख़्श के कमरे पर पहुँची। ख़्वाजासरा कुव्व्तबख़्श मारकाट को देखकर अपने कमरे में छिप गया था। वह सोच रह था कि जब कुश्क-ए-सफ़ेद पर हमला हो सकता है और जहाँशाह तुर्कान बेगम को नज़रबंद कर लिया गया है, तब उसे छोड़ा नहीं जाएगा। आख़िर उसे भी अपनी जान प्यारी थी। गुल-ए-अब्बासी को जब यक़ीन हो गया कि ख़्वाजासरा कमरे के अंदर ही मौजूद है तब उसने कमरे को बाहर से बंद कराकर ताला लगवा दिया और दो बाँदियों को पहरे पर बिठा दिया। अब गुल-ए-अब्बासी क़ैदख़ाने की ओर चल दी। दारोग़-ए-ज़िन्दा भी कहीं छिप गया था। लेकिन उसके आदमियों पर सख़्ती बरतने पर पता लग गया कि दारोग़ा कहाँ छिपा है। उसे भी ढूँढ़निकालकर गिरफ़्तार कर लिया गया। गुल-ए-अब्बासी ने उसे जान-बूझकर उसी कोठरी में बंद करवा दिया, जिस कोठरी में रात शहज़ादा कुतुबुद्दीन बंद था। गुल-ए-अब्बासी ने कोठरी में ताला लगवाकर उसकी चाभी ख़ुद अपने पास रख ली। दारोग़-ए-ज़िन्दा नसीमुद्दीन लगातार रहम की भीख माँग रहा था। ज़नानी फ़ौज़ की लड़कियाँ उसकी बेबसी पर हँस रही थीं। अब गुल-ए-अब्बासी ज़नानी फ़ौज़ की टुकड़ी के साथ कुश्क-ए-फ़ीरोज़ी की ओर चल दी। धीरे-धीरे जौहर की नमाज़ का वक़्त नज़दीक आ रहा था। उसे पता था, शहज़ादी को जामा मस्जिद के लिए निकलना है।

ज़ब शहज़ादी रज़िया को क़िले की ओर से पूरा इत्मीनान हो गया तो वे अपनी ज़नानी फ़ौज़ के साथ जामा मसजिद की ओर चल निकलीं। उनके चेहरे पर हमेशा की तरह नक़ाब पड़ी हुई थी। शहज़ादी को लाल पोशाक में देखकर हर आदमी को हैरत हो रही थी। जैसे ही शहज़ादी घोड़े पर सवार होकर ग़ज़नी दरवाज़े पहुँचीं। ग़ज़नी दरवाज़े पर मौजूद तमाम पहरेदार उनके सामने अदब से झुककर कोर्निश बजाने लगे। शहज़ादी जैसे ही ग़ज़नी बाज़ार पहुँचीं, उन्होंने देखा, बाज़ार की तमाम दुकानें बंद हैं। वे ज़िधर से गुज़र रहीं थीं, उधर मौजूद हर आदमी-औरत, बच्चा-जवान उन्हें कोर्निश बजा रहा था। अब तक तमाम अवाम जामा मसजिद पर पहुँच चुकी थी। जामा मसजिद का चबूतरा ही नहीं, चारों ओर की सड़कें तक भरी पड़ीं थीं। घरों के छज्जों और छतों से औरतें और लड़कियाँ जामा मसजिद की ओर ही ताक रही थीं। आज की भीड़ में फ़क़ीर क़ाज़ीमुद्दीन ज़ाहिद भी मौजूद थे। उन्होंने अपना चितकबरा गधा कल्लन मियाँ कौ सौंप रखा था। वे मसजिद के चबूतरे पर मौजूद थे। उन्हें भीड़ चारों ओर से घेरे हुए थी। भीड़ ने पहली मर्तबा फ़क़ीर साहब को जामा मसजिद के चबूतरे पर खड़ा देखा था। इसी भीड़ में एक सड़क के किनारे गुरु गोरखनाथ का चेला अलख निरंजन..... अलख निरंजन चिल्ला रहा था।

भीड़ में आलिम, फ़ाज़िल, शाइर, हकीम, सैयद, शेख़, मुइज़्ज़ी, मुल्ला, मौलवी, पंडित, उलेमा हज़रात ही नहीं, बल्कि अमीर, ग़रीब, भिखारी, मुहताज, बेवकूफ़, अक्लमंद, आदमी और औरतें जमा थे। शहज़ादी रज़िया के घोड़े को हर आदमी रास्ता देता जा रहा था। हर आदमी उनकी शान में झुक रहा था। जौहर की नमाज़ का वक़्त हो चुका था। मसजिद के चबूतरे पर ही नहीं, बल्कि सड़कों पर भी लोग नमाज़ पढ़ने लगे। शहज़ादी ने घोड़े से उतरकर नज़दीक से पानी लिया और वज़ू किया। अब वह सड़क पर ही मुसल्ला बिछाकर और लोगों की तरह नमाज़ पढ़ने लगी। लोग उसे इस तरह नमाज़ पढ़ते देखकर हैरत में थे। कोई-कोई सोच रहा था कि मरहूम सुल्तान इल्तुतमिश की साहबज़ादी एक

फ़रियादी की तरह लाल पोशाक में खुली सड़क पर बेख़ौफ़ होकर नमाज़ क्यों पढ़रही हैं? औरतें उन्हें जामा मसजिद के इर्द-गिर्द बने मकानों से ताक रही थीं। उन्होंने अपनी तमाम ज़िन्दगी में ऐसा वाक़िया पहली मर्तबा देखा था।

जुमा की नमाज़ अदा हो चुकी थी। शहज़ादी रज़िया भी नमाज़ अदा कर चुकी थीं। उनके नज़दीक ही कुव्वतुलमुल्क़ जमालुद्दीन याकूत नंगी तलवार लिए खड़े थे। शहज़ादी के इर्द-गिर्द गुल-ए-अब्बासी, नयनज्योतिबाई, चंचलबाई, चन्द्रकला, कजरी और गुलसुल्तानबानो उनकी हिफ़ाजत के वास्ते खड़ी थीं। शाही इमाम को जैसे ही ख़बर मिली कि शहज़ादी रज़िया तशरीफ़ लाई हैं। वे उनके पास दौड़े-दौड़े पहुँचे। शहज़ादी उन्हें अपने सामने देखकर अदब के साथ झुक गईं। शाही इमाम ने शहज़ादी से पूछा, ''शहज़ादी, हम आपकी क्या ख़िदमत कर सकते हैं?''

''आज हम अवाम के बीच फ़रियाद लेकर हाज़िर हुए हैं।''

''शहज़ादी और फ़रियाद!'' शाही इमाम चौंककर बोले।

''हज़रत, इसमें हैरत की कोई बात नहीं है। जब हिन्दुस्तान के सुल्तान किसी की फ़रियाद नहीं सुन रहे हैं, तब हम अपनी फ़रियाद लेकर आख़िर कहाँ जाएँ? किसको अपनी फ़रियाद सुनाएँ? इंसाफ़ की जंजीर बजाने वाला जंजीर बजाते-बजाते थक जाता है लेकिन उसकी फ़रियाद सुननेवाला कोई नहीं है। आज दिल्ली शहर में किसी की बहू-बेटी की इज़्ज़त महफ़ूज़ नहीं है। सल्तनत में कोई अदालत ऐसी नहीं है, जहाँ फ़रियादी की फ़रियाद सुनी जाए। हम पर चार-चार बार हमले कराए गए। दिल्ली का आम आदमी तक अच्छी तरह जान रहा है कि यह हमले किसने कराए थे। कभी कोई हमलावर पकड़ा नहीं जा सका और न ही हमला करानेवाले के ख़िलाफ़ कोई कार्यवाही हुई। हमारे बेगुनाह भाई को क़ैदख़ाने में डाला गया। उसकी आखों में जलती हुई सलाइयाँ फिराई गईं। अब उसे मौत के घाट उतार दिया गया है। हमें मालूम है, मौत का बदला मौत है लेकिन हम इस मामले की फ़रियाद लेकर कहाँ जाएँ? इस वक़्त हालात इतने बदतर हो चुके हैं कि हम आम आदमी की तरह कुश्क-ए-फ़ीरोज़ी से बाहर नहीं निकल पा रहे हैं। हम अपने मरहूम अब्बाहुजूर की कब्र पर चिराग़ जलाना चाहें, नहीं जला सकते। जहाँशाह तुर्कान बेगम के तीरंदाज़ हमारे सीने में जहरीले तीर उतारने के वास्ते जगह-जगह तैनात हैं। कहने को हम शहज़ादी हैं लेकिन हम एक क़ैदी की ज़िन्दगी जी रहे हैं। हमसे तो बेहतर एक भिखारी है जो आम आदमी के बीच बैठकर लंगरख़ाना में खाना खा रहा है। वह कहीं भी खाना खाकर सो जाए, महफ़ूज है। उसके ऊपर मौत का साया नहीं मँडरा रहा है। लेकिन हमारे ऊपर हर वक़्त मौत का साया मँडराता रहता है। हमें बताया जाए, हम इन मामलों को लेकर किस अदालत का दरवाज़ा खट-खटाएँ?''

शाही इमाम के अलावा वहाँ मौजूद तमाम मुल्ला-मौलवी, सैयद-शेख़ और उलेमा हज़रात ने शहज़ादी की बात सुनी लेकिन किसी के पास उनकी बात का कोई जवाब नहीं था। शाही इमाम की गर्दन झुकी हुई थी। फ़क़ीर क़ाज़ीमुद्दीन ज़ाहिद और गुरु गोरखनाथ का चेला ख़ामोशी के साथ जम्हूरी अदालत की कार्यवाही सुन रहे थे। शहज़ादी की बाँदियों के अलावा असगऱी बेगम, मोहिनी, कल्लन मियाँ, लाला हज़ारीमल और लाला करोड़ीमल सोच रहे थे कि देखते हैं, आज जम्हूरी हुकूमत क्या फ़ैसला सुनाती है। अब शहज़ादी के नज़दीक फ़क़ीर क़ाज़ीमुद्दीन ज़ाहिद जा पहुँचे। शहज़ादी उन्हें देखकर अदब के साथ झुक गई। जमालुद्दीन याकूत और बाँदियाँ उनकी क़दमबोसी के वास्ते झुक गए। फ़क़ीर की शान

में शाही इमाम भी झुककर एक किनारे हो गए। इसी बीच भीड़ में से कोई आदमी चिल्लाया, ''गुनाहगार जहाँशाह तुर्कान बेगम को क़ैदख़ाने में डाल दिया जाए! अब पानी सिर से ऊपर बहने लगा है।''

अब एक आदमी और चिल्लाकर बोला, ''गुनाहगार जहाँशाह तुर्कान बेगम को मौत के घाट उतारा जाए! उसने बेगुनाह शहज़ादे कुतुबुद्दीन का क़त्ल करा दिया है। उसने मरहूम सूफ़ी सुल्तान इल्तुतमिश की ख़्वाहिश के ख़िलाफ़ अपने उस ऐयाश बेटे को हिन्दुस्तान की शाही तख़्त पर बिठाया जो हमारी बहू-बेटियों की इज्ज़त लूट रहा था। ऐसे सुल्तान को पकड़ कर क़ैदख़ाने में डाल दिया जाए!''

अब फ़कीर क़ाज़ीमुद्दीन ज़ाहिद अवाम की ओर मुख़ातिब होकर बोले, ''आप सभी ने शहज़ादी की बात ग़ौर से सुनी। हम जानना चाहते हैं, क्या आप मौजूदा हुकूमत से खुश हैं?''

''नहीं-नहीं! हम क़त्तई खुश नहीं हैं।'' भीड़ एक साथ चिल्ला उठी।

''आप हिन्दुस्तान का ताजो-तख़्त किसके हाथों में सौंपना चाहते हैं?''

भीड़ में से कई लोग एक साथ चिल्लाकर बोले, ''मरहूम सुल्तान इल्तुतमिश शहज़ादी रज़िया के वास्ते ताजो-तख़्त का नामज़दनामा लिखकर गए हैं। शहज़ादी रज़िया ताजो-तख़्त की असली वारिस हैं।''

''शहज़ादी को हिन्दुस्तान की हुकूमत सौंप देने से क्या किसी को ऐतराज़ है?'' फ़कीर ने पूछा

अब भीड़ में काना-फूसियाँ होने लगीं। यह काना-फूसियाँ देर तक होती रहीं। अब भीड़ एक साथ बोली, ''हमें कोई ऐतराज़ नहीं है।''

अब भीड़ में से एक आदमी बुलंद आवाज़ में बोला, ''हम शहज़ादी हुजूर से पूछना चाहेंगे, अगर उनके हाथों में हिन्दुस्तान की हुकूमत दे दी जाती है तो उनका पहला फ़र्ज़ क्या होगा?''

शहज़ादी अभी ख़ामोश थीं। फ़कीर बोले, ''शहज़ादी रज़िया, अवाम आपसे कुछ पूछ रही है। आप जवाब दें!''

शहज़ादी रज़िया बोलीं, ''हमारा पहला फ़र्ज़ होगा, अवाम की खुशहाली।''

भीड़ में से एक आदमी ने और पूछा, ''क्या सुल्तान रुकुनुद्दीन फ़ीरोज़शाह के गिरफ़्तार हो जाने पर आप उन्हें सज़ा-ए-मौत देंगी?''

''गुनाहगार चाहे आम आदमी हो या फिर सुल्तान, हर किसी गुनाहगार को गुनाह की जाँच के बाद सज़ा दी जाएगी।'' शहज़ादी रज़िया ने बेबाकी के साथ जवाब दिया।

''क्या शहज़ादी साहिबा ख़ुदाबंद-ए-जहाँशाह तुर्कान बेगम को क़ैदख़ाने में डालेंगी या उन्हें मौत की सज़ा मिलेगी?''

''हमारा जवाब वही है, जो अभी हमने दिया था। गुनाहगार कोई भी हो, गुनाह की जाँच के बाद ही माकूल सज़ा दी जाएगी।''

भीड़ में से कोई आदमी चिल्लाकर बोला, ''ख़्वाजासरा कुव्वतबख़्श और दारोग़ा-ए-ज़िन्दा नसीमुद्दीन को हाथी के पैर के नीचे डलवाकर उन्हें मौत की नींद सुला दिया जाए! इन कम्बख़्तों ने ही शहज़ादे कुतुबुद्दीन का क़त्ल किया है। क्या शहज़ादी ऐसा करेंगी?''

''हम पहले ही कह चुके हैं। गुनाह की जाँच के बाद ही गुनाहगार को सज़ा दी जाएगी।''

भीड़ में से अब एक और आदमी ने पूछा, ''क्या सल्तनत में इस्माइली शियाओं को बराबरी का दर्ज़ा मिलेगा?'' शायद यह आदमी इस्माइली शिया था। शहज़ादी भी समझ रही थीं कि मरहूम सुल्तान इल्तुतमिश के ज़माने में इस्माइली शियाओं को दरबार में उतने ओहदे नहीं मिले थे, जितने दूसरे मुसलमानों को मिले थे।

''इस्माइली शिया भी मुसलमान हैं। हमारी हुकूमत में मुसलमानों को ही नहीं, हिन्दू और दूसरे मज़हबों की अवाम को भी बराबरी का दर्ज़ा मिलेगा।''

''क़्या औरतों को भी बराबरी का दर्ज़ा मिल सकता है?'' किसी ने पूछा।

''अल्लाह ने औरत और मर्द को एक साथ बनाया है। हमें अल्लाह की राह पर चलना चाहिए। ख़्याल रहे, औरत माँ है, बहन है, वह दाई माँ भी है। क्या आप उसे बराबरी का दर्ज़ा नहीं देना चाहेंगे?''

भीड़ शहज़ादी के सवाल को सुनकर ख़ामोश रही। इस सवाल का जवाब शाही इमाम के पास भी नहीं था। वे ख़ामोशी से खड़े अवाम और शहज़ादी के बीच हो रहे सवाल-जवाब सुन रहे थे। अब शहज़ादी बोलीं, ''औरत और मर्द को जहाँ तक होगा, बराबरी का दर्ज़ा दिलवाया जाएगा। मुल्ला, मौलवियों और उलेमा हज़रात को हमारी हुकूमत में उनके ओहदे के मुताबिक़ इज़्ज़त बख़्शी जाएगी।''

''क्या दरबार के शातिर मलिकों और अमीरों के ख़िलाफ़ कार्यवाही की जाएगी?'' भीड़ में से फिर आवाज़ आई।

''अगर वे गुनाहगार हैं तो उनके गुनाह के जाँच के बाद उनके ख़िलाफ़ कार्यवाही होगी।''

शहज़ादी बुलंद आवाज़ में बोलीं। उनकी आवाज़ हर किसी को सुनाई दे रही थी।

अब भीड़ में से किसी ने पूछा, ''आप सल्तनत की बेहतरी के लिए और क्या-क्या करेंगी?'' शाही इमाम के साथ-साथ तमाम अवाम की नज़रें शहज़ादी के चेहरे पर लगी थीं। हालाँकि उनके चेहरे पर नक़ाब पड़ी थी।

''शाही दरबार में तमाम चुगलख़ोर भर गए हैं, उन्हें ढूँढ-ढूँढ़कर बाहर निकाला जाएगा। दरबार में भाँड़, बाज़ीगर, गायक और रक़्क़ासाओं की भरमार हो गई है। इन्हें दरबार के बाहर रोज़गार दिलाने की हर कोशिश की जाएगी। शाही दरबार में उनका कोई ख़ास काम नहीं है। हम दीवान-ए-आम और दीवान-ए-ख़ास को तमाशबीनों का अड्डा नहीं बनाना चाहेंगे। वहाँ सल्तनत के आला हाकिम, मुल्ला, मौलवी और उलेमा हज़रात सुल्तान को वक़्त-वक़्त पर शरई कानून के मुताबिक़ सलाह देते हैं। वे अवाम के नुमाइंदे हैं। हमें उनकी खिल्ली नहीं उड़वानी है। वे इज़्ज़तदार हैं। हमें उनकी सलाह पर चलना होगा। इसके अलावा हम कुरआन शरीफ़ और हदीस के बताए रास्ते पर चलेंगे। बैतुलमाल पर अवाम का इख़्तियार है, उसे अवाम की बेहतरी के वास्ते ख़र्च किया जाएगा। भाँड़ों, बाज़ीगरों, नटों और मदारियों पर नहीं लुटाया जाएगा। इस दौलत से अवाम के वास्ते सड़कें और सराएँ बनवाई जाएँगी। शफ़ाख़ाना और लंगरख़ाना खोले जाएँगे।''

अब फ़क़ीर क़ाज़ीमुद्दीन, ज़ाहिद बोले, ''हम अवाम से पूछते हैं, क्या शहज़ादी रज़िया के हाथों में हिन्दुस्तान की हुकूमत सौंप दी जाए? अगर अब भी किसी को एतराज़ है तो हमें अभी बताए! अगर किसी को भी एतराज़ होता है तो उसकी पूरी बात सुनने के बाद ही हिन्दुस्तान के ताजो-तख़्त का फ़ैसला होगा। यह हमारा अवाम से वादा है।''

भीड़ कुछ देर तक ख़ामोश रही। अब भीड़ में से कुछ लोग एक साथ चिल्ला उठे, ''हिन्दुस्तान की हुकूमत शहज़ादी रज़िया के हाथों में सौंप दी जाए।''

अब तमाम भीड़ एक साथ चिल्ला उठी, ''हाँ-हाँ! हमें कोई एतराज़ नहीं है। शहज़ादी रज़िया को हिन्दुस्तान का ताजो तख़्त सौंप दिया जाए!'' भीड़ में कुछ ऐसे भी लोग थे जो नहीं चाहते थे कि हिन्दुस्तान की हुकूमत किसी औरत के पास जाए। वे हिन्दुस्तान के ताजो-तख़्त पर किसी औरत का बैठना क़त्तई गवारा नहीं कर रहे थे लेकिन वे मौक़े की नज़ाकत देखने के बाद ख़ामोश रहे। भीड़ के बीच उन्हें अपनी खिल्ली नहीं उड़वानी थी। वे यह भी समझ रहे थे कि फ़क़ीर क़ाज़ीमुद्दीन ज़ाहिद हिन्दुस्तान की सल्तनत शहज़ादी रज़िया के ही हाथों में सौंपना चाहते हैं। उन्हें यह भी पता है कि फ़क़ीर साहब की इज़्ज़त दिल्ली की तमाम अवाम करती है।

अब घरों की छतों और छज्जों पर खड़ी औरतें भी चिल्लाकर बोली, ''शहज़ादी रज़िया को हिन्दुस्तान की हुकूमत सौंपी जाए!''

औरतों को चिल्लाता देखकर लड़कियाँ और लड़के भी चिल्लाकर बोले, ''हिन्दुस्तान की हुकूमत शहज़ादी रज़िया के हाथों में ही महफ़ूज रहेगी।''

अब फ़क़ीर क़ाज़ीमुद्दीन ज़ाहिद भीड़ की ओर मुख़ातिब होकर बुलंद आवाज़ में फिर बोले, ''मैं फ़क़ीर क़ाज़ीमुद्दीन ज़ाहिद तमाम अवाम की ओर से हिन्दुस्तान का ताजो-तख़्त शहज़ादी रज़िया बिन्त सुल्तान इल्तुतमिश के हाथों में सौंपता हूँ। आज से हिन्दुस्तान की हुकूमत पर शहज़ादी रज़िया का कब्ज़ा होगा। शहज़ादी रज़िया जो अब हिन्दुस्तान की सुल्तान हैं, उनसे मैं भी एक सवाल पूछना चाहता हूँ। अगर अवाम हमें इजाज़त दे तो हम सवाल पूछें।''

भीड़ एक साथ चिल्ला उठी, ''दिल्ली की अवाम फ़क़ीर साहब की बेहद इज़्ज़त करती है। वे सुल्तान रज़िया से जो भी सवाल पूछना चाहें, पूछ सकते हैं।''

फ़क़ीर बोले, ''सुल्तान रज़िया का इक़बाल बुलंद हो! सुलतान से तमाम सवाल अवाम पहले ही कर चुकी है। उन सवालों के जवाब भी अवाम को मिल चुके हैं। अवाम अपने सवालों के जवाब सुनकर खुश है। शहज़ादी रज़िया को हिन्दुस्तान का सुल्तान न तो वज़ीर-ए-आज़म ने बनाया है और न ही तुर्क़ान-ए-चिहिलगानी बंदगान-ए-शम्सी के अमीरों और मलिकों ने बनाया है। उन्हें यह दर्ज़ा हिन्दुस्तान की अवाम ने दिया है। तवारीख़ गवाह है, इस तरह आज तक किसी को भी हिन्दुस्तान का ताजो-तख़्त कभी हासिल नहीं हुआ था। हम सुल्तान से पूछना चाहते हैं, हिन्दुस्तान की हुकूमत मिलने पर अगर उन्होंने कानून के ख़िलाफ़ कोई क़दम उठाए तो उनके साथ क्या सलूक होगा?''

सुल्तान रज़िया बोलीं, ''सुल्तान रज़िया बिन्त सुल्तान इल्तुतमिश तमाम अवाम के सामने वादा करती है। अगर हम कानून के मुताबिक़ कोई भी गलत क़दम कभी उठाते हैं तो अवाम को इख़्तियार है, वह हमें ताजो-तख़्त से बेदखल कर दे। हम अवाम से यह भी वादा करते हैं, हम जब तक ताजो-तख़्त के मालिक रहेंगे, तब तक अपनी शादी नहीं करेंगे। अवाम की ख़िदमत हमारा पहला फ़र्ज होगा।''

शहज़ादी के ऐलान से अवाम के चेहरे खिल उठे। लेकिन शहज़ादी के ऐलान से उनकी बाँदियाँ और ज़नानी फ़ौज़ की लड़कियाँ हैरत में थीं। हैरत तो कुव्वतुलमुल्क़ जमालुद्दीन याकूत को भी हो रही थी। अगर किसी को हैरत नहीं हो रही थी तो वे थे, फ़क़ीर क़ाज़ीमुद्दीन ज़ाहिद। सुल्तान रज़िया के इस

ऐलान के बाद गुरु गोरखनाथ का चेला अलख निरंजन.... अलख निरंजन चिल्लाने लगा। अब अवाम की नज़रें इस चेले पर लग गईं। अवाम के बीच कुछ लोग कह रहे थे कि सुल्तान रज़िया ताजो-तख़्त की ज़िम्मेदारी बख़ूबी उठाएँगी।

अब फ़क़ीर बोले, ''अवाम सुल्तान रज़िया को हुक्म देती है, इसी वक़्त क़िल-ए-रायपिथौरा पर कब्ज़ा कर लिया जाए और जहाँशाह तुर्कान बेगम को क़ैदखाने में डाल दिया जाए!'' फ़क़ीर के ऐलान करते ही शाही इमाम हक्के-बक्के रह गए। उन्हें उम्मीद नहीं थी कि इस तरह के नाजुक फ़ैसले इतनी जल्दी ले लिए जाएँगे। अब उन्हें अपनी कुर्सी हिलती नज़र आई। फ़क़ीर के इस ऐलान से शहज़ादी की बाँदियों और ज़नानी फ़ौज़ की लड़कियों के चेहरे खिल उठे। जनाब कुव्वतुलमुल्क़ जमालुद्दीन याकूत भी सुल्तान रज़िया को जल्दी ही शाही तख़्त पर बैठे देखना चाह रहे थे। उन्होंने मरहूम सुल्तान इल्तुतमिश के साथ कुछ वादे किए थे जो पूरे होने जा रहे थे।

भीड़ एक बार फिर चिल्ला उठी, ''फ़क़ीर साहब ने जो कुछ कहा है, सही कहा है। दिल्ली की अवाम सुल्तान रज़िया के साथ है। अवाम खुद क़िल-ए-रायपिथौरा पर हमला बोलेगी। अगर सुल्तान रज़िया के ख़िलाफ़ किसी ने तलवार उठाने की जुर्रत की तो उसे मौत के घाट उतार दिया जाएगा।''

अब फ़क़ीर फ़िर बोले, ''अब देर किस बात की है। क़िल-ए-रायपिथौरा पर फ़ौरन धावा बोला जाए!''

फ़क़ीर का इतना कहना था कि तमाम भीड़ क़िल-ए-रायपिथौरा की ओर चल पड़ी। भीड़ के साथ गुरु गोरखनाथ का चेला भी अलख निरंजन.... अलख निरंजन करता हुआ क़िले की ओर जा रहा था। भारी भीड़ को देखकर क़िल-ए-रायपिथौरा के दरवाज़ों पर तैनात पहरेदारों के हाथ-पैर फूल गए। पहरेदारों ने बिना किसी हीला-हवाली के दरवाज़े खोल दिए। देखते-ही-देखते सुल्तान रज़िया का क़िले-पर कब्ज़ा हो गया। जहाँशाह तुर्कान बेगन पहले से ही कुश्क-ए-सफ़ेद में नज़रबंद थीं। उन्हें क़ैदख़ाने में डाल दिया गया।

भीड़ में से अगर आज कोई क़िल-ए-रायपिथौरा की ओर नहीं गया था तो वे थे, शाही इमाम।

शाही ख़ेमे तराइन और मंसूरपुर के बीच पड़े थे। वहाँ दूर-दूर तक ख़ेमे-ही-ख़ेमे नज़र आ रहे थे। वज़ीर-ए-आज़म जुनैदी बदायूँ के इक़्तादार मलिक इज्ज़ुद्दीन मुहम्मद सालारी से जाकर मिल गए थे। दोनों ने अब बदायूं में ठहरना मुनासिब नहीं समझा। क्योंकि शाही फ़ौज़ वज़ीर-ए-आज़म जुनैदी का पीछा कर रही थी। अब दोनों ओहदेदार अपनी-अपनी फ़ौज़ लेकर लाहौर की ओर बढ़निकले। वे जल्दी-से-जल्दी लाहौर और मुल्तान के इक्तेदारों को अपनी ओर मिलाना चाहते थे। वज़ीर-ए-आज़म जुनैदी यह भी सोच रहे थे कि जब मुल्तान, लाहौर, बदायूँ और उनकी खुद की फ़ौज़ इकट्ठी हो जाएगी,तब शाही फ़ौज़ को मात देना मुश्किल नहीं होगा।

इधर सुल्तान और उनके ख़ास वज़ीर आइनुलमुल्क़ हुसैन अशअरी वज़ीर-ए-आज़म जुनैदी को गिरफ़्तार करने के नए-नए मंसूबे बना रहे थे। वे अभी इस तरह के मंसूबे ही बना रहे थे कि शाही फ़ौज़ के कुछ घरेलू गुलाम, अमीर और मलिक बगावत पर उतर आए और उन्होंने मंसूरपुर और तराइन के बीच में ताज-उल-मुल्क़ महमूद दबीर और अमीर फ़ख़रुद्दीन के अलावा कई ओहदेदारों को मौत के घाट उतार दिया। उन्होंने वज़ीर-ए-आज़म जुनैदी के बेटे ज़ियाउलमुल्क़ को भी कत्ल.कर दिया। सुल्तान की

समझ में नहीं आ रहा था कि इन हालात में क्या किया जाए! हालात बद से बदतर हो चुके थे लेकिन सुल्तान उन्हें सुलझाने के बजाय शराब और शबाब में डूबे थे।

बारगाह-ए-फ़लकताज, जिसमें कभी मरहूम सुल्तान इल्तुतमिश का शाही दरबार लगा करता था, आज सुल्तान रुकुनुद्दीन फ़ीरोज़शाह की ख़्वाबगाह बन गया है। बारगाह में सुल्तान अपनी ख़ास कनीज़ों के साथ दिन-रात रंगरेलियाँ मनाते रहते हैं। उनका वक़्त अपने ख़ास लाल ख़ेमे में बहुत ही कम गुज़रता है। वे अब दिल्ली से कूच किए थे, तब से अब तक बारगाह में कोई दरबार नहीं लगा था। सुल्तान को इस वक़्त अपनी अम्मीजान जहाँशाह तुर्कान बेगम का कोई ख़ौफ़ नहीं था। उनकी इस आदत से तमाम अमीर, मलिक और दूसरे ऊँचे ओहदेदार ही नहीं, उनके ख़ास वज़ीर आइनुलमुल्क़ हुसैन अशअरी तक परेशान हो चुके थे। यह ओहदेदार सुल्तान के साथ बैठकर जंग के सिलसिले में गुफ़्तगू करना चाहते थे लेकिन उन्हें सुल्तान से बात करने का कोई मौक़ा नहीं मिल पा रहा था। सुल्तान को अगर अपनी ख़ास कनीज़ों से किसी तरह फ़ुर्सत मिल भी जाए तो उन्हें भाँड़, बाज़ीगर, मदारी, लतीफ़ेबाज़ और मज़ाकिया घेर लेते थे। सुल्तान इनके ऊपर ख़ासी दौलत लुटा रहे थे। सुल्तान के ख़ास-ख़ास अमीर और मलिक मौक़े का फ़ाइदा उठाकर मनमानी पर उतर आए थे। छोटे से बड़ा हर ओहदेदार इस वक़्त ख़ुद मुख़्तार बनना चाहता था।

सुल्तान भागमभाग की ज़िन्दगी से थकान महसूस करने लगे थे। एक मंज़िल से दूसरी मंज़िल पहुँचने के लिए रोज़ाना ख़ेमे उखाड़ने पड़ते थे। वैसे भी ख़ेमों की ज़िन्दगी कुश्क-ए-दिलकुशा से बिल्कुल अलग थी। वहाँ का ऐशो-आराम यहाँ नहीं था। सुल्तान आज भी अपनी ख़ास तीनों कनीज़ों से सुबह से ही घिरे थे। इस वक़्त सुल्तान ही नहीं, तीनों कनीज़ें भी नशे में धुत थीं। वे अब तक पाँच-पाँच, छः-छः प्याले शराब अपने गले के नीचे उतार चुकी थीं। सुल्तान भी अब तक छः प्याला शराब पी चुके थे। उन सभी की जुबान लड़खड़ा रही थी। सुल्तान ही नहीं, उनकी तीनों कनीज़ें एक-दूसरे से भद्दी-भद्दी मजाक़ कर रही थीं। शराब ने तीनों कनीज़ों को अब तक पूरी तरह अपनी गिरफ़्त में ले लिया था। माशूकाबानों ने इस फ़हानी शराब भरा प्याला सुल्तान को पेश करते हुए पूछा, ''सुल्तान-ए-आलम ने निज़ामुलमुल्क़ वज़ीर-ए-आज़म जुनैदी को पकड़ने के वास्ते बदायूँ की ओर फ़ौज़ भेज रखी है। यदि वे पकड़ लिए गए, तब उनके ख़िलाफ़ हुजूर क्या कार्यवाही करेंगे?''

सुल्तान रुकुनुद्दीन फ़ीरोज़शाह बमुश्किल शराब भरा प्याला अपने दाहिने हाथ में पकड़ पाया। उनके हाथ काँप रहे थे। शराब प्याले से छलक कर उनकी क़ीमती पोशाक भिगो रही थी। उनके बोलने से पहले ही कनीज़ हुस्नाबानो लड़खड़ाती हुई जुबान से बोली, ''हुजूर, वज़ीर-ए-आज़म जुनैदी को मौत के घाट उतार दिया जाए! उनका सिर धड़ से अलग कर दिया जाए!'' जब इन कनीज़ों पर शराब का नशा सवार हो जाता है तब यह अपनी औकात भूलकर कुछ भी बोलने लगती हैं। सुल्तान ने इस ओर कभी ख़ास ग़ौर नहीं फ़र्माया था। वे मुस्कराकर रह गए।

कनीज़ हुस्नाबानो अपनी बात पूरी भी नहीं कर सकी थी कि माशूकाबानो बोली, ''सुल्तान-ए-आलम, वज़ीर-ए-आज़म जुनैदी को पकड़वाकर हाथी के पैर के नीचे कुचलवा दिया जाए। उन्होंने हुजूर को धोख़ा दिया है। वे नमकहराम हैं।'' सल्तनत के आला हाकिम के ख़िलाफ़ इस तरह के लफ़्ज निकालना सरासर मौत को दावत देने जैसा था लेकिन सुल्तान कुछ नहीं बोले। बल्कि उन्होंने हुस्नाबानो

के गले में अपनी दोनों बाहें डालते हुए उसके गुलाबी गाल का बोसा ले लिया। दाहिने हाथ में पकड़े शराब के प्याले से शराब छलककर हुस्नाबानो की नंगी पीठ पर गिर गई। हुस्नाबानो ने कोई परवाह नहीं की और ख़ुद आगे बढ़कर सुल्तान की पेशानी चूम ली।

हुस्नाबानो और माशूकाबानो अब तक अपने-अपने मशविरे सुल्तान के सामने पेश कर चुकी थीं। तब हसीनाबानो क्यों ख़ामोश रहती। वह सुल्तान का बायाँ हाथ चूमते हुए बोली, ''सुल्तान-ए-आलम का इक़बाल बुलंद हो! वज़ीर-ए-आज़म जुनैदी ने पाज़ीपन का काम किया है। उनकी ज़िन्दा खाल खिंचवाकर उसमें भूसा भरवा दिया जाए और क़िले के ग़ज़नी दरवाज़े पर टाँग दिया जाए! तमाम दिल्ली शहर में ऐलान करा दिया जाए जो भी आदमी ग़ज़नी दरवाज़े से होकर गुज़रे, वह उनके ऊपर जूतियाँ मारे।''

''हुजूर, हसीनाबानो द्वारा पेश की गई सलाह में हमें कुछ ज़्यादती दिखती है। वज़ीर-ए-आज़म जुनैदी सल्तनत के सबसे ऊँचे ओहदेदार रहे। उन्होंने हुजूर की ही नहीं, हुजूर के अब्बाहुजूर मरहूम सुल्तान इल्तुतमिश की भी ख़िदमत की है। उनकी खाल निकलवाकर उसमें भूसा तो भरवाया जाए लेकिन जूतियाँ न लगाई जाएँ! आख़िर वे सल्तनत के सबसे इज़्ज़तदार हाकिम हैं। उन्हें गधे पर बिठाकर तमाम दिल्ली में घुमाया जा सकता है। उनकी यह हालत देखकर फिर कोई ओहदेदार सुल्तान-ए-आलम के ख़िलाफ़'' बग़ावत करने की जुर्रत नहीं करेगा। हुजूर, सल्तनत को बखूबी चलाने के लिए मुरव्वत की ज़रूरत नहीं है।''

सुल्तान रुकुनुद्दीन फ़ीरोज़शाह सभी बाँदियों के मशविरे सुन चुके थे। शराब के नशे के वजह से वे कुछ सोच नहीं पा रहे थे। वे बोले, ''माबदौलत आप सभी के बेशक़ीमती मशविरों के क़ायल हैं लेकिन पहले वज़ीर-ए-आज़म जुनैदी को पकड़ लिया जाए! उसके बाद ही उनकी सज़ा सुनाई जाएगी। उन्हें सज़ा देते वक़्त आप सभी हमारे पास मौजूद रहेंगी। इस तमाशे को देखकर आप सभी को ज़रूर मज़ा आएगा।''

बारगह-ए-फ़लकताज़ के ख़ास दरवाज़े पर इस वक़्त साकी रौशनबानो का पहरा था। सुल्तान के ख़ास वज़ीर आइनुलमुल्क हुसैन अशअरी इस वक़्त परेशान थे। वे सुल्तान से इसी वक़्त बात करना चाहते थे। हालाँकि साकी रौशनबानो उन्हें बता चुकी थीं कि सुल्तान-ए-आलम इस वक़्त शराबनोशी कर रहे हैं। वे पाँच-छः प्याले शराब पी चुके हैं। इस वक़्त सल्तनत के मुतल्लिक़ कोई बात करना मुनासिब नहीं है।

अशअरी रौशनबानो से बोले, ''रौशनबानो, दिल्ली से अभी-अभी हरकारा पहुँचा है। वह बहुत ही ख़ास ख़बर लेकर आया है। सुल्तान को इस ख़बर से फ़ौरन वाक़िफ़ कराना होगा। आप सुल्तान-ए-आलम के हुजूर में पेश होकर अगर कुछ कहने की जुर्रत नहीं कर पा रही हैं तो हमें अंदर जाने की इज़ाज़त दें।''

''हुजूर, गुस्ताख़ी माफ़ हो! हम हुक्म के मुताबिक़ हुजूर को बारगाह-ए-फ़लकताज़ में दाख़िल होने की इजाज़त नहीं दे सकते। सुल्तान इस वक़्त अपनी ख़ास कनीज़ों के साथ मौजूद हैं।''

''रौशनबानो, हम मजबूर होकर आपको बता रहे हैं कि दिल्ली में क़िल-ए-रायपिथौरा पर शहज़ादी रज़िया का कब्ज़ा हो चुका है। ख़ुदाबंद-ए-जहाँशाह तुर्कान बेगम कुश्क-ए-सफ़ेद में नज़रबंद

हैं। कुश्क-ए-लाल में सुल्तान-ए-आलम की ख़ास बेगम और हुजूर के बड़े शहज़ादे अलाउद्दीन मशऊद भी नज़रबंद कर लिए गए हैं।''

साकी रौशनबानो बारगाह-ए-फ़लकताज़ में किसी क़ीमत पर जनाब अशअरी को नहीं भेज सकती थीं। उन्हें डर था कि अगर जनाब अशअरी इस वक़्त अंदर दाख़िल हो गए तो उसकी ख़ैर नहीं। सुल्तान ने उन्हें ख़ास हिदायत दे रखी थी कि जब वे अपनी ख़ास कनीज़ों के साथ मौजूद रहें, तब किसी मर्द को वहाँ आने की इजाज़त नहीं है। जनाब अशअरी की जुबान से निकले लफ़्ज़ों को सुनकर रौशनबानो भौंचक्की रह गईं। हालाँकि उन्हें ख़ुशी भी हुई थी। वे सुल्तान रुकुनुद्दीन फ़ीरोज़शाह की हुकूमत से ऊब चुकी थीं। उन्हें शहज़ादी रज़िया भी पंसद करती हैं। उनकी जुबान से निकला, ''हुजूर, क्या कह रहे हैं?''

''रौशनबानो, हम जो कह रहे हैं, सही कह रहे हैं। वक़्त की नज़ाकत समझने की कोशिश करें। हमें सुल्तान-ए-आलम से मिलने की इजाज़त किसी तरह दिलवाएँ।''

अब रौशनबानो हिम्मत बाँधकर बारगाह-ए-फ़लकताज़ में दाख़िल हुईं। सुल्तान उन्हें देखकर चौंके। वे अदब के साथ झुककर बोलीं। ''सुल्तान-ए-आलम का इक़बाल बुलंद हो! हुजूर के वज़ीर जनाब आइनुलमुल्क़ हुसैन अशअरी हुजूर से इसी वक़्त मिलने की इजाज़त चाहते हैं।''

''रौशनबानो, आप देख रही हैं, माबदौलत इस वक़्त फ़ुर्सत में नहीं हैं। उनसे कहो, फ़ुर्सत के वक़्त बात करें!''

''हुजूर, गुस्ताख़ी माफ़ हो! दिल्ली से हरकारा कुछ ख़ास ख़बर लाया है।''

''उससे कहो, वह आइनुलमुल्क़ हुसैन अशअरी से मिल ले। माबदौलत ने इस मुतल्लिक़ तमाम इख़्तियार उन्हें दे रखे हैं।''

''हुजूर, गुस्ताख़ी माफ़ हो!'' हरकारा जनाब आइुलमुल्क़ हुसैन अशअरी से मिल चुका है। तभी वे हुजूर से....''

हुस्नाबानो तमाम अदब-क़ायदा छोड़कर बीच में ही बोल पड़ी, ''सुल्तान-ए-आलम अपना हुक्म फ़र्मा चुके हैं। क्या आपको सुनाई नहीं दिया?''

इतना सुनते ही साकी रौशनबानो के बदन में आग लग गई। उन्होंने सुल्तान इल्तुतमिश का ज़माना देखा था। मरहूम सुल्तान ख़ुद उनकी बेहद इज़्ज़त करते थे। सल्तनत के बड़े-से-बड़े ओहदेदार ही नहीं, वज़ीर-ए-आज़म जुनैदी तक उन्हें ख़ास इज़्ज़त बख़्शते थे। रौशनबानो सोचने लगीं, कल की कनीज़ की यह जुर्रत! इसे वक़्त आने पर कभी अच्छा सबक़ सिखाया जाएगा। शायद यह भूल गई है कि सुल्तान के इर्द-गिर्द घूम रहीं हसीन कनीज़ों की ज़िन्दगी गुलाब के फूल की मानिंद बहुत कम रहती है। वे खून का घूँट पीकर बोलीं, ''सुल्तान-ए-आलम का इक़बाल बुलंद हो! दिल्ली से हरकारा जो ख़बर लाया है, वह ख़बर हुजूर की अम्मीजान ख़ुदाबंद-ए-जहाँशाह तुर्कान बेगम से ताल्लुक रखती है। अब हुजूर जो हुक्म फ़र्माएँ, हम हुजूर के वज़ीर आइनुलमुल्क़ हुसैन अशअरी को जाकर बता दें।''

सुल्तान अपनी अम्मीजान का नाम सुनकर चौंके। उनकी जुबान से निकल पड़ा, ''तख़्लिया।''

सुल्तान के तख़्लिया बोलते ही तीनों कनीज़ें बारगाह-ए-फ़लकताज़ से लड़खड़ाते क़दमों के साथ

बाहर निकलने लगीं लेकिन वे साकी रौशनबानो को मन-ही-मन बहुत बुरा-भला कह रही थीं। साकी रौशनबानो सुल्तान के हुक़्म के इन्तज़ार में अब भी खड़ी थीं। सुल्तान बोले, ''उन्हें भेज दो!''

बारगाह-ए-फ़लकताज़ से रौशनबानो के निकलते ही वज़ीर अशअरी आ पहुँचे। वे सुल्तान की शान में अदब के साथ झुककर बोले, ''हुजूर, गुस्ताख़ी माफ़ हो! यह वक़्त शराबनोशी का नहीं है।''

सुल्तान ने अशअरी के चेहरे की ओर देखते हुए पूछा, ''क्यों क्या हुआ?''

''हुजूर को पता ही है कि वज़ीर-ए-आज़म जुनैदी बदायूँ के इक़्तादार मलिक इज़्ज़ुद्दीन मुहम्मद सालारी को लेकर लाहौर की ओर बढ़रहे हैं। शाही फ़ौज़ उनका पीछा कर रही है। ख़बर यह भी है, कुछ तुर्क अमीरों और मलिकों ने कई ओहदेदारों को मौत के घाट उतार डाला है।''

''माबदौलत का हुक़्म है, जिन अमीरों और मलिकों ने हमारे ओहदेदारों को मार डाला है। उन्हें पकड़कर हाथी के पैर के नीचे कुचलवा दिया जाए!''

''हुजूर, गुस्ताख़ी माफ़ हो! ऐसा करने से इस वक़्त बग़ावत फैल सकती है। मौक़ा मिलते ही इनके ख़िलाफ़ कार्यवाही किया जाना मुनासिब होगा।''

अशअरी का जवाब माकूल था। सुल्तान नहीं चाहते थे कि बग़ावत भड़के। उन्होंने पूछा, ''रौशनबानो कह रही थी कि कोई हरकारा दिल्ली से अम्मीजान की ख़बर लेकर आया है।''

''हुजूर, शाही इमाम ने हरकारा भेजा है। उन्होंने ख़बर दी है कि क़िले पर शहज़ादी रज़िया का कब्ज़ा हो गया है।''

सुल्तान इस ख़बर को सुनकर भौंचक्के रह गए। इस एक ही ख़बर ने उनके होश उड़ा दिए। शराब का नशा न जाने कहाँ गायब हो गया। वे बोले, ''क्या कहा? क़िले पर शहज़ादी रज़िया ने कब्ज़ा कर लिया?''

''जी हाँ हुजूर!''

''और हमारी अम्मीजान?''

''सुल्तान-ए-आलम, बेहद अफ़सोस की बात है, ख़ुदाबंद-ए-जहाँशाह तुर्कान बेगम कुश्क-ए-सफ़ेद में नज़रबंद हैं।''

''हमारी बेगम और हमारे प्यारे बेटे अलाउद्दीन मसऊद का क्या हुआ?'' सुल्तान अपनी अम्मीजान को ही नहीं, अपनी बेगम और बेटे को लेकर चिन्तित हो गए।

''हुजूर, वे कुश्क-ए-लाल में नज़रबंद हैं।''

''क्या कम्बख़्त क़िलेदार सोता रहा?''

''शायद वह नमकहराम शहज़ादी रज़िया से मिल गया है।''

''हरकारे ने और क्या ख़बर दी?''

''हुजूर, जुमा की नमाज़ के वक़्त शहज़ादी रज़िया लाल पोशाक में तमाम अवाम के सामने पेश हुई थीं। वहाँ भारी भीड़ मौजूद थी। भीड़ में फ़क़ीर क़ाज़ीमुद्दीन ज़ाहिद भी मौजूद थे। शहज़ादी ने इंसाफ़ के वास्ते अपनी फ़रियाद अवाम के सामने रखी। अवाम ने उनकी फ़रियाद ग़ौर से सुनी और अवाम की राय के मुताबिक़ फ़क़ीर क़ाज़ीमुद्दीन ज़ाहिद ने शहज़ादी रज़िया को हिन्दुस्तान का ताजो-तख़्त सौंप

दिया।''

''फ़क़ीर क़ाजीमुद्दीन ज़ाहिद कौन होते हैं, शहज़ादी रज़िया को ताजो-तख़्त दिलानेवाले?''

''हुजूर, फ़ैसला अवाम का था।''

''अवाम क्या है? अवाम तो भेड़ों की तरह है? उसे जिधर हाँका जाए, वह चल निकलेगी। क्या शाही इमाम दोनों ओर मिला हुआ तो नहीं है?''

''जी नहीं हुजूर! वे हुजूर के वफ़ादार आदमी हैं। उनसे ऐसी उम्मीद नहीं की जा सकती।''

''क्या शहर कोतवाल सो गया था? शहज़ादी रज़िया के क़िले से बाहर निकलते ही उन्हें गिरफ़्तार क्यों नहीं किया गया? माबदौलत ने उसे तमाम इख़्तियार दे रखे हैं।''

''हुजूर, शहर कोतवाल को पहले ही कुव्वतुलमुल्क़ जमालुद्दीन याकूत ने गिरफ़्तार कर लिया था। उन्होंने उसके सिपाहियों को अपनी ओर मिला लिया। जनाब कुव्वतुलमुल्क़ ने शहर कोतवाली पर ही नहीं, दिल्ली के तमाम थानों पर भी कब्जा कर लिया था।''

''हमारी समझ में नहीं आ रहा है, आख़िर शहज़ादी रज़िया की इतनी हिम्मत कैसे बढ़गई?''

''हुजूर, सुल्तान-ए-आलम की ग़ैरमौजूदगी में ख़ुदाबंद-ए-जहाँशाह तुर्कान बेगम ने शहज़ादे कुतुबुद्दीन को मौत के घाट उतरवा दिया। इसी वजह से शहज़ादी रज़िया बौखला गई होंगी। ज़नानी फ़ौज़ उनके पास पहले से ही मौजूद थी। ज़रूर इसी फ़ौज़ की मदद से उन्होंने क़िले पर कब्ज़ा किया होगा।''

''अम्मीजान को आख़िर इसकी क्या ज़रूरत थी? कमसिन अंधा शहज़ादा क्या कर सकता था? अम्मीजान हमें ज़िन्दगी भर नसीहतें देती रहीं और हमारे पीछे ख़ुद ग़लत क़दम उठा बैठीं। जनाब अशअरी....।''

''हुजूर!''

''हमें फ़ौरन दिल्ली वापस लौटना होगा। इस वक़्त अम्मीजान की जान ख़तरे में है। हमारी बेगम और बेटे पर भी ख़तरा मँडरा रहा है। कम्बख़्त जुनैदी और दूसरे इक़्तादारों से बाद में निपट लिया जाएगा। पहले क़िल-ए-रायपिथौरा पर कब्ज़ा किया जाए! शहज़ादी रज़िया को गिरफ़्तार करने के बाद उसे क़ैदख़ाने में डाला जाए! उसने हुकूमत के ख़िलाफ़ क़दम उठाकर बगावत की है। उसे शायद पता नहीं है कि हुकूमत से बग़ावत करनेवालों का क्या अंजाम होता है। जनाब अशअरी, माबदौलत कल सुबह दिल्ली के वास्ते कूच करेंगे। आप तमाम अमीरों और मलिकों को जाकर अभी बता दें। ख़्याल रहे, शहज़ादी रज़िया का क़िले पर कब्ज़ा होने की बात बारगाह-ए-फ़लकताज से बाहर नहीं जानी चाहिए! वरना फ़ौज़ बग़ावत पर उतर सकती है।''

''हुजूर, हुक़्म की तामील होगी!'' वज़ीर अशअरी अदब के साथ झुककर बोले। इस वक़्त और कोई चारा नहीं था। अब वे सुल्तान की इजाज़त लेने के बाद बारगाह-ए-फ़लकताज़ से बाहर निकल गये।

सुल्तान देर तक न जाने क्या सोचते रहे। उन्होंने शराब के प्याले को दूर फेंक दिया। शराब भरी सुराहियों को ठोकर मार दी। शराब ईरानी कालीनों पर बिखर रही थी। सुल्तान बारगाह-ए-फ़लकताज़ में बेचैनी के साथ इधर-उधर टहलने लगे। अब उनके न तो पैर लड़खड़ा रहे थे और न ही जुबान! इसी

बीच तीनों कनीज़ें माशूकाबानो, हसीनाबानो और हुस्नाबानो वहाँ फिर आ पहुँची। उन्होंने सुल्तान को बेचैनी के साथ टहलते देखा। वे सोचने लगीं, ज़रूर कोई ख़ास ख़बर दिल्ली से आई होगी। माशूकाबानो सुल्तान के नज़दीक आकर बोली, ''क्या सुल्तान-ए-आलम कुछ सोच रहे हैं? कम्बख़्त वज़ीर ने बीच में आकर हुजूर की तबीअत नाशाद कर दी।''

सुल्तान ने कोई जवाब नहीं दिया। वे अब तक ख़ामोश थे। अब हसीनाबानो बोली, ''क्या हुजूर के वास्ते एक प्याला शराब पेश की जाए?''

सुल्तान बोले, ''नहीं!''

अब हुस्नाबानो ने सुल्तान के दोनों हाथ अपने हाथों में ले लिए और उन्हें चूमकर बोली, ''क्या सुल्तान का दिल बहलाने के वास्ते भाँड़ों को बुलाया जाए। कई दिन गुज़र गए हमने उनका तमाशा नहीं देखा।''

तीनों कनीज़ों की सलाह सुनने पर सुल्तान का खून खौल उठा। अब वे बुलंद आवाज़ में चिल्लाए, ''रौशनबानो!''

सुल्तान की आवाज़ बारगाह-ए-फ़लकताज़ से बाहर दूर तक जा पहुँची थी। फिर भी सुल्तान दोबारा चिल्लाए, ''रौशनबानो!''

तीनों कनीज़ें सोचने लगीं, सुल्तान को हमारे बाहर जाते ही न जाने क्या हो गया है? क्या सुल्तान ने हमारे पीछे और शराबनोशी कर ली? क्या उन पर पागलपन का दौरा तो नहीं पड़ गया है? इसी बीच रौशनबानो दौड़ी-दौड़ी हाज़िर हुईं। वे अदब के साथ झुककर बोलीं, ''हुक़्म सुल्तान-ए-आलम!''

''इन कम्बख़्तों को फ़ौरन गिरफ़्तार कर लिया जाए!''

''हुजूर!'' रौशनबानो की समझ में कुछ नहीं आ रहा था। वे सोचने लगीं, जो सुल्तान अभी कुछ देर पहले इन हसीन कनीज़ों की जुल्फ़ों से खेल रहा था, वह इस तरह का हुक़्म क्यों दे रहा है।

सुल्तान फिर बोले, ''माबदौलत का हुक़्म है, इन्हें फ़ौरन गिरफ़्तार कर लिया जाए! इन्हीं कम्बख़्तों की वजह से आज हमारी यह हालत हुई।'' सुल्तान रुकुनुद्दीन फ़ीरोज़शाह की आँखों में खून उतर आया था। तीनों कनीज़ों का नशा क़ाफूर हो गया था। उनके होश उड़ गए थे। उन्होंने कभी सोचा भी न था कि कभी ऐसे हालात का भी सामना करना पड़ सकता है। अब वे तीनों सुल्तान के पैरों पर गिरकर रहम की भीख मांग रही थीं। सुल्तान रहम की भीख देने के बजाय उन्हें ठोकरें मार रहे थे।

इसी बीच रौशनबानो दारोग़-ए-फ़लकताज़ और कई तातारी बाँदियों को लेकर हाज़िर हो गई थीं। दारोग़ा को देखते ही सुल्तान चिल्लाए, ''इन कम्बख़्तों को फ़ौरन गिरफ़्तार कर लिया जाए!''

तीनों कनीज़ें अब भी सुल्तान के पैरों पर पड़ी रहम की भीख माँग रही थीं। लेकिन वहाँ रहम नाम की कोई चीज़ नहीं थी। कनीज़ें सुल्तान के पैर नहीं छोड़ रही थीं। अब दारोग़ा और तातारी बाँदियाँ उनकी चोटियाँ पकड़कर उन्हें घसीटते हुए फ़लकताज़ से बाहर निकाल ले गईं। साकी रौशनबानो सोच रही थीं, वक़्त बिगड़ते देर नहीं लगती।

जो अलक्षित रह गया है

बांग्ला कवि नज़रुल इस्लाम को हिंदी पाठकों ने जब भी पढ़ा, उन्हें अपना उतना ही आत्मीय बनता पाया, जितना अपने निराला को। लेकिन नज़रूल सिर्फ़ बंगला में ही नहीं, सीधे हिंदी में भी लिखने का उत्साह रखते थे। उनका यह पक्ष हिंदी पाठकों के बीच अलक्षित ही रह गया। हमें नज़रूल की हिंदी कविता की इस अलक्षित छवि से परिचित कराया– हमारे मित्र अवधेश प्रधान ने।

नज़रुल की हिंदी कविता

बँगला के महाकवि काज़ी नज़रुल इस्लाम की हिंदी कविताओं का एक नायाब संग्रह असदुल हक़ ने बंगला में ''नज़रुलेर हिंदी गान'' नाम से संपादित किया है। असदुल हक़ ने ये कविताएँ नज़रुल के विभिन्न संग्रहों, ग्रामोफ़ोन रेकॉर्डों और अप्रकाशित पांडुलिपियों से संकलित की हैं। इनमें से कुछ कविताएँ यहाँ दी जा रही हैं।

(1)

जल थल टलमल हिले आसमान।
वीरदल चले मैदान।।
हाथ पर हथियार ले के चले
वतन के लिए जान दे के चले
अगर एक टले
लाख लाख निकले
लिये मौत के दावत चले शहीदान।।
चले तकलूफ के राहपर
क़ोह सहरा पार होकर
चले बग़ैर दोस्त साथी
चले जंग के सिपाहियाँ बेख़ौफ़ बेडर
छोड़ि घर की कबर सब बाहर चलें
रण-झनन खान रण-डंका बोले
सब आराम की बाग पे आग ज्वले
साथ निशान-बर्दार झड़ ओ, तूफ़ान।।

(इस हिंदी गीत की रचना नज़रुल ने अपने ही प्रसिद्ध गीत ''टलमल टलमल पद भरे'' की धुन के आधार पर की। नज़रुल के हाथ की लिखावट में यह गीत असदुल हक़ ने कलकत्ता में सड़क पर पड़े आल इंडिया रेडियो के पुराने-कागज़-पत्रों के अंबार में से ढूँढ निकाला था।)

(2)

नाको नामके पहले बैठे क्या हो
मिल के गले लड़ने को चलो।
हाथ में हथियार लेके चलो
जान पर अपने खेल के चलो
अगर एक गिरे दस आगे बढ़ो
शोला-ए-मौत पे लब्बैक कह के चलो।
ना हो तकलीफ़ की तुम्हें परवा
पार होकर दश्त-ओ-सहरा
करो मरइला को तय
चलो जंग जू सिपाही बिना खौफ़ों-ख़तर
छोड़ अपना वतन सब आगे बढ़ो
रण झनन रणन रण डंका बजे
जोश में नौजवान को दिल तड़पे
बढ़ो तेज रफ़्तार कस्ते वालो।

(यह गीत असदुल हक़ ने कवि की पांडुलिपि से प्राप्त किया।)

(3)

चल चल चल
नौजवान चल
आदमीयत की फ़ौज तुम
दरिया की हो मौज तुम
कूवत के हो हौज तुम
तुम हो शक्ति बल-चल चल चल।
खोल के रात का नक़ाब
लाओ दिन का आफ़ताब
ज़माने के तुम हो ख़ाब
    तुम हो ध्यान अमल।
तुम अली के जुल्फ़िकार
तुम हो नूल तुम हो नार

जल जला के तुम पुकार
ज़ुल्म के अजल।
चल मचा के शोर
भोर भई रे भोर
उठ खड़े हो सुन अजान
गफ़लियत को छोड़
आराम का शीश महल
तोड़ जवान चल।
चल चल चल।।

(4)

चल चल चल
नौजवान चल
फ़तह की हो फ़ौज तुम
बह की हो मौज तुम
बख़त के हो औज तुम
तुम में है जोर बल।
चाक है शब की नक़ाब
छोड़ दो गफ़लत की ख़्वाब
निकला वह लो आफ़ताब
तुम भी हो गरमे-अमल।
फैलने को बेकरार
सूरते-नूर और नार
जलजला अफ़जा पुकार
ज़ुल्म की बनकर अजल।
चल मचा के शोर
सफ़े-दुश्मन को तोड़फोड़
उठ खड़े हो सुन अजाँ
गफ़लियत को छोड़
हिम्मत न हारना आ जाए गर अजल।

(यह नज़रुल के ही अत्यंत लोकप्रिय प्रयाण-गीत 'चल चल चल' का हिंदी रूपांतर है। लगता है, कवि इस रूपांतर पर बराबर काम करते रहे। दूसरा अंश वस्तुतः इसी रूपांतर का दूसरा पाठ है।)

(5)

आकुल व्याकुल ढूँढ़त फिरूँ श्याम
    तुम बिन रहन न जाय।
तुम्हरे कारन सब कुछ छोड़ी
    प्रीत जे छोड़न न जाय।।
क्यों तरसाओ अंतरजामी
आय मिलो किरपा करो स्वामी
नींद नहिं रैना दिन नाहीं चैना
    विरह की आग जलाय।।

('हाफ़ प्रकाशनी' द्वारा प्रकाशित 'अप्रकाशित नज़रुल' (द्वितीय खंड) में संकलित। यह गीत अक्टूबर 1935 में रेकार्ड किया गया; इसे स्वयं नज़रुल ने स्वरबद्ध किया था।)

(6)

ऐ सत्तार, ऐ गफ़्फ़ार
    कर दे बेड़ा पार।।
दरिया पहाड़ जंगल
करते हैं रोज़ मंगल
ज़मीन औ, आसमान के
जर्रे-जर्रे का अक़ीदा है।
तू है पालनहार
तू है खेवनहार
तू ही है करतार-ऐ सत्तार।।
रोज़ी देना काम है तेरा
सबसे अलग नाम है तेरा
तू रहमान है-जि' शान है
    सुल्तान है- ऐ सत्तार।।
दर्दे-दिल तेरा सिवा
आह सुनाएँ किसको
मेरा मालिक, मेरा ख़ालिक
मेरा माबूद है तू--ऐ सत्तार, ऐ गफ़्फ़ार।।

(असदुल हक़ ने यह गीत उर्दू अक्षरों में अंकित मूल प्रति से लिप्यंतरित किया।)

खिड़कियाँ

महात्मा गाँधी का यह कथन हमारी स्मृति में है–"मैं नहीं चाहता कि मेरे घर के सब ओर दीवारें हों और मेरी खिड़कियाँ बंद हों। मैं चाहता हूँ, मेरे घर में सभी देशों की संस्कृतियों की हवाएँ यथासंभव स्वतंत्रता से आयें। लेकिन मैं यह नहीं चाहता कि उनमें से किसी के द्वारा भी मेरे पैर उखड़ जाएं।"

जिसे हम 'भारतीयता' कहते हैं, वह भी किसी एक भाषा विशेष के साहित्य से हमारे अभिज्ञान में पूर्णतया सिमट आने वाला प्रत्यय नहीं है। 'भारतीयता' को भी हमेशा ही एक ऐसे 'आवास' की दरकार रही है, जिसकी खिड़कियों से अड़ोस-पड़ोस की भाषाओं से भी ताज़ा हवाएँ आती रहें। हमारी हिंदी में भारतीयता के लिए ऐसा आवास संभव हो, इस उद्देश्य से हम समय-समय पर 'खिड़कियाँ' स्तंभ के अंतर्गत विभिन्न (देशी और विदेशी) भाषाओं में हो रहे चिंतन और सृजन के प्रति अपनी उत्सुकता का प्रमाण देते रहेंगे।

इस बार बंगला से एक संस्मरण देकर और मलयालम कविता के समकालीन परिदृश्य तथा संस्कृत में उपन्यास विधा की संभानाओं पर क्रमशः एक-एक आलोचनात्मक लेख देकर हम इस नये स्तंभ का समारंभ कर रहे हैं।

संस्मरण

रसचक्र और शरत्चन्द्र

कालिदास राय

बाङ्गला के विख्यात कथाकार और चित्रशिल्पी विश्वपति चौधुरी के आग्रह और प्रेरणा से 'वसुधारा' नामकी एक मासिक पत्रिका निकाली गयी। जहाँ तक याद आता है। यह बात बंगाब्द 1335 के पूजा के दिनों की है। लेखकों की कमी ज़रूर नहीं हुई। बड़े-बड़े नामजद लेखकों की रचनाएं मिल रही थीं। यहाँ तक कि हम लोगों को रवीन्द्रनाथ की रचना और आशीर्वाद भी मिल गया था। बड़ी जल्दी 'बीरबल' जैसे अप्रतिम साहित्यकार की नियमित रूप से अपनी रचनाएँ प्रकाशित कराते रहने का हमें वचन भी मिल गया था। प्रत्येक अंक में पहले पृष्ठ पर 'वसुधारा' नाम से एक कविता ज़रूर छापी जाती थी। किन्तु, 5 महीने के बाद एक हिसाबी व्यक्ति ने देखा कि इस काम में लाभ की तो कोई आशा है ही नहीं, हर महीने नुकसान ही है। वह उससे अलग हो गया। और एक व्यक्ति ने 5 महीने किसी तरह उधार वग़ैरह लेकर तथा हाथ जोड़कर उस पत्रिका को और चलाया। जो विज्ञापन मिले भी उनका रुपया भी वसूल नहीं हो सका। बड़े प्रयास से तीन सौ ग्राहक बनाए जा सके। दस महीने में ही 'वसुधारा' की अकालमृत्यु हो गोयी। मेरे जीवन का वही पहला और अन्तिम सम्पादन कार्य था।

किन्तु, इस वसुधारा को केन्द्र बनाकर वसुधारा के लेखकों का एक साहित्यिक दल बन गया था। उनमें से अधिकतर लोग आज परलोक सिधार गये हैं। यह साहित्यकारों का दल हर रविवार की शाम को हमारे घर में एकत्र होता था। हमारे बाहर के कमरे की एक दराज़ में वसुधारा का ऑफ़िस था।

'वसुधारा' तो उठ गयी किन्तु, युवा और वयस्क साहित्यकारों की साप्ताहिक मिलन-धारा स्थायी रूप से टिकी रह गयी। इस साप्ताहिक सम्मेलन का नाम दिया गया 'रसचक्र'। जिनके आधार पर 'रसचक्र' नामक यह बन्धु सम्मेलन गढ़उठा था, उनमें प्रमुख थे- अध्यापक विश्वपति चौधुरी, कविवर यतीन्द्रमोहन बागची, कवि यतीन्द्रनाथ सेनगुप्त, प्रबोध नारायण वंद्योपाध्याय (कवि और वकील) हेमेन्द्रनाथ दास गुप्त, सम्मेलन के संचालक कालीमोहन बसु आदि। इसके अलावा थे असमञ्जस मुखोपाध्याय, जगदीश गुप्त, कथाकार वकील नूट बिहारी मुखोपाध्याय, नन्दगोपालसेन गुप्त। सदस्यों में सबसे छोटे थे बालसाहित्यकार फटिकचन्द्र वंद्योपाध्याय। इस बैठक में गपशप, रचनापाठ, कविता की आवृत्ति और कुछ-कुछ साहित्य चर्चा हुआ करती थी। गुरु गम्भीर साहित्यचर्चा एकदम नहीं हुआ करती थी। रंगरस की चर्चा ही मुख्य उपजीव्य थी। इसमें हमारा चायपान के अलावा और कोई खर्चा ही

नहीं था। इसमें न कोई चंदा था न इसके कार्यक्रम की कोई औपचारिक सूची थी। मैं उन दिनों जिस घर में रहा करता था उसका नाम था 'सीताराम कुटीर' (कालीघाट पार्क की बगल में)।

मुझे जल्दी-जल्दी अपना घर बदलना पड़ता था। बक्से-पेटियाँ, पुस्तक-बिछौना के साथ पूरे 'रसचक्र' को भी एक घर से दूसरे घर छोड़कर जाने को विवश होना पड़ता था। दक्षिण कलकत्ता में और कोई साहित्यिक अड्डा नहीं था। 'रसचक्र' ही युवा और प्रौढ़ साहित्यकारों के उभय वर्ग का एकमात्र आश्रय बन गया था।

धीरे-धीरे जिन लोगों ने आकर 'रसचक्र' में योग दिया उनमें उल्लेखनीय हैं मनोज वसु, चित्रकार सतीश सिंह, कवि नरेन्द्र देव, कवि कृष्णदयाल वसु, कवि सुरेश विश्वास (जज), सर्वघटस्थ ज्योतिषचन्द्र घोष, अखिल नियोगी, सुनिर्मलवसु, गजेन्द्रकुमार मित्र, सुमथनाथ घोष, डॉ0 शशि भूषण दास गुप्त इत्यादि।

धीरे-धीरे 'रसचक्र' खूब जम गया। तब प्रस्ताव हुआ कि 'रसचक्र' को घुमन्तू बना दिया जाए। तब फिर एक व्यक्ति एक रविवार को 'रसचक्र' को बुलाने लगा। सबसे ज्यादा 'रसचक्र' को बुलाया था गजेन और विश्वपति ने। इसमें आयोजनकर्त्ता को कुछ जलपान की व्यवस्था करनी पड़ती थी। कहने में कोई हर्जा नहीं है कि आमंत्रण कर्त्ताओं की संख्या धीरे-धीरे कम होने लगी। सभी के घरों में जगह की व्यवस्था नहीं हो पाती थी। अन्त में 'जंगम' 'रसचक्र' पुनः मेरे 2सी , लेक रोड पर स्थित किराये वाले घर में 'स्थावर' अर्थात् स्थिर हो गया।

इन्हीं दिनों काज़ी नज़रुल और नलिनीकान्त सरकार कभी-कभी 'रसचक्र' में आया करते थे। उस दिन 'रसचक्र' संगीत की बैठक में परिणत हो जाता था। काज़ी नज़रुल जब अपने मुक्त कंठ से ग़ज़ल गाना शुरू कर देते थे, तब सामने की सड़क पर लोगों की भीड़ लग जाती थी।

जहाँ तक याद आ रहा है इन्हीं दिनों शरत्चन्द्र ने 'प्रवासज्योति' नामक पत्रिका में एक उपन्यास लिखना शुरू किया था। एक अंक में प्रकाशित कराने के बाद फिर उन्होंने उसे आगे नहीं बढ़ाया। 'रसचक्र' के सदस्यों ने यह निर्णय किया कि उस उपन्यास के इन कई पन्नों के आधार पर बारह लोग मिलकर उसे पूरा कर डालेंगे। अध्यापक कुमुदबाबू समताबेड़ जाकर शरतचन्द्र की अनुमति ले आए। शैलजानन्द, ताराशंकर, मनोज, सरोज आदि कथाकारों ने एक-एक परिच्छेद लिखकर 'रसचक्र' नाम से उस साझा उपन्यास को तैयार कर डाला। उपसंहार को लेकर परेशानी पैदा हो गयी। तब हमलोग डॉ0 नरेशचन्द्र सेन गुप्त की शरण में गये। उन्होंने उस उपन्यास का बाकी अंश लिखकर उपसंहार कर डाला। कुमुदबाबू इस सम्बन्ध में बड़े उत्साही थे। रसचक्र उपन्यास 'रसचक्र' की ओर से ग्रन्थ रूप में मेरे सम्पादन में प्रकाशित हुआ। शरत् चन्द्र उस उपन्यास को पढ़कर बेहद खुश हुए एवं विभिन्न अंशों के क्रमिक विकास की उन्होंने खूब तारीफ़ की। वे कहने लगे, मेरे द्वारा लिखा कई पन्नों का एक फ़र्मा तुम लोगों के संस्पर्श से इतने सुसंबद्ध ग्रन्थ में परिणत हो सकता है, यह मैंने स्वप्न में भी नहीं सोचा था।

शरत् चन्द्र के बालीगंज में बन रहे मकान का निर्माण इन्हीं दिनों पूरा हुआ था। उसके बाद से वे अधिकांश समय उसी नवनिर्मित घर में ही रहने लगे थे।

वे अक्सर मेरे डेरे पर आकर एक हत्थे वाली कुर्सी पर बैठे-बैठे घंटों गपशप करते हुए बिता देते थे। हर रविवार, शाम को हमारे रसचक्रर की बैठक में शामिल हुआ करते थे। उनके हाथ में एक बहुत

पुरानी श्रीहीन लाठी रहती थी। हमलोग उसे देखकर कहा करते थे, 'उस लाठी को फेंक कर एक बहुत अच्छी लाठी का प्रयोग आप क्यों नहीं करते।'

इस पर वे जवाब देते थे, ''मैं भी तो बूढ़ा हो चुका हूँ, श्रीहीन हो चुका हूँ, तो आप लोग मुझे भी इसी तरह फेंक देंगे? पता है यह लाठी मेरी मित्र है, इससे मैंने कितने सांप मारे हैं, उसकी कोई सीमा नहीं है। इसे क्या मैं फेंक सकता हूँ?''

कहने में कोई हर्ज़ा नहीं है कि उनके आ जाने के बाद सभापतिहीन रसचक्र के सभापति वही हुए। जिसदिन 'रविवासर' का कोई अधिवेशन होता था उस दिन सभा भंग होने के बाद भी वे वहाँ से सीधे रसचक्र में चले आते थे। एक दिन उन्होंने कहा, रसचक्र की मजलिस अगर तुम लोग मेरे घर के पास ही कहीं जमाने लगो तो अच्छा रहे। तब रसचक्र की बैठक मेरे शिल्पी मित्र सतीशसिंह के बड़ा गलीचा बिछे हुए प्रशस्त कक्ष में स्थानान्तरित कर दी गयी। शरत् चन्द्र के लिए एक गड़गड़ा (हुक्का) लाया गया। पहले हम लोग बहुत वाचाल थे, धीरे-धीरे उनकी जितनी अजब कहानियाँ होती थीं उनके कारण हम लोग एक शान्त चित्त वाले श्रोता हो गये। हम लोग शरत् चन्द्र के आसपास छोटे-बड़े टिमटिमाते हुए नक्षत्रों की तरह विराजे रहते थे। धीरे-धीरे शरत् चन्द्र के साथ रसचक्र का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया। 'उत्सवे, व्यसने श्मशाने-मशाने' सभी जगह वे हमारे परमबन्धु हो गये। वे सतीश से भी छोटे भाई की तरह प्रेम करते थे। वे अपराह्न होते ही बैठक में आकर बैठ जाते थे। रसचक्र के हर सदस्य से वे बड़ी घनिष्ठता से परिचय-आलाप करते थे, किसी की भी किसी दिन उन्होंने अवज्ञा नहीं की थी। कहने में कोई एतराज नहीं है कि हमारे बीच में सभी तो साहित्यकार थे नहीं किन्तु उनमें यह भेद-भाव नहीं था।

मनुष्य जितना ऊपर उठ जाता है तो उसे नीचे की सभी ऊंची-नीची वस्तुएँ एक समान लगती हैं, वे उतने ही ऊपर उठ चुके थे। शरत् चन्द्र का उदय ही रसचक्र का स्वर्णिम युग था।

मुझ दुर्भाग्यशाली ने कितने बड़े दरदी बन्धु को ही नहीं खोया है। मेरे एक छोटे बच्चे को बहुत दर्द हुआ करता था। ऐसे समय वे रोज़ उसकी खोज-खबर लेते थे, दवा आदि के बारे में कई सुझाव देते थे। बच्चे को गोद में लेकर घूम-घूम कर उसे चुपाने का प्रयास किया करते थे।

आज भी मेरे उस बच्चे की स्मृति के साथ शरत् दा की स्मृति जुड़ी हुई है।

मेरे बच्चे की मृत्यु हुई तो मैं अत्यन्त कातर हो गया था। वे रोज अपराह्न में आकर मुझे गाड़ी में बिठाकर अनेक बातों से मेरा दुःख भुलाने का प्रयास किया करते थे। एकदिन इसके लिए मेरा तिरस्कार करते हुए उन्होंने कहा था—''तुम एक मर्द हो, अपना शोक-संवरण करने में तुम्हें इतनी देर क्यों लग रही है, छिः छिः!''

शरत् चन्द्र के बालीगंज आने के पहले एक अप्रीतिकर घटना घट गयी थी। टाउनहॉल में शरत् चन्द्र का अभिनन्दन करने का एक प्रयास चल रहा था ठीक उसी समय महात्मा गांधी अपने आमरण अनशन व्रत का पालन कर रहे थे। अपने रसचक्र के चार लेखकों के साथ मैं भी एक पत्र पर हस्ताक्षर करने को विवश हो गया था।वह पत्र एक अखबार में प्रकाशित हुआ था। उसमें इस सम्मान-समारोह को स्थगित करने का आयोजकों से अनुरोध किया गया था। उसका कोई विशेष परिणाम हुआ था या नहीं इसका मुझे पता नहीं है। सम्मान समारोह के दिन हिजली दिवस था, इसलिए कई सत्याग्रही युवक उनकी गाड़ी के सामने आकर उनके सम्मान-समारोह को बन्द करने का कई तरह से प्रयास करने लगे। इसका

फल यह हुआ कि वह सम्मान-समारोह आशा के अनुरूप नहीं हो सका। मैंने उमाप्रसाद की ज़बानी सुना था कि इस कारण वे बहुत नाराज़ हुए थे। यह बात सुनकर क्षमा याचना करते हुए मैंने उन्हें एक चिट्ठी लिखी थी। उस पत्र के उत्तर में उन्होंने लिखा था : ''मेरे मन में कोई नाराज़ी नहीं है। नाराज़ी हुई ज़रूर थी किन्तु विचारकर देखा उसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है। फिर भी तुम्हारे मन में ताक़त नहीं है, यह ज़ानने के कारण ही मैं तुमसे नाराज़ नहीं हुआ।''

मेरे मन से एक खटका किसी भी तरह नहीं जा रहा था कि सम्मान-समारोह स्थगित करने का आयोजकों से अनुरोध किया गया था, बन्द करने का नहीं। जिसका अभिनन्दन होना है, वह आखिर नाराज़ क्यों होगा? उसे तो उस प्रकरण से पूरी तरह उदासीन रहना चाहिए। इसका उत्तर मुझे कई दिन बाद मिला तथा। जशोर रोड के एक बगीचे वाले घर में हमारे रसचक्र का वार्षिक समारोह था।

शरत् चन्द्र के आग्रह पर कलकत्ता के उपकण्ठ में स्थित किसी-न-किसी उद्यानघर में हमारे 'रसचक्र' का वार्षिक उत्सव जम जाता था। उनके विशेष आग्रह और उन्हीं के आर्थिक सहयोग से जशोर रोड स्थित एक उद्यानघर में वरिष्ठ उपन्यासकार असमंजस मुखोपाध्याय का अभिनन्दन किया गया। वह अभिनन्दन 'रसचक्र' की तरफ़ से किया गया। शरत् चन्द्र उस समय हमारे 'रसचक्र' के सभापति थे। अभिनन्दन पत्र पर उन्होंने अपने हस्ताक्षर कर दिये थे। इस अभिनन्दन समारोह के समाप्त हो जाने के बाद उन्होंने मुझसे कहा था ''कालिदास अब तुम्हे अपना अभिनन्दन स्वीकार करना होगा। मैं इसके लिए एक सौ रुपया चंदा दूँगा और खुद अपने हाथों तुम्हें अभिनन्दन पत्र दूँगा।''

बैरिस्टर कवि सुरेश विश्वास से उन्होंने अभिनन्दन समारोह आयोजित करने के लिए कहा था। मैंने उन्हें अच्छी तरह समझा दिया था कि मेरा अभिनन्दन करने से मेरी बहुत बड़ी क्षति होगी। चारों ओर से अपमान, गाली-गलौज, व्यंग्य-विद्रूप की मेरे ऊपर बौछार होगी। मैं उसे सहन नहीं कर पाऊंगा। मेरी साहित्यिक स्थिति इतनी ऊँची नहीं है कि साहित्य समाज अम्लान वदन, प्रसन्न चित्त से मैं अभिनन्दन के योग्य हूँ इसे स्वीकार कर सके।

शरत् चन्द्र ने मेरे अनुरोध का आशय समझ लिया, फिर बोले—''तुम्हें जब पसन्द नहीं है तो रहने दो।'' तो भी तुम यह जान लो मुझे दूसरे का अभिनन्दन करना जितना पसन्द है, उतना पाना भी पसन्द है। मैं अपने अभिनन्दन से खुद को अभिनन्दित महसूस नहीं करता हूँ, वरन् उपेक्षित, अनाहत बंग-साहित्य को अभिनन्दित महसूस करता हूँ।''

साहित्य के क्षेत्र में दलबन्दी और मनमुटाव उन्हें ज़रा भी पसन्द नहीं था। उनकी इच्छा थी सभी मिलजुलकर शान्ति से एक सारस्वत समाज के सदस्य के रूप में साहित्य की सेवा करें। जो जिस दिशा में जितनी कर सके उसी दिशा में उतनी सेवा करे। उसको लेकर झगड़ा-फ़साद, गाली गलौज़, दुश्मनी करने से सरस्वती की सेवा में श्वेतचन्दन के बजाय रक्तचंदन का ही अपव्यय अधिक होता है।

वे स्वयं रसचक्र के द्वार पर बेंत हाथ में लिये खड़े रहे और यह व्याधि रसचक्र में प्रवेश नहीं कर सकी।

'रसचक्र' की तरफ़ से जब कविवर यतीन्द्रमोहन का अभिनन्दन किया गया तब आशीर्वाद देने के लिए मैंने शरत् दा से अनुरोध किया था। उसके उत्तर में उन्होंने आनन्द व्यक्त करते हुए लिखा था—

समताबेड, पानित्रास,
जिला-हावड़ा

कल्याणीयेषु,

भाई कालिदास, तुम्हारी चिट्ठी मिली। मेरी बदनामी फैली हुई है कि मैं पत्र का उत्तर नहीं देता। सफ़ेद झूठ तो मैं बोल नहीं पाता, किन्तु, जिस विषय के प्रसंग में तुमने निमंत्रण भेजा है, उसका अगर जवाब न दूँ, तो सिर्फ़ असौजन्यता का अपराध होगा। यही नहीं, किसी भी रूप में यतीन के सम्मान-समारोह में भाग नहीं ले सका मेरे इस दुःख की भी कोई सीमा नहीं रहेगी। बहुतों को यह पता नहीं कि मैं यतीन को सचमुच में चाहता हूँ। सिर्फ़ कवि होने के कारण ही नहीं, उसके भीतर एक ऐसा स्नेह-सरस, बन्धु-वत्सल, भद्र मन है, जिसके स्पर्श से मेरा मन भी तृप्ति से भर उठता है। यतीन को पता है मैं उसकी कविता का सच्चा अनुरागी हूँ। जहाँ जब भी उसकी कोई रचना मिल जाती है, उसे बार-बार पढ़ता हूँ। स्निग्ध, करुण, निर्मूल छन्द कानों में कितना कुछ कहते रहते हैं।

किसी के भी सम्बन्ध में मैं अपना मत सहजता से व्यक्त नहीं करता हूँ, मुझे बड़ा संकोच होता है। बराबर सोचता रहता हूँ, मेरे मतामत का आखिर मूल्य ही कितना है किन्तु, अगर कभी कुछ कहना पड़े तो सच बात ही कहता हूँ, यतीन को मैं स्नेह करता हूँ, किन्तु स्नेह के उफान में मैं उसे भी खुश नहीं करता अगर वह सच्चा कवि न होता। खैर, अब यह बात यहीं छोड़ो।

तुम लोगों का अनुष्ठान बहुत छोटा है, होना भी चाहिए छोटा। किंतु, इसी कारण से उसका मूल्य छोटा नहीं है। काफ़ी ढिंडोरा पीटकर कई लोगों को बुलाकर उच्च कंठ से, जय, यतीन बागची की जय! कहने का यह व्यापार नहीं है। यह तो तुम्हारे 'रसचक्र' का स्नेह-सम्मेलन है अर्थात् किसी विशेष दिन, और विशेष स्थान पर कई सच्चे साहित्य रसिक और साहित्य सेवी एक साथ मिलकर एक सच्चे साहित्यकार को आदरपूर्वक बुलाकर उससे कहते हैं— हे कवि! हम लोगों ने तुम्हारी साहित्य साधना से आनन्द प्राप्त किया है, तुम्हारी वाणी पूजा सार्थक हुई है- तुम सुखी रहो, तुम दीर्घायु हो। हम तुम्हें पूरे अन्तःकरण से धन्यवाद देते हैं, तुम हमारा अभिनन्दन ग्रहण करो। यही सब तो होगा? तुम्हारा आयोजन छोटा है, इससे तुम लोग निराश मत होओ।

किंतु, फिर भी तुम्हारे इस सम्मेलन में एक त्रुटि घट गयी— मैं नहीं आ सका। कारण, मैं महसूस करता हूँ कि तुम सबमें मैं उम्र में बड़ा हूँ।

इस इलाके में वैसे कोई बीमारी-ईमारी नहीं है,किंतु अचानक पता नहीं, कहाँ से यहाँ डेंगू फैल गया है। सवेरे से ही दोनों छोटे बच्चों की आँखें छल-छल कर रही हैं, दो नौकरों को छोड़कर सभी लोग बिस्तर का सेवन कर रहे हैं। मेरी एक नाक बन्द है दूसरे में ट्यूबवेल की लीला शुरू हो गयी है। रात तक लगता है, मेरे देह-मन-प्राण उत्सव में योग देंगे। आभास-इशारे से इसकी खबर मुझ तक पहुँच रही है। नहीं तो, इस अनुष्ठान में अपने नाम के आसपास तुम्हें ग़ैरहाज़िरी का घेरा मैं नहीं लगाने देता।

तुम कई लोग उपस्थित हो। इस सुअवसर पर एक दुःख भरी शिकायत कर रहा हूँ। कालिदास, तुम भी तो अब वयस्क होने चले हो। पहले की सारी बातें हो सकता है तुम्हें याद न हों किन्तु, कुछ तो तुम्हें याद आ रही होंगी। आज कल की तरह उन दिनों हम लोग एक-दूसरे के छिद्र ढूँढते हुए इस तरह नहीं घूमते-फिरते थे। एकाध व्यतिक्रम हो सकता है घट जाता हो किन्तु, आजकल के साथ उस ज़माने की तुलना ही नहीं हो सकती है। साहित्य-सेवकों के बीच विचारों का आदान-प्रदान, एक के पास दूसरे का देना-लेना चिरकाल से ही चला आ रहा है एवं चिरकाल तक चलता रहेगा। किन्तु, युवा वर्ग में आजकल यह क्या होता जा रहा है? निन्दा करने का यह कैसा उद्दाम उत्साह है, ग्लानि प्रचार करने का यह कैसा निर्दय अध्यवसाय है। एक व्यक्ति और दूसरे व्यक्ति को सिर्फ़ चोर साबित करना चाहता है। अखबारों में जो कुछ देख रहा हूँ उससे मन लज्जा और दुःख से भर उठता है। क्षमा नहीं है, धैर्य नहीं है, वेदनाबोध नहीं है, एक-दूसरे पर प्रहार करने का अभियान जैसे शेष ही नहीं होना चाहता है। कहाँ किसके साथ किसकी रचना की समानता मिल रही है, किसकी रचना से किसने कितनी नकल की है, रूखे, कटु कण्ठ से इस खबर की विश्व के दरबार में घोषणा करके ये लोग कौन-सी सांत्वना अनुभव कर रहे हैं, यह मैं सोच ही नहीं पा रहा हूँ। घर-और बाहर सिर्फ़ यह बताना चाहते हैं कि बंगाल के साहित्यकारों का विदेशी साहित्य से चोरी करने के अलावा और कोई सहारा नहीं है।

यतीन से पूछते ही तुम जान पाओगे कि अत्यन्त परिश्रम से खोज-खोज कर यह जासूसीगीरी का काम उस वक़्त भी हमारे साहित्यिक वर्ग में प्रचलित नहीं हुआ था। खैर, जो भी हो, कामना करता हूँ, तुम्हारे 'रसचक्र' के रसिकों में यह व्याधि कभी प्रवेश करने का दरवाज़ा न खोज पाये।

कवि नहीं हूं, मन में तमाम बातें जमा होने के बाद भी तुम्हारे जैसी अभिव्यक्ति की भाषा न खोज पाने के कारण व्यवस्थित रूप से कुछ कहना नहीं हो सका है। इसीलिए मेरा पत्र लिखना चिरदिन की तरह अव्यवस्थित हो जाता है।

तो बना रहे वह अव्यवस्थित। तो भी कहता हूँ, तुम्हारे 'रसचक्र' की जय हो, तुम्हारा आज का आयोजन सफल हो और यतीन से कहो, शरत् दा ने उसे इस चिट्ठी के माध्यम से स्नेहाशीर्वाद भेजा है। इति 5 भाद्र 1338 बंगाब्द

शरत् दा

शरत् चन्द्र के इस पत्र को मैंने यतीन्द्रमोहन की संवर्धना सभा में पढ़कर सुनाया था— इसके कारण मुझे कम लांछित नहीं होना पड़ा। शरत् चन्द्र तो उन लेखकों की पहुँच से बाहर थे जिनको उच्छिष्ट करके उन्होंने यह पत्र लिखा था— इसीलिए उनका आक्रोश मेरे ऊपर ही फट पड़ा था– समकालीन साहित्य के पाठक मात्र इसे जानते हैं, कहने में कोई हर्जा नहीं है कि शरत् चन्द्र के मत से मेरे मत का कोई भेद नहीं था— शायद इसीलिए साहित्यकारों के उस आक्रमण को सहन करना पड़ा था।

इसी साल के प्रारम्भ में किसी पत्रिका ने शरत् चन्द्र पर अत्यन्त जघन्यतापूर्वक आक्रमण किया था। उसे पढ़कर क्षुब्ध होकर उन्होंने मुझसे कहा था— तरुण लेखकों की रचनाओं की अगर तीक्ष्ण आलोचना की जाए तो उसका कुछ फल निकल भी सकता है। क्योंकि उनमें उस आघात को सहन करने की शक्ति होती है। मेरे जैसे मृत्युपथ यात्री पर यह आक्रमण क्यों? आक्रमण करने के दो दिन बाद ही तो पछताना पड़ेगा। इन्हें महाकाल के न्याय पर भरोसा नहीं होता है, इतनी देरी भी ये लोग सहन नहीं कर पाते हैं, इसलिए ये लोग सोचते हैं हमी लोग जल्दी-जल्दी विचार किये लेते हैं, इनके उस निर्णय को महाकाल भी स्वीकार करने को बाध्य है। मेरे दिन तो अब खत्म होने को आए, जाने के पहले मैं किसी के साथ कोई विवाद नहीं करना चाहता। जिसका जैसा मत हो कहता रहे, तुम लोग भी कोई प्रतिवाद मत करो। जीवन में चारों तरफ़ से इतना प्रेम मिला है कि उसकी तुलना में ऐसी एकाध अप्रीतिकर बात तो मन को लगती ही नहीं है।

इन्हीं दिनों एक अत्यन्त अप्रीतिकर घटना घट गयी। कवि यतीन्द्रमोहन को एक वार्षिक पत्रिका के सम्पादन का भार मिल गया। उन्होंने उस पत्रिका के लिए शरतचन्द्र से एक कहानी मांगी। इस पर शरतचन्द्र ने उनसे कहा था कि बड़े दुःख के साथ कहना पड़ रहा है कि आजकल दिमाग़ में कोई कहानी भी नहीं आती है। उपन्यास की तो कोई बात ही नहीं है। कई सम्पादकों ने तो अग्रिम पैसा दे रखा है, उन्हें भी मैं अपनी कोई रचना नहीं दे पा रहा हूँ। फिर तुम लोगों को चिन्ता ही किस बात की है भाई, घण्टा भर प्रयास करते ही एक प्रथम श्रेणी की कविता अथवा निबन्ध लिख सकते हो। उसके द्वारा ही तुम सब माँगों को सहज में ही पूरा कर सकते हो।

यतीनदा थे पीछा न छोड़ने वालों में– वे शरत् दा से तागीद-पर-तागीद करने लगे। उससे शरत् दा ने परेशान होकर कहा था—क्षमा करना भाई, मैं लिख नहीं सका। क्रोधी स्वभाव के यतीनदा इससे बहुत नाराज़ हो गये थे। उन्होंने घर आकर क्षणिक उत्तेजना में एक बहुत कड़ा पत्र शरत् चन्द्र को लिखा। उस पत्र की भाषा अत्यन्त कठोर और श्लेषात्मक उक्तियों से भरी हुई थी। यतीनदा ने मुझे पढ़ने को दिया था। मैंने पत्र पढ़ा और उसे फाड़कर उनके पीकदान में फेंक दिया। इस पर यतीनदा बोले, वह तो उसकी

नक़ल थी, असली पत्र तो जा चुका है। तुमने आने में देर कर दी मैंने चिट्ठी भेज दी है। अगर समय पर आ जाते तो वह पत्र न भेजा जाता। मुझसे बड़ा ग़लत काम हो गया, तुम्हारा इस पर क्या कहना है?

शरत् दा यह पत्र पाकर बहुत दुखी और क्षुब्ध हुए थे। उनका क्षोभ 'रसचक्र' में भी फैल गया था। इसका परिणाम यह हुआ कि यतीनदा के रसचक्र के साथ सारे सम्बन्ध टूट गये।

कुछ दिन बाद यतीनदा की बेटी लीला की मृत्यु हो गयी। हम लोगों ने यह संवाद शरत् दा को दिया। शरत् चन्द्र उसी क्षण मुझे साथ में लेकर, यतीनदा के घर गये। और बड़े स्नेह से उन्हें 'यतीन' कहकर बुलाने लगे। शोकार्त यतीनदा चौंक उठे और दौड़कर शरत् चन्द्र के दोनों हाथ पकड़कर ज़ोर-ज़ोर से रोने लगे। शरत् चन्द्र ने यतीनदा को अपनी छाती से लगा लिया। आँखों के पानी से मनोमालिन्य धुल गया। मैं भी चैन की साँस लेकर बच गया। दोनों लोगों के बीच मान-अभिमान का इसी तरह का दौर चलता रहता था। दोनों ही सहृदय थे। इसलिए उनका मन-मुटाव स्थायी नहीं होता था।

रसचक्र के उद्यान-समारोह में दो बजे सभी के साथ केला के पत्ते भर दाल-भात खाना शरत् चन्द्र को काफ़ी अच्छा लगता था।

'कवि यतीन्द्रमोहन भोजन में देर होने से बेचैन होकर चिल्ल-पों-पों मचाया करते थे तब शरत् दादा कहा करते थे, अरे विश्वपति, यतीन को बैंगन की तरकारी खाने को दो, उसकी जठराग्नि कुछ आहुतियाँ चाह रही हैं'' यतीनदा से कहते थे 'तुम ठहरे गाँव के जमींदार, अपने देहात में प्रजाजनों के घर तुम्हें निमंत्रण खाने का अभ्यास नहीं है— मुझे वह अभ्यास है। जो लोग निमंत्रण करते हैं वे आमंत्रित लोगों की क्षुधा जब चरम सीमा पर पहुँच जाती है तब खाने को देते हैं। उसका परिणाम क्या होता है, पता है, शाक भाजी से शुरू कर सभी कुछ अमृत जैसा हो जाता है। क्षुधा की तीव्रता बढ़ाकर वे आयोजन के दैन्य की इस तरह क्षति-पूर्ति कर लेते हैं। राधेश गांव-गँवई का आदमी है। उसने गँवई-गाँव की ही प्रथा को यहाँ बरकरार रखा है। हम लोग यहाँ एक साथ खाकर आनन्द मनाने आए हैं, यहाँ खाना ही बड़ी चीज नहीं है। नहीं तो तुम्हें पहले ही मछली-भात देकर दाल-भात खिलाया जा सकता था।'

31 भाद्र की शाम को शरत्चन्द्र रसचक्र की मजलिस में आए थे। तब मैंने उनसे कहा था— ''दादा आज आपका जन्मदिन है, आपकी दीर्घ आयु की कामना के लिए हम सब लोग आज आपके घर जा रहे थे–अब आप खुद ही यहाँ आ गये हैं।''

शरत् चन्द्र लम्बी साँस लेते हुए बोले—भाई और चाहे जो करो, दीर्घायु की कामना अब ना करो। वरन् ऐसा कुछ करो जिससे मेरे जीवन में भाद्र की यह तिथि फिर कभी ना आए। जरा-जीर्ण, रुग्ण देह के साथ दीर्घायु कितना बड़ा दण्ड है इसे तुम लोग नहीं समझोगे। बहुत दिन तो जी लिया, अब और जीने से कोई लाभ नहीं है— अपने देश का भी कोई लाभ नहीं है।

अनुवाद : रामशंकर द्विवेदी

आधुनिकता और संस्कृत उपन्यास

बजरंग बिहारी तिवारी

राजशेखर (दसवीं शताब्दी) के नाटक 'बालरामायण' के प्रारंभ में पारिपार्श्विक मारिष सूत्रधार से प्रश्न करता है कि जिस रामकथा को महर्षि बाल्मीकि ने स्वयं अपनी आँखों से देखकर शब्दबद्ध किया था, उस चरित की किस विशेषता को यह कवि प्रकट करेगा? सूत्रधार मानो सभी प्रयोगशील रचनाकारों— 'भए जे अहहिं जो होइहहिं आगे'- की ओर से प्रतिनिधिक उत्तर देता है—'क्वचित्कश्चित्प्रगल्भते नहि सर्वः सर्वं जानति।' सब लोग सभी विषयों को नहीं जानते।प्रत्येक की निपुणता का क्षेत्र अलग-अलग होता है।

संस्कृत के प्रख्यात सर्जक हर्षदेव माधव का सद्य; प्रकाशित उपन्यास 'मूको रामगिरिर्भूत्वा' (प्रकाशक-राष्ट्रीयसंस्कृतसंस्थान, नई दिल्ली, 2008) पढ़कर राजशेखर के उक्त औचित्य प्रतिपादन का स्मरण हो आना स्वाभाविक है। हर्षदेव माधव ने कालिदास के 'मेघदूत' से संकेत ग्रहण कर उसी कथा को विस्तार देते हुए यह उपन्यास लिखा है। मेघदूत की कथा वैसे बड़ी क्षीण है। कार्य में हुए प्रमाद के कारण स्वामी कुबेर से शापित अलकापुरी का यक्ष एक वर्ष की शापावधि बिताने रामगिरि पर निवास करता है। वियोगदग्ध यक्ष अपनी प्रिया तक संदेश पहुँचाने के लिए मेघ से याचना करता है। मेघ को मार्ग-निर्देश देने के क्रम में पूरी कृति रची गई है। इस कृति के दो खंड हैं। पूर्व मेघ में रामगिरि पर्वत से अलकापुरी तक उस मार्ग का वर्णन है जिससे होकर मेघ को जाना है। उत्तरमेघ में अलकापुरी के ऐश्वर्य का चित्रण है साथ ही यक्ष के भवन और भार्या के सौन्दर्य का। प्रिया तक पहुँचाए जाने वाले संदेशकथन से इस कृति का समापन होता है। कविराज विश्वनाथ ने मेघदूत को खण्डकाव्य माना लेकिन लोकमत इसे गीतिकाव्य के रूप में ही देखता है। गीतितत्त्व की प्रधानता और घटना संकुल कथा सूत्र की अनुपस्थिति इस मान्यता के आधारभूत कारण हैं।

हर्षदेव माधव ने इस क्षीण कथातत्व वाली रचना की नींव पर अपने उपन्यास की इमारत खड़ी की है। दोनों कृतियों में मूल समानता कथानायक के वर्षपर्यन्त रामगिरि पर्वत पर वास को लेकर है। कथा का शेष ढांचा उपन्यासकार ने अपनी प्रतिभा कल्पना से रचा है। नए चरित्रों की सृष्टि, नई घटनाओं का विनियोग, नए संदर्भों, भावों और विचारों से संवलित अभिनव कथा भूमि का सृजन उपन्यासकार ने 'पूरी कुशलता' से किया है। कालिदास का यक्ष मनोरम प्रकृति वर्णन, नगर वर्णन, विलास वर्णन में लगा रहता है। हर्षदेव माधव का यक्ष आत्मचेतस् नायक की भांति अपने अवसाद्, एकाकीपन और नित नए

अनुभवों को डायरी पर उतारने में संलग्न होता है। उसकी वासरिका (डायरी) के जरिए हम उसके व्यक्तित्व के रेशे-रेशे से वाकिफ़ होते हैं। मेघदूत का यक्ष हमारे लिए अधिकांशतः अजनबी ही बना रहता है।

हर्षदेव ने 'मूको रामगिरिर्भूत्वा' को 'आधुनिक संस्कृत उपन्यास' कहा है। यदि इसे 'आधुनिक' न कहा गया होता तो भी हम इसे वही समझते। 'आधुनिक' लिख देने से हमारा ध्यान इस विशेषण पर खास तौर से जाता है। निश्चित तौर पर यह 'आधुनिक' मात्र काल बोधी नहीं, कुछ निश्चित मूल्यों का वाचक है। सामान्यतः मध्यकालीनता से अलगाने की प्रक्रिया में हम आधुनिकता के लक्षण तय करते हैं। जहाँ मध्यकालीनता में धर्म और ईश्वर व तत्संबंधी संस्थाएं एवं अवधारणाएं केन्द्रीय हैं वहीं आधुनिकता में मनुष्य व विज्ञान प्रमुख हैं। आधुनिकता में आस्था व श्रद्धा की जगह तर्कबुद्धि, प्रयोग व प्रश्नवाचकता को तरज़ीह मिली है। मध्यकालीन बोध में (पुरुषार्थ चतुष्टय का) मोक्ष जीवन का अन्तिम लक्ष्य है किंतु स्वाधीनता प्राथमिक मूल्य नहीं जबकि आधुनिकता में वह सर्वोच्च है और उसे हर कीमत पर अर्जित किया जाना है।

स्वाधीनता की कीमत उन देशों/ समाजों ने ज़्यादा चुकाई जो उपनिवेशीकृत थे, साम्राज्यवादी देशों द्वारा गुलाम बना लिए गए थे। उपनिवेशवाद से मुक्ति के लिए संघर्ष कर रहे ऐसे समाजों में उपन्यास स्वाधीनता की आकांक्षा की अभिव्यक्ति के सबसे महत्वपूर्ण माध्यम बने। पहली दुनिया के उपन्यास जिस समय वैयक्तिक मुक्ति का सपना संजो रहे थे उस समय तीसरी दुनिया के उपन्यासों में सम्पूर्ण आज़ादी का राजनीतिक रूपक रचा जा रहा था। सामंती सामुदायिकता के बरक्स व्यक्ति-सत्ता का रेखांकन तीसरी दुनिया के उपन्यासकारों ने किया, मगर देर से। राष्ट्र के स्वतंत्र होने का बाद।

'मूको रामगिरिर्भूत्वा' में आद्यन्त स्वाधीनता का गौरवगान है। स्वाधीनता की यह कामना प्रकटतः सामाजिक या राष्ट्रीय नहीं है। यक्ष के माध्यम से वैयक्तिक स्वतंत्रता की आकांक्षा व्यक्त हुई है। यक्ष अलकापुरी के अधिपति का सेवक है। जब तक वह धरती पर नहीं आता, उसे स्वतंत्रता का मूल्य नहीं मालूम। धरती पर उसे आज़ादी का अर्थ ज्ञात होता है : 'स्वातन्त्र्यरहितो दिव्यलोकोऽपि निरर्थकोऽस्तीति मया ज्ञातमधुना।' (18) धरती इसीलिए वरेण्य है कि यहाँ स्वतंत्रता से विचरण किया जा सकता है। वास्तविक सुख का अनुभव स्वतंत्र होने में है : 'अत्र तु महत्सुखंवर्तते यत्र मम स्वातन्त्र्यस्य अनवरताऽनुभूतिर्भवति' (पृ034) सेवक तो पराधीन होता है। न तो विचार में न ही व्यवहार में उसे आज़ादी मिलती है 'सेवकत्वे कुत्रास्ति स्वातन्त्र्यं विचाराणां वा व्यवहाराणां वा।' (24) शापावधि बीतने के बाद जब यक्ष को पुनः अलकापुरी जाने का वक्त आता है। तो वह दासता की बजाए स्वातन्त्र्य का वरण करते हुए वापस न जाने का निर्णय लेता है। कार्तिक शुक्लैकादशी को अपनी डायरी का अंमित पृष्ठ-लिखते हुए वह निश्चय करता है, 'अहम् अलकां न गमिष्यामीति।' कारण स्पष्ट है, कि अब यक्षेश्वर की दासता नहीं करनी—'मया निक्षिप्तं यक्षेश्वरस्य दासत्वमधुना।' एकबार आजादी का स्वाद चखा तो पूर्व स्थिति में क्यों जाया जाय— अतः पुनः पारतन्त्र्यपञ्जरे न निवत्स्यामि।' स्वातन्त्र्य-बोध का होना अलका में संभव नहीं था। पृथ्वी ने इसका अहसास करायाः

'पृथिव्याः परिचयात् स्वातन्त्र्यस्य परिभाषा मया ज्ञाता।'

यक्ष की आज़ादी के इस उद्घोष को क्या हम संस्कृत साहित्य में नई व्यक्ति-सत्ता के उदय का

सबूत मानें?

गौरतलब यह भी कि स्वतंत्रता को प्रेम से जोड़कर देखा गया है। स्वतंत्रता हासिल किए बग़ैर प्रेम के मुक्ताकाश में विचरण नहीं किया जा सकता। अलका में प्रेम भोग का पर्याय क्यों हैं, धरती पर वह संजीवनी क्यों हैं? क्या इसलिए कि धरती जैसी स्वतंत्रता अलका में उपलब्ध नहीं, ''अलकायां प्रणयोनामभोगस्य पर्यायोऽस्ति,.... पृथिव्यां प्रणयोऽस्ति जीवन संजीवनौषधम।'' (30) उस 'लोक' की तुलना में यहाँ का वैशिष्ट्य प्रेम का अवकाश प्रदान करने में है। प्रेम का असल अर्थ इसी लोक में ज्ञात होता हैः 'पृथ्व्यां मया ज्ञाता प्रणयस्य परिभाषाः'(71) पृथ्वी पर नवता है इसीलिए यहाँ सौन्दर्य है। 'वहाँ' परिवर्तन नहीं, क्षण-क्षण बदलाव नहीं, अतएव सौन्दर्य नहीं है। उस लोक में जीवन युगों में जिया जाता है इस लोक में 'क्षण' में — 'अहं पृथ्व्यां निवसामि। प्रतिक्षणं जीवामि।' (37) स्वर्ग की तुलना में धरती को वरीयता वास्तव में मनुष्य की प्रतिष्ठा है जो साहित्य की दुनिया में अति प्रचलित और पुरानी पड़ जाने के बावजूद स्पृहणीय लगती है। संस्कृत साहित्य के बारे में जो 'कॉमन सेंस' है उसे ध्यान में रखकर ही इस स्पृहणीयता को समझा जा सकता है।

स्पष्ट है कि उपन्यास मूलकृति का अनुकथन नहीं है। सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि शाप की अवधि समाप्त होने के बाद यक्ष वापस अलका जाने से इनकार कर देता है। दुर्योगात् अर्जित स्वतंत्रता उसे नहीं गंवानी। पुनः कुबेर की सेवकाई उसे मंजूर नहीं। यक्ष को इनकार का यह साहस सिर्फ स्वतंत्रता की रक्षा के कारण नहीं आया। धरती पर प्रेम, सौंदर्य, जीवन की अर्थवत्ता की जो संभावनाएं हैं वे अन्य किसी लोक में नहीं। ऐसी प्राप्त हुई धरती को छोड़ना भला कहाँ की समझदारी होगी!

'मूको रामगिरिर्भूत्वा' के चार खण्ड हैं—श्याममेघ, अरुणमेघ, रक्तमेघ और सुवर्णमेघ। पहले खण्ड में एकाकीपन का तीव्र अनुभव एवं तत्प्रसूत अवसाद की गहरी लकीरें हैं। एतदर्प यक्ष प्रिया के वियोग में निरंतर तड़प रहा है—'मम मनसि प्रसृतोऽस्ति गाढगाढोऽन्धकारः। प्रसृतमस्ति खण्डित वीणामौनम, प्रसृताऽस्ति शून्य कुटीरे वेदना।' वेदना की यह प्रगाढ़ता संवेदित करती है। पाठक को यक्ष की पीड़ा का भागीदार बना देती है। हम उसके एकनिष्ठ प्रेम की उज्ज्वलता के साक्षी बनते जाते हैं। वास्तव में कालिदास के यक्ष की एकनिष्ठता की रोशनी हम पर तारी होने लगती है। जैसे 'मेघदूत' के रचनाकार ने यक्ष से अपने को एकाकार कर लिया था। वैसे (या उससे कुछ ज़्यादा मुखर रूप में) हर्षदेव माधव ने उपन्यास के नायक को अपना प्रतिनिधि बना दिया है। लेकिन, लेखक से एकाकार होने की इस स्थिति में दोनों कृतियों में मूलभूत अंतर है। 'मेघदूत' का यक्ष रचना-प्रक्रिया के दौरान, कृति के स्वाभाविक प्रवाह को तर्क से आकार लेता हुआ रचनाकार से एकाकारिता प्राप्त करता गया है। इधर, उपन्यासकार ने कृति रचने से पूर्व ही निर्णय लिया कि उसे यक्ष की 'निर्दोषिता का निरूपण' करना है। (देखें, शेषकथन)

हर्षदेवमाधव ने नए पात्रों की सृष्टि की, नए प्रसंग सिरजे, कथा का नया वितान खड़ा किया। यक्ष को आत्मरूप बनाकर उसका नायकत्व साबित किया। प्रिया से वियोग की व्यथा पहले खण्ड में केन्द्रीय है तो पार्थिवी से मिलन का रोमांच व उत्सुकता दूसरे खण्ड अरुण मेघ में। यक्ष की तड़प पार्थिवी से उसकी मुलाकात और पहली ही नज़र में हुए प्रेम के चलते उसकी डायरी के पन्नों पर क्रमशः विलीन होती जाती है। पार्थिवी चुपके से उसकी सेवा करने आती है। उसकी कुटी बुहारती है, चीजों को

व्यवस्थित करती है और चुपके से चली जाती है। नायक उसकी झलक पाने को बेचैन है। अलकापुरी में बैठी उस की प्रिया ऐसे में विस्मृत है। वह छिपकर नई युवती को देखता है। उसकी निगाह का अंदाज़ इन शब्दों से होता है : 'तन्वी क्षामा पक्वबिम्वाधरोष्ठी प्रविशति। नैसर्गिकं रूपम्, पाण्डुक्षामं वपुः, ललिता देहलता, मृगनयनी सा विचरति.....' (31) पहली बार सिर्फ एक झलक मिली। दूसरी बार उसे रोकना चाहा। वह तन्वंगी को आवाज़ देकर नहीं रोकता, दुपट्टा खींचकर रोकने की कोशिश करता है। युवती चौकन्नी है इसलिए भाग जाती है- 'मया तां पटान्ते ग्रहीतुं प्रयत्नः किन्तु.....'(35) दूसरी बार चूक नहीं होती। दुपट्टा कस कर पकड़ा यक्ष ने- अहं तां पटान्ते गृहीतवान।' (36) इसके बाद परिचय और फिर प्रेम। यह प्रेम 'कामायनी' के मनु और श्रद्धा की कोटि का नहीं है। वहाँ तो श्रद्धा का अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व था। यहाँ पार्थिवी सेविका की तरह प्रवेश करती है। अज्ञेय के नायक शेखर के जीवन में आई स्त्रियों की जो स्थिति रही उससे बदतर स्थिति में पार्थिवी को रखा गया है। भारतीय समाज का आधुनिक नायक क्रांति, वेदना, स्वतंत्रता और चयन का अधिकार अपने पास सुरक्षित रखता है। वह प्रेम करेगा- न्योछावार हो जाने की हद तक प्रेम करेगा लेकिन प्रेयसी को पूर्ण मानुषी का दर्जा नहीं देगा। हर्षदेव माधव की 'क्रांतिकारी आधुनिकता' के प्रति तमाम सम्मान के बावजूद, संस्कृत के समकालीन मूर्धन्यों की ढेरों सम्मतियों के होते हुए भी, उनकी अनगिनत प्रेम कविताओं से सहमति जताते हुए भी उनकी स्त्री-दृष्टि स्पष्ट रूप से दिक्कत तलब लगती है। स्त्री और पुरुष को लता व वृक्ष के रूपक से समझने वाला रचनाकार स्त्री-पीड़ा की कितनी भी कविताएं लिखे, उसकी दृष्टि की सीमा बनी ही रहेगी।

पारंपरिक पाठक के कोण से पढ़ें तो इस उपन्यास की बनावट मोहक लगती है। लेकिन, पिछले छः दशकों में विकसित स्त्रीवादी निगाह से देखें तो उपन्यासकार का, कथानायक यक्ष की टिप्पणियों के ज़रिए व्यक्त हुआ 'अप्रोच' 'सेक्सुआलाइज़्ड' लगता है। यदि उपन्यासकार ने यक्ष को अपने विचारजगत की सृष्टि के रूप में न प्रस्तावित किया होता तो ऐसे आरोप की ज़्यादा अहमियत न होती। प्रकृति वर्णन के प्रसंग में यक्ष के कुछ कथन देखें। पृथ्वी की शुष्कता और क्षीणता दर्शाने के लिए उसे यह उपमा सूझती हैः 'पतिसुखविरहिता नारीव भूमिः शुष्कक्षीणा संलक्ष्यते।'(9) चंद्रग्रहण देखते हुए वह कहता है, 'रजोदर्शन पीड़िता काऽपि कन्येव दृश्यते नभस्थली।'(20) पुत्रदा एकां देशी के दिन समाधिस्थ यक्ष की कल्पना में आराध्य भगवान विष्णु इस तरह दिखते हैंः 'विष्णुः शेषशय्यायां सुप्तोऽस्ति।.... श्रीमाता स्वकोमलकरैर्भगवतः पद्मकल्पितयोः पादयोः परिचर्यां करोति।.... भगवान कमलाक्षो नेत्रे निमील्य पदमायाः स्पर्शसुखे लीनो जातः।'(12) विवाह के बाद पार्थिवी यक्ष को पहला शुभ समाचार देती है—'अहं तव पुत्रस्य माता भविष्यामि।'(97) पुत्र ही पैदा होगा पार्थिवी को इसका पहले से यकीन है। इसी से यह समाचार 'शुभ' बन पाया है।

कालिदास ने यक्ष के जीवन में किसी स्त्री की कल्पना नहीं की थी। उत्तरमेघ में एक स्थल पर यक्षकी प्रिया एकाएक रोते हुए जाग जाती है। यक्ष द्वारा पूछने पर वह कहती है कि आज मैने स्वप्न में किसी रमणी के साथ मनोविनोद करते हुए तुम्हें देखा—'दृष्टः स्वप्ने कितव! रमयन् कामपि त्वं मयेति।' (श्लोक संख्या 48) 'कितव' धूर्त को कहते हैं। मज़ाक में किया गया यह संबोधन 'आधुनिक' लेखक द्वारा 'सच' में परिवर्तित हुआ। पार्थिवी के साथ देशाटन करता हुआ यक्ष वृंदावन पहुंचता है। वहाँ उसे कृष्ण-गोपी संबंध की याद आती है। सतह पर द्रष्टव्य समता को लक्ष्य कर वह कहता हैः 'अहमपि प्रणय रसायनं लब्धवान्' (57) फिर, प्रश्न उठता है कि अब तक विषाद, अवसाद और मिलन की तड़प से

रंजित डायरी के जो पृष्ठ भरे जा रहे थे वे किस भाव की उपज थे? उपन्यासकार ने यक्ष का पार्थिवी से मिलन कराया, फिर प्रेम और फिर विवाह। अंत में, इस विवाह का तरह-तरह से औचित्य-निरूपण किया। औचित्य निरूपण के लिए पहले नारद आए। इसके बाद पर्थिवी को इस काम में लगाया गया और अंत में, पितरों को साक्षात् धरती पर उतारा गया। पितरों ने यक्ष से कहा कि तुम्हारा धरती पर रहना ही अच्छा है क्योंकि इससे हमें श्राद्ध का लाभ मिलता रहेगा—'तिलदोकं बिना, श्राद्धक्रियया विना, पिण्डैर्विना अस्माकं दयनीया- शोचनीया दशा जाता।'(49) नारद ने यक्ष के तीन जन्मों की कथा सुनाई। पार्थिवी ने भग्नराज-महल पर ले जाकर बताया कि पिछले जन्म में हम-तुम पति-पत्नी थे। तुम विदिशा नगरी के राजा पुण्यकेतु थे और मैं दशार्ण देश की राजकन्या पद्मिनी—तुम्हारी राजमहिषी। यह पूर्वार्जित पुण्य है जो हम दोबारा मिल रहे हैं। यक्ष ने पूछा कि क्या तुम मुझे अभी तक पति मानती हो? पार्थिवी का उत्तर था, ''अथ किम। अन्यथा न काऽपि नारी पर पुरुष-संसर्ग करोतीदृशम्!'' (76) तम्हें पाने के लिए तो मैं पुनः अवतीर्ण हुई हूँ! यक्ष को अपनी पूर्व प्रिया की याद आई। तुरंत पितृगणों का स्वर्ग से आगमन हुआ। उन्होंने आदेश दिया, ''इमां पुण्यशालिनीं प्रियां स्वीकृत्य नो मनीषां पूरय।''(76)—इस पुण्यशालिनी प्रिया को स्वीकार कर हमारे मनोरथ पूरे करो। असमंजस में डूबता-उतराता यक्ष कुछ और सोचे इससे पहले उसके मित्र वसुसेन के दो सेवक आ गए। उन्होंने कहा कि एक शिवालय में बंदोबस्त हो गया है, चलकर विवाह संस्कार की औपचारिकताएं पूरी करो। यक्ष को आत्मतुष्टि के लिए और क्या चाहिए था? औचित्य-निरूपण की इस शृंखला के बाद शक की गुंजाइश ही नहीं बची!

कथा-लेखन से पूर्व किये गए संकल्प के अनुसार उपन्यासकार को सर्वत्र नायक को निर्दोष दर्शाना है इसलिए पार्थिवी से उसके प्रेम को 'वैध' साबित करने के लिए उसे जन्मान्तर की कल्पना करनी पड़ी, औचित्यनिरूपण की एक पूरी शृंखला को जन्म देना पड़ा। इससे उलटी गंगा बही। लेखक आधुनिकता का चोला उतारकर मध्यकालीन बोध वाला हो गया। वह साहित्यकार की बजाए पुराणकार नज़र आने लगा। मनुष्यता की कथा कहने वाले को प्रेम-परिघटन में किसी तर्क की ज़रूरत नहीं होती। इस बात को आज से हज़ार साल पहले राजशेखर अपने एक सट्टक 'कर्पूरमञ्जरी' में कह चुके हैं। यह पूछे जाने पर कि महारानी के होते हुए और उनके प्रति अत्यधिक प्रेम के बावजूद आपने कर्पूर मञ्जरी से प्रेम क्यों किया, नायक का उत्तर है—'कदा वि संघडइ कस्स वि पेम्मगण्ठी' किसी भी समय किसी का किसी पर प्रेम यों हो जाता है। राजा यह भी कहता है कि इस प्रेम संबंध में सौंदर्य (तक) कारण नहीं होता— 'वमेव तत्थ ण हु कारणमत्थि रुअं।'

मनुष्य का गौरवगान वस्तुतः मानव-श्रम का महत्त्व-प्रतिपादन है। पुराण और साहित्य के आधारभूत अंतरों में एक यह कि जहाँ पुराण में दैवीशक्ति, मंत्र शक्ति नियामक-संचालक हुआ करती हैं वहीं साहित्य में (विशेषकर आधुनिक साहित्य में) मनुष्य की श्रमशक्ति पर भरोसा किया जाता है। जो लेखक अपनी निजी ज़िंदगी में मंत्रों के अभ्यासी-विश्वासी होते हैं वे भी शब्द-सर्जना के समय ऐसी आस्थाओं को स्थगित कर देते हैं। 'मूको रामगिरिर्भूत्वा' में देवलोक और पृथ्वी लोक का अंतर बताते हुए कहा गया हैः 'किन्तु अत्र श्रमबिना न किंचिद् फलति, यतो हि पथ्वीलोकः कर्मलोकः कथ्यते।'(46) लेकिन यह सिद्धांत कथन की तरह है। उपन्यास में शुरू से आखीर तक मंत्रशक्ति की महिमा ही नहीं बखानी गई है, मंत्रों के ज़ोर पर एक से बढ़कर एक चमत्कार घटित होते दिखाए गए हैं। लेखक के

अनुसार यह सब मनुष्य की आधि दैविक और आध्यात्मिक शक्तियों का सुफल है (अनुकथन, पृ0 197)। लेकिन, मंत्र या आध्यात्मिक शक्ति का प्रदर्शन इस (उपन्यास की) कथाभूमि में असंगत लगता है।

यक्ष पृथ्वीलोक घूमना चाहता है। पार्थिवी महर्षि भारद्वाज आश्रम से 'आकाशगामिनी विद्याकल्प' ग्रंथ लाकर सभी आवश्यक सामग्री जुटाती है। यक्ष इस बूटी संग्रह अभियान में सहायक है। रसायन तैयार होने पर यक्ष ने तिरस्करिणीविद्यामंत्र का जाप किया। रसायन का अपने अंगों पर लेप किया—'तिरस्करिणीविद्या प्रभावात् गगनयात्रा निर्विघ्ना जाता।' (55) पार्थिवी को कर्ण पिशाचिनी विद्या सिद्ध है। वह किसी के मन का हाल जान सकती है। गगनयात्रा के जरिए पृथ्वीलोक का भ्रमण सम्पन्न हुआ तो पार्थिवी को अपने पिता के रुग्ण होने का समाचार मिला। उसने पिता की सुश्रुषा के लिए यक्ष से एक महीने के लिए विदा ली। होना तो यह चाहिए था कि पार्थिवी की निरंतर सेवा प्राप्त करने वाला यक्ष भी साथ जाता। सहयोग करता। लेकिन, उसे तो प्रकृति के बदलते रूप का दर्शन करना है। आत्मलिप्त, स्वार्थी व्यक्ति दूसरे के दुख में शरीक नहीं हो सकता। अधिक से अधिक कुछ क्षणों के लिए 'शून्यमनस्क' हो लेता है। इसके बाद पार्थिवी विस्मृत है। अगले महीने पार्थिवी की याद आई। कैसी होगी वह? 'कदा सा पुनरपि आगमिष्यति?'(68) ज्येष्ठ महीने की गई पार्थिवी श्रावण में लौटी। पिता दिवंगत हो चुके हैं। दुख ने उसे दुबला बना डाला। लेकिन, यक्ष की रसिकदृष्टि उसे यों देखती है—'सा कृशगात्रापि रमणीयदर्शना दृश्यते स्म।'(74)

पार्थिवी अब यक्ष की पत्नी है। वे दोनों मतंगमुनि के आश्रम गए। मुनि ने विस्तार से मंत्र शक्ति पर प्रकाश डाला। कहा कि शरद काल नवरात्र में कामाक्षी देवी का मंत्र पढ़ो। सब कुछ मिलेगा। अगले किसी दिन यक्ष ने दो बाघों को परस्पर लड़ता पाया। एकाग्र हो मंत्र जाप शुरू किया। तुरंत दोनों में मैत्री हो गई! फिर नवरात्र में कामाख्या देवी के मंत्र का अनुष्ठान प्रारंभ किया। जब अनुष्ठान पूर्ण हुआ तो देवी स्वयं आईं। बताया कि शीघ्र कुटी में जाओ। पत्नी के प्राण संकट में हैं। उन्होंने पापरुचि पिशाच से मिलने की सलाह भी दी। पापरुचि ने अपनी पैशाच विद्या से गंतव्य तक पहुंचाया। गुफा में अंधकार था। यक्ष ने चाक्षुष उपनिषद पढ़ा। नेत्रों में दिव्य ज्योति आ गई। अंदर जाकर देखा तो कालजंङ्घ राक्षस प्रिया को मारने को उद्यत था। कामाक्षी देवी द्वार बताए रक्षोघ्नसूक्त के उच्चारण से यक्ष ने राक्षस का वध किया। मंत्र का चमत्कार देखते ही बनता है! उपन्यास के मंत्रपूरित हिस्से पढ़कर लगता है कि यह किशोरों के मनोरंजनार्थ लिखा गया होगा। चमत्कारपूर्ण, तिलस्मी उपन्यास लेखन से हिन्दी साहित्य सौ वर्ष पहले मुक्त हो चुका है। स्वयं संस्कृत में राधावल्लभ त्रिपाठी जैसे गद्यकार ऐन आज की ज़िन्दगी को उसकी पूरी जटिलता में प्रस्तुत कर रहे हैं। हर्षदेव माधव की दिक्कत यह है कि उन्होंने अपने विश्वास (पूर्वग्रह?) को अपनी कृतिपर पूरी तरह हावी हो जाने दिया है। पुरी की यात्रा पर गये हुए यक्ष ने एक गांव में मरणासन्न युवक देख परिवार वालों का दुख दूर करने के लिए उसने 'आवर्तनसूक्त' का पाठ करके मूर्छित देह पर जल छिड़का। युवक निद्रा से जगे हुए के समान उठ खड़ा हुआ। कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय में यक्ष की मुलाकात महर्षि पिप्पलाद से हुई। महर्षि ने उसे मधुविद्या सिखाई। इस भोग और मोक्षकारी विद्या के बल पर यक्ष कुबेर से भी श्रेष्ठ हो जाएगा! पार्थिवी के साथ घूमते-घामते यक्ष ऐसे गांव में पहुँचा जहाँ निपट गरीबी थी। उसका हृदय पसीज गया। उसने भैरवमंत्र के साथ श्री सूक्त का ग्यारह बार पाठ किया। महान आश्चर्य!

धन की देवी स्वयं आईं और सोने की बारिश करके पूरे गांव को मालामाल कर दिया। काश! यक्ष ने ऐसा पाठ पूरी धरती के लिए किया होता!!

यक्ष की वासरिका के आधार पर उपन्यास लिखने का आइडिया मौलिक है। कालिदास के रचे चरित्र को आज की दुनिया में लाकर खड़ा कर देना स्मरणीय और अर्थवान हो सकता था बशर्ते लेखक किसी एक ज़मीन (आधुनिक या पूर्व आधुनिक) पर रहता, अपनी मान्यताओं, अपने विश्वासों को कृति पर न आरोपित करता, कथा के पात्रों को सांचे में ढालने की बजाए उनका मुक्त विकास होने देता, उन्हें मुक्त विचरण करने देता, मंत्रवादी समाधान प्रस्तुत करने की बजाए समकालीन ज़िंदगी के संश्लिष्ट यथार्थ पर निगाह डालने की गंभीर चेष्टा करता....

बहरहाल, जो न हुआ उसकी सूची क्यों बनाई जाए? संस्कृत उपन्यास का वर्तमान समझने के लिए 'मूको रामगिरिर्भूत्वा' को एक बार देख लेना ज़रूरी है। प्रसंगवश, यह भी जोड़ दिया जाए कि इस उपन्यास पर संस्कृत के मूर्धन्य रचनाकारों, आलोचकों ने अपनी सम्पत्तियाँ दी हैं। इनमें राधावल्लभ त्रिपाठी, देवर्षि कलानाथ शास्त्री, डॉ. जगन्नाथ पाठक, आचार्य रासविहारी द्विवेदी, अनुवादिका मंजुलता शर्मा हैं। यह बात नोट करने लायक है कि किसी ने प्रस्तुत उपन्यास में कोई भी कमी लक्षित नहीं की। इस अचरज भरी सर्वानुमति, सर्वसम्मति की व्याख्या किस तरह की जाय....?

समकालीन मलयालम कविता

पी.रवि

समकालीन कविता के बारे में कहाँ से शुरू करूँ, यह दिक्कत की बात है । तथाकथित आधुनिकतावादी कविता के बाद की कविता को हम अक्सर समकालीन कविता की संज्ञा देते आ रहे हैं। लेकिन गत तीस-पैंतीस साल की कविता की प्रकृति एवं उसकी वैचारिक ऊर्जा दोनों एक जैसे नहीं हैं। आठवें दशक के केरलीय राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक अन्तरीक्ष में मार्क्स और माओ मुखरित रहे, और कविता भी इसका हिस्सा हो गयी। यह तत्कालीन मुख्यधारा मलयालम कविता की बात है। इस समय पूर्ववर्त्ती कुछ कवि मौन हो गये और कुछ समय के अनुसार अपने को बदलने को मजबूर हुए। नवां दशक विश्वस्तर पर ही संक्रमण का समय रहा। एक ओर विश्वस्तर पर नव उपनिवेशवाद एवं नई आर्थिक नीति का आरंभ हुआ तो दूसरी ओर रूस और अन्य पूर्वी यूरोपीय देशों में समाजवादी शासन का अन्त हुआ। इससे सशस्त्र क्रांति और सर्वहारा की मुक्ति दूर का स्वप्न लगने लगे। इस अन्तराल में बहुराष्ट्रीय पूंजी द्वारा प्रायोजित आर्थिक उदारीकरण एवं विश्व बाज़ार साकार होने लगे। इसी समय स्त्रीवाद, दलित चेतना, पारिस्थितिकी आदि साहित्यिक-सांस्कृतिक एवं सामाजिक दरवाज़ों पर दस्तक दे रहे थे। इसके साथ सन् 1985 के बाद की कविता की प्रकृति में साफ़ अन्तर दिखाई देने लगा। स्त्री, दलित एवं पारिस्थितिकी के साथ इस समय गांधी और मार्क्स को एक साथ रखकर पढ़ने का प्रयास भी शुरू हुआ, जिसका प्रभाव आज की कविता के वैचारिक पक्ष को मजबूत कर भी रहा है। कहने का मतलब यह है कि यहाँ समकालीन कविता पर विचार दो चरणों में करने का प्रयास करना चाहता हूँ।

आठवें दशक की कविता विचारधारा की कविता है जिसके आगे स्वस्थ एवं स्पष्ट उद्देश्य रहा। समकालीन कविता के प्रवर्त्तक कवि एवं विचारक के. सच्चिदानन्दन का लंबा लेख ''कविता और क्रांति' (1977) इस दशक की कविता का घोषणापत्र है। इसमें वे मार्क्सवाद को संसार का पुनः निर्माण कर्ता दर्शन तथा तत्कालीन कविता को जीवन का पुनः निर्माण करनेवाली कविता कहते हैं। उनकी राय में 'पूर्ववर्ती कविता मानवीय स्थितियों से वाकिफ़ थी। लेकिन मनुय पर असर डालनेवाली शक्तियाँ कौन-कौन सी हैं?, जीवन स्थितियों का पुनः निर्माण कैसे कर सकते हैं तथा समग्र स्वातंत्र्य का साक्षात्कार कैसे संभव है? इसे कवियों को मार्क्सवाद ने दिखाया है।'' इस तरह मानव समाज की पुनःसृष्टि में कविता की भूमिका को वे रेखांकित करते हैं। आठवें दशक की कविता उनके अनुसार निरीक्षण करती कविता से सक्रिय भागीदारी की ओर की छलांग है, वही कविता है। समाज का अध्ययन-विश्लेषण करते कवि के

लिए कविता महज कलाकृति नहीं, समाज का मार्गदर्शन करती, उसकी पुनः सृष्टि करती, कला है। इसलिए वे विश्वास करते थे कि रोगग्रस्त समाज में तन्दुरुस्त, आस्थापूर्ण एवं सार्थक अन्तःलोक को बरकरार करना कवियों को ललकारता सबसे बड़ा प्रश्न है। वे कविता का अन्त क्रांति के साथ नहीं मानते थे। संसार के सभी कोनों की जनता की मुक्ति तक कविता की क्रांतिकारिता एवं सार्थकता बनी रहेगी। वर्तमान स्थिति के पीछे जो मूर्त्त एवं स्पष्ट आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक-वर्गबद्ध मनोवैज्ञानिक परिवेश है उसे बदलने पर मानवीय स्थिति बदल जाएगी, यही उनका दृढ़विश्वास था। इस तरह कवि समाज के राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक जीवन में सक्रिय ढंग से प्रवेश करते हैं। यहाँ कविता काल्पनिक या आत्ममुग्ध नहीं, वह संवादात्मक होती है। इस तरह की प्रथम कविता के रूप में सच्चिदानन्दन के. जी. शंकरपिल्ले की 'बंगाल' को दिखा देते हैं। आठवें दशक के क्रांतिकारी कवि के रूप में मुख्यतया ये दोनों प्रतिष्ठित हैं। इनके अलावा कटम्मनिट्टा रामकृष्णन, आट्टूर रविवर्मा, बालचन्द्रन चुल्लिक्काड, सिविक चन्द्रन, आदि भी आते हैं। आठवें दशक की कविता के प्रवर्तक एवं विचारक कवि के रूप में सच्चिदानन्दन प्रतिष्ठित रहें। जनता की मुक्ति एवं समता का आग्रह उनकी कविता के प्राण हैं। सच्चिदानन्दन और के.जी. शंकरपिल्ले दोनों कविता को सामाजिक परिवर्तन का सशक्त माध्यम मानकर सशस्त्र क्रांति के पक्ष में खड़े थे। 'सुलेखा' शीर्षक कविता में सच्चिदानन्दन प्रशासन की नृशंसता एवं भीषणता के विरुद्ध जनता के पक्ष में खड़े होते हैं। बहुसंख्यकों की मुक्ति के लिए हिंसा का स्वागत करते हैं, लेकिन स्वार्थ एवं प्रतिशोध के लिए नहीं। तब रूस, चीन जैसे समाजवादी-साम्यवादी देश उनके स्वप्न को और मजबूत करते थे। इस वक्त उनके जेहन में मात्र मार्क्स और माओ थे, गांधी, ईसा, बुद्ध आदि नहीं। क्रांति के कवि हृदयपरिवर्तन में भरोसा नहीं कर सकते थे। इसलिए 'ईसा मसीह का कफ़न' में वे लिखते हैं कि मज़दूर मेहनतकश वर्ग से हृदयपरिवर्तन की बात करना सिर्फ़ धोखा देना है।

'शोषण के विरुद्ध संघर्ष करने का
सबक सिखाने के बजाय
उन्हें गुलामी में छोड़कर
मालिकों के, हृदयपरिवर्तन की कोशिश का नतीजा
सलीब पर लटककर, मृत्यु ही है।'

वामपंथी कविता का संघर्ष तत्कालीन तानाशाही शासन एवं आपात् कालीन बर्बरता के खिलाफ़ भी था। कई कवि कारागार में बन्द हुए, पर वहाँ भी वे चुप नहीं रहे। 'एक जवाब' शीर्षक कविता में सच्चिदानन्दन आपातकाल के अंधकार में भी प्रकाश पर आस्था रखते हैं--

अमावस्या के एहसास से/ यह मत समझना कि
चांद का उदय नहीं होगा/ शिशिर के ठूंठ को देखकर
चिल्लाना मत, कि / पत्तों का ज़माना बीत गया है।
तराई में चांद है/ हमें मालूम है
यह तो अन्तराल है/ समय ज़रूर आएगा कि
हम फूलों पर गा सकेंगे/ तब वाकई सभी मानव
कवि बनेंगे।

'घाटी' में शोषितों को और भी ताकतवर होने ज़रूरत पर बल देते कवि 'भूख-3' 'इसको भी', 'बोधवति' आदि में वर्गचेतना एवं क्रांति से अभिव्यक्ति देते हैं। 'बोधवति' की चमारिन अभिजात मान्यताओं को उलट देती है तथा शोषक का सख्त विरोध एवं निन्दा भी करती है।

के.जी. शंकरपिल्ले की 'बंगाल' शीर्षक कविता समकालीन कविता की प्रथम सशक्त अभिव्यक्ति है। उनकी कवितायें आख्यानात्मक गद्य के साथ बहुत ही शक्तिशाली एवं प्रभावात्मक हैं। शायद इस दौर की सबसे पौरुषपूर्ण कविता उनकी है। वे मार्क्सवादी वर्गमनोविज्ञान एवं इतिहासबोध की नीव पर खड़े होकर आस्था के साथ भारतीय वर्तमान को शब्दबद्ध करते थे। 'बंगाल', 'आनंदन', 'रक्षा', 'अयोध्या', 'दोती', 'तर्जनी' आदि उनकी इस कविप्रतिभा के प्रमाण हैं। 'बंगाल' कविता धृतराष्ट्र के स्वागत भाषण के ज़रिए क्रांति के पूर्व के उच्चवर्ग के आत्मशैथिल्य को व्यक्त करती है। वह क्षरित एवं जीर्ण उच्चवर्ग की संस्कृति के अन्तर्विरोध, अकेलेपन, विभ्रम, निराशा, मृत्युन्मुखता एवं सर्वनाश के दुस्वप्न के बीच उभरती क्रांतिचेतना को प्रतीकों बिंबों के ज़रिए व्यक्त करती है। कहीं यह कविता मुक्तिबोध की याद दिलाती है। 'आनन्दन' में सजग निम्नवर्ग बोलता है। यह वर्ग शोषक की पहचान करता है, जो मौके के अनुसार अपने रूप-रंग को बदल देता है। 'रक्षा', 'अयोध्या' 'तर्जनी' आदि भी इतिहासबोध के साथ वर्गचेतना, क्रांति और विजय की बातें करती हैं। 'चुप्पी' आपातकाल की आलोचना करती है। वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन के सभी पहलुओं को निगलती चुप्पी इसके केन्द्र में है। अभिजात जीवन के अन्तर्विरोध को प्रश्नांकित करती कविता अन्त में निश्चल समय को गतिमान करने की, कारागारों के टूटने की, ठूंठ के पुनः लाल फूलों से भर जाने की आशा करती है। 'गंजा' सिर से बाल की झर जाने के रोग को नहीं, हमारे बुद्धिजीवी वर्ग की निष्क्रियता, चुप्पी, और निरर्थक भाषण को प्रस्तुत करती है।

'हे दोस्त, डर के कारण/ कभी कुत्ता तक भौंकता नहीं रहता
यह यम, यह चोर, यह बोरन, यह डाकिया/यह चंदावाला, मेहमान आ रहे
तो, कुत्ता हमेशा अपना दर्शन खुलकर बोल देता है/ किसी देव का वाहन न हो तुम
दोस्त, जो कहना है उसे कहे बिना/ एक कुत्ता भी हुए बिना
पूंछ हीन होकर, नरक भी न जाकर/ इन इमारतों में हम सड़ जाते हैं।'

यह उनकी संक्रमण काल की कविता है। कटम्मनिट्टा रामकृष्णन और आट्टूर रविवर्मा दोनों तथाकथित आधुनिकता से शुरू करके समय की नब्ज को पहचान कर समकालीन कविता के कवि बने। द्रविड संस्कृति के प्राग्रूपों का समर्थ प्रयोग कटम्मनिट्टा की कविताओं को अलग करता है। लोकमिथ, लोकभाषा और उसकी ताल-लय युक्त प्रस्तुति में नाटकीयता भरी हुई है। इसके द्वारा वो लोक जीवन की स्थितियों, अतृप्तियों के साथ उनमें उभरती संघर्ष चेतना को अभिव्यक्त करते थे। उन्होंने लोक जीवन, पौरुष एवं रौद्रभाव को क्रांतिचेतना की अभिव्यक्ति का साधन बनाया, जिससे साध्य ही नहीं, साधन भी आकर्षक रहा। काली दुर्गा को संबोधित करती पंक्तियाँ देखिए।

'आठों हाथों से मुझे बाँध लो/चरमराकर टूट जाए
मुश्किलों का यह कंकाल/ आग के टीलों पर

मेरे हृदय को किसने जंजीरों से बांधा/ उस जंजीर को गन्ने के समान चूस कर
तुम्हारे अधरों पर बहते रस को पीकर/ मेरी काली त्वचा से बना ढोलक
मेरी उंगली से निवृत्त गीत के साथ/ बजा-बजाकर मैं बुलाता हूँ
आलिंगन कर काली दुर्गे/निचोड़ लो महती मैया।'

'कुरन्ती' कविता में पिछड़ी जनजाति की कुश्ती सारे सत्ताकेन्द्र पर अपनी रौद्र भावना के साथ प्रहार करती है। 'किरातम' में काट्टालन शोषक शक्तियों के सम्मुख अपना प्रचण्ड रूप दिखाता है तो 'पुनर्जन्म' क्रांति का जागरण गीत बन जाती है।

बालचन्द्रन चुल्लिक्काड आठवें दशक के अन्तिम दौर में काव्यक्षेत्र में आए और तत्कालीन जनरोष की आग का हिस्सा बन गए। उनकी कविताओं में क्रांतिचेतना के साथ काल्पनिकता एवं वैयक्तिकता का संस्पर्श भी है। उनकी कविता में थल गौण एवं काल प्रधान है। सत्ता एवं परिवेश से पीड़ित मनुष्य के रुदन, आक्रोश एवं असहाय स्थिति के साथ आक्रमण का तेवर भी स्पष्ट हुआ है। 'खान' शीर्षक कविता चासनाला खान दुर्घटना को लेकर लिखी गई कविता है। दुर्घटना स्थल से जल्दी ही सबका-शासन- प्रशासन, नेता स्वयंसेवी, सरकारी मशीनरी तथा ईश्वर-ग़ायब होना आम बात है। ऐसी हालत में कवि उन मजदूरों के बीच रहता है।

'पर मैं यहीं खड़ा रहूँगा/ खान मजदूरों के साथ
अंधेरे में भाईचारे से लैस/ पसीने, आँसू व खून से लथपथ
मृत्यु गर्त से/ खान मजदूरों की अन्तिम सांस

आंधी सी उछल कूदकर आती है।' और वह आंध्र बिहार और केरल को कंपा कर, झकझोरकर मज़दूर और ईश्वर के अन्तर को मिटा देती है। इस तरह आपात्कालीन कविताओं में भी विद्रोही चेतना एवं स्वातंत्र्य की इच्छा मुखरित है। इनके साथ ए॰ अय्यप्पन, सिविक चन्द्रन आदि ने भी आपातकाल विरोधी कवितायें लिखी थी। लेकिन ये कवि बदलते समय के साथ नई पीढ़ी के साथ स्त्रीवाद, दलित, परिस्थितिकी तथा उपनिवेशवाद विरोधी कविताएँ करने लगें।

समकालीन कविता के दूसरे चरण की कविता बहुस्वरता की है। सन् 2002 की कविता–चर्चा में भाग लिए युवक कवियों ने इस पर ज़ोर भी दिया था। पी.पी. रामचन्द्रन की राय में आज कविता में मुख्यधारा नहीं है। वह किनारों को रूप देती है। वस्तु के रूप में आमलोगों की भांति प्रकृति एवं उपांतीकृत भी आते हैं। उसकी उत्कंठायें अधिक जैविक हैं। उसमें आयातित विचारों की प्रमुखता भी नहीं है। पी॰एन॰ गोपीकृष्णन के अनुसार टेकनोपॉली के इस दौर में कविता का धर्म क्या है? इसका अन्वेषण कवि, समीक्षक, पत्रकार तथा पाठक के एक सम्मिलित गुट को करना है। नए विश्व क्रम की पेशी एवं मुट्ठी के बल पर बदलते प्रौद्योगिकी के आगे आन्तरिक दृष्टि का एक प्रौद्योगिकी विकल्प कविता है, इसे मजबूत करना अनिवार्य है। सुध एवं संस्कृति के बीच कार्यरत एक खास वैकल्पिक प्रौद्योगिकी। इस तरह

की राय रफ़ीक अहमद, एस. जोसफ़ आदि ने भी व्यक्त की है। इनसे अलग ज़रा नकारात्मक रुख के साथ पी. रामन, रूपेश पॉल आदि ने अपनी राय प्रकट की है। टी. पी. राजीवन ने कविता में आए इस परिवर्तन को 'राष्ट्रतंत्र' नामक कविता में स्पष्ट किया है। वर्ग संघर्ष और समता की बात दूर का स्वप्न हो गया और बहुराष्ट्रीय पूंजी ताकतवर होने लगी। समाज में उदारीकरण, निजीकरण, बाज़ारीकरण की बातें मुखरित होने लगीं, इससे सांस्कृतिक क्षेत्र में गतिरोध पैदा हुआ। इसके साथ कवि प्रगतिवादी कविता के स्थान पर सामाजिक चेतना से युक्त कविता के पक्ष में सीमित होने लगे। शायद इस कारण से आज मुख्यधारा की कविता और महान कवि का अभाव होने लगा।

अनवर अली, पी.पी. रामचन्द्रन, रफ़ीक अहमद, पवित्रन तीक्कुनी, एस.जोसफ, टी.पी. राजीवन, शिवदास पुरमेरी आदि की कविताओं में उपनिवेशन का विरोध, विकास और सामाजिक न्याय के बीच के अन्तर्विरोध, निम्नवर्ग एवं उपेक्षितों की बद्हालत, मौकापरस्ती राजनीति इत्यादि को स्थान मिला है। अनवर अली, जो अब लिखते नहीं, की कविता 'अकेलेपन के पचास साल' एक नया पाठ प्रस्तुत करती है। आज़ादी के साथ ही चोट खाए हमारे राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन के स्वप्न-जो अब भी ज्यों के त्यों पड़े हैं, को नई शैली में प्रस्तुत करती है। आज़ादी के गत पचास साल कविता की पृष्ठभूमि है। 14 अगस्त 1947 की रात को सिर टूटकर घर पहुंचे स्वतंत्रता सेनानी राघवन पिछले पचास साल से बेहोश पड़े हैं। स्वतंत्रता की स्वर्णजंयती समारोह के अवसर, उन पर एक डोक्युमेंटरी बनायी जाती है। इसमें राघवन की बहिन पारुअम्मा के साथ की भेंटवार्ता से कविता आगे बढ़ती है। इस बातचीत में राघवन का इतिहास प्रकाश में आता है, जो सिर्फ़ राघवन का नहीं, स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज को रूपायित घटनाओं का इतिहास भी है। 14अगस्त 1947 की रात में पारुअम्मा की गाय की प्रसूती भी होती है। फिर वीडियो कैमरा, सूचनाक्रांति, वर्तमान उत्सवधर्मी बाज़ारी समाज आदि के साथ राघवन के चिरंतन अकेलेपन के साथ कविता जुड़ जाती है। यहां भारतीय सन्दर्भ में राघवन (राघव) के अर्थ, गाय की प्रसूती आदि को बताने की ज़रूरत ही नहीं है। गांधीजी का सान्निध्य कविता में कई संकेतों द्वारा व्यक्त होता है। 'बारिश का मौसम' की अधिकांश कविताओं के द्वारा अनवर अली इतिहास और वर्तमान को जोड़ने का प्रयास करते हैं। 'आम का मौसम' में पी.पी. रामचन्द्रन अतीत और वर्तमान को एक-साथ रखकर वर्तमान के प्रति चिन्तित होते हैं। प्रस्तुत कविता बाज़ारी दुनिया के खोखले जीवन और बंजर होती सृजनात्मकता की ओर संकेत करती है। उपभोगवादी समाज में शरीर के बिना निजी कुछ भी नहीं है। चिंतन मनन करने की बुद्धि एवं विवेक तथा संस्कृति तक नहीं। ऐसे मनुष्य की तुलना कविता के अन्त में कवि मैंगो फ्रूटी के खाली कवर से करते हैं। पापा से बेटी के इस सवाल के साथ काव्यारंभ होता है। वह पूछती है कि मैंगो फ्रूटी के समान स्वाद गाँव के आम का है? बीच में कवि गाँव के आम के पेड़ का चित्रण यों करते हैं कि आम का वृक्ष किसी के आगे सिर न झुकानेवाला, अपनी जड़ें भूमि (संस्कृति) की तह तक फैलानेवाला वृक्ष है। 'लोपसंधि' शीर्षक कविता भी वर्तमान समय पर प्रहार करती है। कविता 'संधि' शब्द के विभिन्न अर्थों को व्यक्त करते हुए अपना प्रतिरोध दर्ज करती है। वर्तमान जीवन अपनी सहज ऊष्मा, हंसी, द्वेष, जिज्ञासा, उत्सुकता, सहानुभूति आदि खो रहा है। आज यादें नहीं, उन्हें दुरुस्त करना नहीं, उससे कतराना चाहते हैं। हम पहले जीवन से जिन्हें दूर रखना चाहते थे, आज आँख मूँदकर उन्हीं का स्वागत करते हैं। इसके साथ कवि पूर्व पीढ़ी के सामाजिक संपृक्ति को स्पंदित जीवन, संघर्ष, क्रांति, प्रतिरोध इत्यादि का चित्र भी रख देते हैं। यादों का लोप, जनसंस्कृति का लोप, पारस्परिकता का

लोप (मलयालम में संधि का एक अर्थ मिलन हैं); संक्षेप में कहें तो मनुष्यता का लोप, यही वर्तमान यथार्थ है। 'उत्तरकाल', 'इडश्शोरी पुल', 'कॉलनी', 'भाषा', 'गणित' आदि ऐसी कवितायें हैं जो वर्तमान विमर्श प्रस्तुत करती हैं। पी.एन. गोपीकृष्णन की कविताओं की केन्द्रीय धुरी सांस्कृतिक विमर्श है। 'सब मेरा चश्मा' कविता सभी नई चीज़ों को अपनाते उपभोगवादी समाज और उसके अन्तहीन लालच को अभिव्यक्ति देती है। यहाँ 'दूसरों की पूछ' में जीवन की सार्थकता ढूँढते समाज का सामना गोपीकृष्णन की कवितायें करती हैं। रफ़ीक अहमद वैविध्यभरी पृथ्वी को समतल बंजर ज़मीन में परिणत करते विकास पर, मनुष्य जीवन के स्पन्दन से संपन्न देशी संस्कृतियों को मिटाती बाज़ारी संस्कृति पर वार करते हैं। 'हाथी मयूर ऊंट' शीर्षक कविता इसका प्रमाण है। शिवदास पुरमेरी की कवितायें नवउपनिवेशवाद के जाल, उसके प्रत्येक कदमों के प्रति चेतावनी देती है। मनुष्य की प्रज्ञा तक को जड़ीभूत करते उपभोक्तृवाद एवं झुंड संस्कृति के हमले से जीवन को सुरक्षित रखना नामुमकिन नहीं, इसकी पहचान शिवदास की कवितायें करती हैं। यानी बाज़ार के प्रभाव में बहे बिना उनकी कविता प्रतिरोध करती है। बली-वामन के पौराणिक बिंब के द्वारा शिवदास की 'तीसरी कदम' वैश्वीकरण के मजबूत कदमों तथा उसकी धोखेबाजी को अभिव्यक्ति देती है। वामन अपने दो कदमों से स्वर्ग एवं भूमि नाप लेता है और तीसरा कदम बली के सिर पर रखता है। आधुनिक वामन (नवउपनिवेशवाद) अपने पहले कदम से दिल, मस्तिष्क, स्वप्न, आँख आदि को, दूसरे से जीवन, बीज, समुद्र आदि को माप लेता है और अब तीसरी दुनिया के लोगों के सिर से सिवा शेष कुछ नहीं रह गया है। भारतीय इतिहास के अनुसार उपनिवेशन का आरंभ 15 वीं सदी के अन्त में हुआ, जिसका अन्त अभी तक नहीं हुआ है। इसकी ओर संकेत करते हुए 'काप्पाड' शीर्षक कविता में 15 वीं सदी में काप्पाड के समुद्र तट पर पहुंचे वास्कोडिगामा के पदचिह्नों का उल्लेख करते हैं। कवि कहते हैं कि काप्पाड में अब भी गामा के पदचिह्न बाकी हैं। समुद्र की लहरों के सतत प्रयत्न के बावजूद भी रेत में वे शेष रह गए हैं। उपनिवेशन का अन्तहीन सिलसिला अब भी जारी है। 'खिड़की बन्द कर दो' वर्तमान भीषण एवं जटिल यथार्थ के हमले से बेटी को बचाने के लिए खिड़कियाँ बन्द करने को कहते हैं। पहले ज्ञान-विज्ञान, संस्कृति आदि का स्वागत करने के लिए पिता खिडकियाँ खोल देते थे। विडंबना यह है कि आज के पिता उल्टा करने को मजबूर हुए हैं। संचार क्रांति, बाज़ारी संस्कृति एवं नृशंसता का प्रतिरोध कवि का उद्देश्य है। इनके साथ पूर्ववर्ती प्रतिष्ठित कवियों की परवर्ती रचनाओं का उल्लेख भी करना है। शंकरपिल्लै की 'आएगा आएगा की प्रतीक्षा', 'प्रार्थना करते तो यों' आदि उपनिवेशन से भिड़ती हैं। 'प्रार्थना करते तो यों' 'माइक' जो बाज़ार का एक मुख्य अंग है, के आगमन से परिवर्तित जीवन में अपनत्व की खोज करती हैं तो 'आएगा आएगा की प्रतीक्षा' उपनिवेशन की सच्चाई पर प्रकाश डालती है। वे लिखते हैं कि हमारी गाड़ियों में बैठकर डेलहौसी, अब भी हरा झंडा हिलाता है। और अमेरिकी गेहूँ हमारी मुख की खिल्ली उड़ाता है। मलयालम में स्त्रीवाद की चर्चा की शुरुआत करते सच्चिदानन्दन अपनी परवर्ती कविताओं में संतों, भक्तकवियों को लेकर बाज़ारी संस्कृति का प्रतिरोध करते हैं। इस दृष्टि से 'कवि बुद्धन,' 'मलयालम' आदि संग्रहों की कविताएँ उल्लेखनीय हैं। कटम्मनिट्टा 'वे कहते हैं' में लिखते हैं कि 'उन्होंने मेरी वसुंधरा को महज चित्र में तब्दील कर/मेज पर खोल रखा है/ उन्होंने इस हिरण्यगर्भा को खोखला गोल बना कर/ एक हथेली में समेट मेज़ पर रखा। इस प्रकार उपनिवेशवादियों का सख्त विरोध करती कविता अन्त में उससे मुक्ति का संकेत देकर समाप्त होती है। 'बेटे से' कविता पुनः जैविक होने के मनुष्य के

आग्रह को प्रस्तुत करती है।

आज की स्त्री पारिवारिक-सामाजिक-धार्मिक विधि-निषेध, जो उनके लिए बन्धन है, की रणनीति तथा उसके उद्देश्यों से अवगत है। वही छल-कपट, अन्याय एवं अत्याचार की शिकार होती है, और हर सौदे, संबंध तथा हर लेन-देन में उसका ही नुकसान होता है। विसंगति यह है कि ऐसी सामाजिक व्यवस्था में भी मुखौटा पुरुष के लिए आभूषण बन जाता है। इस हालत में स्त्री अपने स्वत्व के लिए संघर्ष करने को मजबूर होती है। स्त्री के सभी रूपों-बेटी-लड़की, युवती-प्रेमिका, पत्नी-नौकरानी, माँ-दादीमाँ, उपेक्षिता-विधवा-के दुख दर्द, यातना पीड़ा, आशा-आकांक्षा, स्वप्न-यथार्थ, संघर्ष-अवसाद, जय-पराजय-सभी स्थितियों का चित्रण कवयित्रियां करती हैं। इसमें पूर्व पीढ़ी की सुगतकुमारी का नाम पहले आता है। उनकी कविताओं में स्त्री जीवन का अवसादपूर्ण यथार्थ अधिक मुखरित है।

ओ.वि. उषा ने प्रेम और आध्यात्मिकता को लेकर कवितायें लिखी हैं।

विजयलक्ष्मी के साथ समकालीन स्त्री कविता शुरू होती है। उनकी स्त्री सीधा संघर्ष नहीं करती हैं, परन्तु अपनी स्थिति से वाकिफ़ स्त्री कविताओं में सही ढंग से अवतरित होती है। 'पशु शिक्षक' और 'बढ़ई की बेटी' दो संग्रह उल्लेखनीय हैं । समता एवं स्वतंत्रता की कामना करती वह स्त्री उसकी जानकारी पुरुष को देती भी है। वह पुरुष से कहती है कि शक्ति सिर्फ शारीरिक नहीं है। 'पशु शिक्षक' शीर्षक कविता में सरकस का पशु स्त्री का प्रतीक है। शिक्षक की चाबुक से वह डरती है। पर इस संत्रस्त रूप के बीच कवयित्री बीच बीच में पशु के जंगलीपन पर भी प्रकाश डालती है। यहाँ भय एवं 'शिक्षा' के माध्यम से स्त्री को काबू में रखता पुरुष है। 'बढ़ई की बेटी' कविता में पुरुष वर्चस्व का निषेध करती बेटी है। गीता हिरण्यन की कवितायें स्त्री-पुरुष संबंध, उसके दमन शोषण, पुरुष का मुखौटा, उसका पश्चाताप इत्यादि को प्रस्तुत करती हैं इन चित्रों के ज़रिए वे स्त्री की स्वतंत्रता, अस्मिता, आकांक्षा संबन्धी नक्शा भी देती हैं। इसके लिए वे अक्सर समकालीन जीवन के साथ मिथकों को जोड़ देती हैं जिससे कविता काल का अतिक्रमण करती है, और भी अर्थवान होती है। 'अर्धनारीश्वर' शीर्षक कविता में माँ और बेटी, दो पीढ़ियों का प्रतिनिधित्व करती हैं। यथार्थ से अवगत होने पर भी माँ सामाजिक-सांस्कृतिक-धार्मिक विधि-निषेध को तोड़ती नहीं। वह विवाह के रिश्ते को, उसकी पवित्रता को मन में सुरक्षित रखती है, पर उसमें स्त्री-पुरुष संबंध की ऊष्मा नहीं है। माँ की इस स्थिति के साथ कविता शुरू होती है- 'माँ का मंगलसूत्र डोरी से बंधा है/ निपट गन्दी डोरी/ आँसू और रसोई को दाग से / बनी है वह।' उस गंदी डोरी के बीच जो मंगल सूत्र है, उसे वह किसी भी स्थिति में सुरक्षित रखना चाहती है। वह इसी मंगलसूत्र को पकड़कर शिव की उपासना करती है, जबकि अपनी बाई जांघ पर पार्वती को बिठाता शिव शिखा पर गंगा को छिपा कर रखता है। माँ, पार्वती माँ भी, जो परम्परा की ओर इशारा करती है, 'सबकुछ देखकर भी अनदेखी रहती, सबकुछ सुनकर भी अनसुनी रहती है। इसलिए बेटी की दृष्टि में यह अर्द्धनारीश्वर नहीं, डेढ़नारीश्वर है। वह निर्णय लेती है कि 'नहीं/ गन्दी डोरी में बंधा दाम्पत्य/ नहीं चाहिए मुझे।' वह बिना डोरी (बंधन) के सखी को चुनती है, कुछ देर बाद उसमें भी पुंस्त्व की बू महसूस करती है। आखिर मंदिर पहुंचती बेटी पार्वती से पूछती है कि क्या अब भी शिव की शिखा पर गंगा है?

'स्वर्गारोहण' शीर्षक कविता राम के स्वर्गारोहण प्रसंग का नया पाठ प्रस्तुत करती है। वह असल में स्वर्गारोहण' नहीं, आत्महत्या है, अपनी गलतियों, कुरीतियों को मानकर। 'इन्टीरियर डेकोरेशन'

सीधे वर्तमान यथार्थ पर प्रहार करती है। प्यार, सुरक्षा इत्यादि के बहाने स्त्री को, उसके अस्तित्व एवं सृजनात्मकता को मिटाकर एक अलंकरण वस्तु में तब्दील करते सामाजिक नैतिकबोध पर प्रहार करती है। स्त्री को घर के भीतर बोणसाई बनाकर अपने सहज विकास एवं असली व्यक्तित्व से वंचित करता है। ''अथाह स्वप्नों की ओर/ ये जड़ें जाल बिछा नहीं रही हैं/ सदाचार की तेज धारवाली छूरी, बीच-बीच में/ उसकी मुख्य जड़ को काट देती है/'' स्त्री के आत्मविश्वास को, आत्मनिर्भर होने की क्षमता एवं स्वप्न को तोड़ दिया जाता है। स्त्री की इस स्थिति को कवयित्री 'सदाचारी वृक्ष' कहती है। इसके पहले पी॰इन्दिरा ने 'बोणसाई' शीर्षक कविता के द्वारा पुरुष के स्वार्थ एवं भौतिक तथा बौद्धिक स्तर पर स्त्री के विकास को तोड़ती रणनीति को हमारे सामने रखा है।

रोसमेरी स्त्री की स्थिति, उसके स्वत्वान्वेषण का प्रयास, उसकी सीमाओं, तथा स्त्री-पुरुष संबन्ध एवं पुरुष की उदण्डता को प्रस्तुत करती हैं। 'मेरी कविता' शीर्षक कविता में वे कहती हैं कि मेरी कविता तीव्र वेदना से उमड़ती है, वह जीवन पर पड़े धक्के से, मन पर पड़े गहरे घाव से निकलती सच्चाई है। 'धातुरिया बालक का नाच' में वे अपने स्त्रीवादी दर्शन को व्यक्त करती हैं। उक्त कविता वस्तुतः उपेक्षितों एवं पीड़ितों की कला का प्रतिनिधित्व करती हैं। प्रस्तुत नाच शास्त्रीय लक्षणों को मानता नहीं, और उसका दर्शक वरेण्यवर्ग नहीं है। यहाँ नेकचन्द साहनी की कला की सही अभिव्यक्ति होती है। अपनी कविता को रोसमेरी इसके समान मानती है। रोसमेरी प्यार, सुरक्षा जैसे विशेष 'ध्यान' को सावधानी के साथ देखती हैं। इसे वे औपचारिक मूर्खता कहकर छोड़ देती हैं। वे शिष्टता से कुढ़ती है। 'सबसे छोटी इच्छायें' में स्त्री स्वतंत्रता और उसको लेकर समाज की असहिष्णुता है। इसमें सहचर एवं सहचरी को एक साथ रखकर सहचर की उग्रता और सहचरी की दैन्यता तथा उसके अरमानों के प्रति सहचर की असहिष्णुता अभिव्यक्त हैं। सहचरी बनना चाहती स्त्री के स्वातंत्र्य एवं वांछित रूप के आगे पुरुष की भौहें 'धनुष की भांति टेढ़ी हो रही हैं' और ओठ नीरस प्रकट करता है। 'जो आत्मा को कहना है' स्त्री स्वत्व की खोज समाज में विद्यमान सभी-स्त्री रूपों में करती रोसमेरी इस निष्कर्ष पर पहुँचती हैं कि स्त्री स्वत्व का रूपायन अब भी अपूर्ण है। 'एक जन्मदिन की टिप्पणी' में अभिजातवर्ग को बेनकाब करती हैं तो 'मुखौटा' पुरुष के मुखौटे को भी। 'अन्तिम घोड़ागाड़ी' में सजग स्त्री के आगे अस्वस्थ पुरुषवर्ग का चित्र है तो 'यक्षराग' में उन्मुक्त प्रेम का। 'यक्षराग' में यौन संबंध पर पर्दा डालनेवाली झूठी मर्यादाओं का विरोध यों अभिव्यक्त हैं।

''धरती की स्त्री और किन्नरों के बीच
किसने यह भारी पत्थर की दीवार बनाई?
यथार्थ और स्वप्न के बीच / क्यों ऐसे भारी कंटीला घेरा खड़ा कर दिया है?''

सावित्री राजीवन निसंग एवं निर्मम दृष्टि से स्त्री को प्रस्तुत करती हैं। काल्पनिकता, रुदन, खीझ और आक्रोश के बिना वे अपनी बातें कहती हैं। 'ढाल', 'प्रतिष्ठा', 'नाम', 'दिवस' आदि कवितायें उनकी रचनाशक्ति का प्रमाण हैं। 'प्रतिष्ठा' किसी पर आरोप लगाये बिना स्त्री की प्रतिष्ठाहीन स्थिति प्रस्तुत करती है। यहाँ स्त्री एक उपकरण मात्र है,जिसमें गर्मी तो है, प्रकाश नहीं, अंधकार है। 'रसोई घर के/ घिसकर मिटते एक औजार हूँ मैं/ साँस लेने के कारण चलती हूँ/ चलने के कारण लेटती भी/पकाई के साथ बातें करती/ जटिलताहीन एक उपकरण।' यहाँ शिकायत नहीं, इलज़ाम नहीं, सिर्फ बयान है,

फिर प्रहार करती है। 'नाम' भी स्वत्वहीन होती स्त्री का चित्र ही है। नाम, दरअसल अस्मिता की मुख्य शर्त है। पर यहाँ स्त्री 'बच्चों के लिए मां, पति के लिए पत्नी, नौकरानी के लिए दीदी, बन मेरा नाम क्लास रूप का डिक्टेशन-सा, अतीत व वर्तमान में, भूल गया एक आवाज मात्र बन गयी है।' आशालता, प्रमीलादेवी, अनिता तंपी, कविता बालकृष्णन आदि भी स्त्री स्वत्व एवं स्वातंत्र्य को लेकर लिख रही हैं। लेकिन इन सबसे अलग तेवर के साथ स्त्री कविता को वी. एम. गिरिजा संपन्न करती हैं। उनकी अधिकांश कवितायें स्त्री पुरुष संबन्ध को लेकर हैं। कभी इसके लिए वे प्रकृति की आड़ लेती हैं तो कभी बिना आड़ के/ मनुष्य का स्वत्व शारीरिक एवं मानसिक दोनों तत्वों का मिलाजुला रूप है। लेकिन स्त्री स्वत्व के सन्दर्भ में स्वत्व शरीर पर टिक जाता है, उससे आगे नहीं। इससे गिरिजा की कवितायें संघर्ष करती हैं। आकुलित स्त्री मन उनकी वस्तु है। इसके लिए गिरिजा पुराने पात्रों, प्रसंगों एवं बिंबों के साथ स्त्री की कामनाओं को, उसके उन्मुक्त यौन संबन्धों को जोड़ देती हैं। 'शूरपणखा' 'दाम्पत्य', 'चित्रा', 'खिड़की', 'बवंडर' आदि उनकी इस दृष्टि से चर्चित कवितायें हैं। प्रकृति के समान स्त्री को उर्वर दिखाकर यौन को उसके सहज एवं अनिवार्य अंग के रूप में वे प्रस्तुत करती हैं। उनके अनुसार स्त्री भी पुरुष के समान उन्मुक्त यौन संबन्ध की अधिकारी है। इसलिए कभी कभी यौन का खुले वर्णन करते समय उनका संयम शायद खो जाता है। कभी कभी वे प्रकृति बिंबों के बहाने इसे अभिव्यक्ति देती हैं, चातुर्य के साथ।

हलका-हरा किसलय/किसलय को हल्की गंध हैं
रुचि है, ठंड है/ किसलय से ओढ़ा वृक्ष है।
खिल उठती कली सी, मेरी देह/ हरेक नस के बदले
हरा जलमार्ग, त्वचा चिकने हरे पत्ते/ देह, हरित समुद्र।

काम, रति क्रीडा, संभोग इत्यादि एक सच्चाई है, उन्हें इतना गोपनीय रखने के पक्ष में गिरिजा नहीं है। उनके अनुसार आधुनिक शहरी सभ्यता में यौन को गोप्य रखने की आदत है, जहाँ पुरुष की यौन पूर्ति होती है। मगर स्त्री वंचित रह जाती है। 'दाम्पत्य' में वे इस ओर संकेत करती हैं-'सोता है तू दूर /नग्न होकर/ बरस जाए/बादल की भांति/आश्वस्त होकर।' इस तरह प्रकृति की उर्वरता के साथ स्त्री-पुरुष संबंध को रखकर यौन संबंध की वर्तमान स्थिति पर वे वार करती हैं।

दलित कविता का विकास मलयालम में नहीं हुआ है, सिर्फ उसका आरंभ ही हुआ है। नवोत्थान काल में एकाध आन्दोलनपरक रचनायें हुई, उसका नैरंतर्य देखने को नहीं मिला। सदी के अन्तिम दशक में कुछ युवाकवि के आविर्भाव हुए हैं जिनमें एम.बी. मनोज, एम.आर. रेणुकुमार, राघवन अत्तोली, सी. अय्यप्पन, एस.जोसफ़ आदि हैं। इसमें आन्दोलन का स्वभाव एवं प्रतिरोध है, साथ ही उस समाज के हांफा और कुदान भी। दलित कवि इतिहास का दोहन नहीं, इतिहास बोध के साथ दलित समाज को आगे ले जाना चाहते हैं, और उसके लिए जाग्रत करते हैं। सतर्कता एक विशेषता है। क्योंकि दलित को आज सिर्फ शोषकों के खिलाफ लड़ना नहीं, उन्हें झूठी सहानुभूति प्रकट करनेवालों के प्रति भी सावधान रहना है। अन्यथा अथाह गर्त में वे उन्हें धकेल देंगे। झूठी सहानुभूति प्रकट करते राजनीतिक दल भी उनका शोषण करते हैं। इसलिए राघवन अत्तोली ऐसे राजनीतिक दल एंव अन्य शोषकों को एक ही दृष्टि से देखते हैं। एम.बी. मनोज की कवितायें ज्ञान, आस्था एवं रुख में दलित रंग ढूँढती हैं। अनुभव से प्राप्त

ज्ञान और स्कूल से प्राप्त ज्ञान में से पहला ही दलित को नसीब हैं। 'बालपाठ' शीर्षक कविता अन्यों की अपेक्षा दलितों को प्राप्त ज्ञान के अन्तर को व्यक्त करती है। स्कूली माहौल उन्हें भय, अकिंचनता, चुप्पी आदि प्रदान करता है। अध्यापन एवं सहपाठियों के प्रत्यक्ष एवं परोक्ष व्यवहार तथा अभावपूर्ण जीवन के कारण उनमें हीनता ग्रंथी जन्म लेती हैं। 'सुअर गीत' दलित जीवन का यथार्थ चित्र है। यहाँ दलित और सुअर दोनों के जीवन की तुलना की गयी है। एस. जोसफ़ की 'मछुआरा', 'काला पत्थर', 'जगह' जैसी कवितायें काव्य शिल्प एवं वस्तु की दृष्टि से परिमार्जित कवितायें हैं। 'काला पत्थर' दर्द एवं यातनाभरे अतीत से शुरू होकर आगे की गति की स्पष्टता एवं दृढ़ता को व्यक्त करती है। अतीत के क्रूर एवं बुरे अनुभव काले पत्थर की भांति अडिग रहते हैं। यह वास्तव में दलित जीवन का प्रतीक भी है जिसे आज बदलना चाहते हैं। 'मुझे इससे आगे बढ़ना/ मुझे, तुझे कुरेदकर जाना है काला पत्थर''। दलित जीवन की त्रासदी को 'जगह' शीर्षक कविता अभिव्यक्त करती है। आधुनिक सभ्यता एवं विकास खेती-बारी का विनाश, प्रकृति का विनाश कर रहे हैं विसंगति यह है कि दलित के आसरे (प्रकृति एवं खेती) को विकास की विजय यात्रा रौंदती है, जिससे दलित और भी बेदखल हो रहा है। इस तरह 'मछुआरा' भी बेदखल एवं बेरोज़गार होते दलित को अभिव्यक्ति देती है। एम.आर. रेणुकुमार दलित जीवन, लालच एवं स्पर्धा की इस दुनिया में और भी पिछड़ जाते दलित जीवन, को व्यक्त करते हैं। वे कहते हैं कि बड़े-बड़े स्वप्न और होड़ की दक्षता दलित में नहीं, जो आज का जीवन है।

बढ़ती आबादी, लालची विकास, प्रकृति का अंधांधुध दोहन एवं उपभोगवाद के कारण केरल प्रदूषित हो गया है, जिससे पारिस्थितिक सजगता अनिवार्य हो गयी है। नदियों के प्रांत केरल में पेयजल की समस्या तक गंभीर हो गई है। केरल की सबसे बड़ी नदी भारतपुषा आज़ादी के साथ ही सूखने लगी थी। नदी पर बांधे गए बांध, कई पुल, पटरियाँ और किनारे के कारखानों के कारण प्रकृति, खेती एवं ग्रामीण जीवन पर पड़ते दुष्परिणाम को लेकर सन् को लेकर सन् 1954 में इडश्शेरी ने 'कुटिट्प्पुरम पुल' लिखी थी। इसके प्रकाशन के आठ साल बाद रैचल कर्सन की कृति 'मौन वसंत' प्रकाशित हुई, जिन्होंने सबसे पहले संसार में पारिस्थितिक आन्दोलन का बीजवपन किया। सन् 1980 में विश्व में सबसे पहले साहित्यकारों के नेतृत्व में 'पारिस्थितिक प्रतिरोध आन्दोलन' की स्थापना केरल में हुई, जिसके पीछे साइलेन्ट वैली (Silent Valley) बिजलीपरियोजना का मुद्दा रहा। इस संस्था की ओर से 1983 में कई कवियों की कविताओं का संकलन 'वनपर्वम्' प्रकाशित हुआ। इसके बाद सुगतकुमारी, ओ.एन.वि.कुरुप्प, के.जी.शंकरपिल्लै आदि की कई रचनायें प्रकाशित हुई। नब्बे के दशक में पारिस्थितिकी को लेकर समाज की बढ़ती उद्विग्नताओं एवं आकुलताओं को, उसके दुष्परिणामों को बिंबों, प्रतीकों के ज़रिए युवापीढ़ी भी अभिव्यक्त करने लगी।

सन् 2002 की कविता चर्चा में भाग लेते युवा कवि रफ़ीक अहमद ने यों कहा कि नवीन कविता मनुष्य की प्रधानता को मानते हुए ही, पूर्णतया मनुष्य केन्द्रित एक रुख का निषेध करती आ रही है। आज पारिस्थितिक कविता का मतलब प्रकृति की उपासना नहीं है। आज राजनीति का अर्थक्षेत्र इतना व्यापक हो गया है कि पेयजल, प्राणवायु तक उसके बाहर नहीं, यह सामयिक चेतना का विस्तार है।... भाषा की मिट्टी रासायनिक हो गई तथा 'कठिनकृषि' ने उसकी सहज एवं नैसर्गिक सिद्धियों को मिटा दिया है तो कविता में जैवकृषि का प्रयोग होने लगा। स्वार्थ मनुष्य प्रकृति और पर (Other) को बाहर करता रहा जिसका परिणाम यह निकला कि आज मनुष्य जीवन तक खतरे में पड़ा है। 'आलमरा'

(दीवार) संग्रह की अधिकांश कवितायें पारिस्थितिकी को लेकर कवि की उद्विग्नताओं आकुलताओं का वहन करती हैं। उसी शीर्षक की कविता में रफ़ीक अहमद मनुष्य की विकास योजनाओं और कभी भी न तृप्त होते लालच को व्यक्त करते हैं। हरे-भरे खेत को बांटती सड़क के चित्र के अन्तर्विरोध को दिखाकर वे मनुष्य मन में आए परिवर्तन की ओर संकेत करते हैं। 'स्वर्णिम खेत के बीचोंबीच की टारिट्ट तिरुत्त' का प्रयोग तारकोल लगाए मनुष्य मन के बदलाव को स्पष्ट करता है। यहाँ तारकोल की 'सड़क' की जगह 'तारकोल लगे परिवर्तन व मरम्मत' का प्रयोग वर्तमान विडंबना को व्यक्त करता है। 'काँलनी', 'नल', 'भाषा', 'गणित', 'आम का मौसम', 'इडश्शेरी पुल' आदि कवितायें पी.पी. रामचन्द्रन की पारिस्थितिक सजगता को प्रकट करती हैं। पचास साल पहले 'कुट्टिप्पुरम पुल' लिखी गई, और बाद में कई रचनायें और आन्दोलन भी। फिर भी केरल की चेतना जागी नहीं, इसकी ओर, संकेत करते हुए रामचन्द्रन ने उक्त कवि के नाम के साथ पुल शब्द को जोड़कर काव्य शीर्षक-इडश्शेरी पुल-बना दिया। 'आम का मौसम' उपभोगवाद की कैद में फंसे मनुष्य के कारण प्रकृति की मिटती उर्वरता एवं जैविकता पर संकेत करती है। एस.जोसफ़, एस. उण्णिकृष्णन, प्रसाद, गिरिजा, कणिमोल आदि की कवितायें भी उल्लेखनीय हैं। प्रसाद अणुविस्फोट, हाईब्रिड कृषि आदि का विरोध अपनी कविताओं द्वारा करते हैं। बोणसाई कविता में बरगद वृक्ष से बोणसाई तक का संकोच और गौतमबुद्ध के ज्ञान से खिलौने में सीमित होते विवेक या सुप्त होती मनुष्य चेतना को व्यक्त करते हैं। इंजिनीयर की नौकरी छोड़कर पर्यावरण संरक्षक बने उण्णिकृष्णन अपने जीवन को 'नीलसर्प' संग्रह की कविताओं द्वारा अभिव्यक्ति देते हैं। कणिमोल की 'मेघा' नर्मदा बचाओ आन्दोलन से लेकर केरल की वर्तमान पारिस्थितिक समस्याओं की ओर की यात्रा है। एस.जोसफ़ की कवितायें मिटते पारिस्थितिक संतुलन और उसके बीच डावांडोल होती दलित ज़िन्दगी पर प्रकाश डालती हैं।

अनवरत

हिंदी में इधर जो विमर्श चल रहे हैं, उनके केंद्रीय मुद्दों पर नये नये पहलुओं से विचार की अनवरतता बनी रहे, इस प्रयोजन से हम यहाँ 'स्त्री प्रश्न' को केंद्र में रखकर भारतीय नवजागरण और हिंदी साहित्य के समूचे परिदृश्य का आकलन करने की कोशिश के रूप में एक लेख प्रकाशित कर रहे हैं।

साथ ही, हिंदी के रचनाकर्म को अपना लोकतांत्रिक स्वरूप बनाये रखने के लिए किस तरह अनवरत सजग रहना है, इसके लिए हमें अपने इतिहास के कुछ पिछले पड़ावों के अनुभवों को भी विस्मृत नहीं करना है। उम्मीद है, इस दृष्टि से आपात्काल के दौर की चुनौतियों से अपनी रचनात्मक सक्रियता को अवगत कराते रहना भी अप्रासंगिक न माना जाएगा।

'छीले जा रहा मेरा यह निजत्व ही कोई'
(आपात्काल : रचनाकर्म और पत्रकारिता)

अमरेन्द्र कुमार शर्मा

यह महज संयोग नहीं है कि भारत जैसे बड़े लोकतांत्रिक देश में लोकतांत्रिक मूल्यों के क्षरण की पहचान, आपातकाल जैसी परिस्थितियों के आने की संभावना मुक्तिबोध को बहुत पहले ही दिखलाई पड़ने लगी थी और जिसे वह अपनी रचनाओं में दर्ज कर रहे थे, दर्ज कर लेना चाहते थे। यह भी महज संयोग नहीं है कि उन्होंने इन परिस्थितियों में साहित्यकारों कलाकारों की क्या भूमिका होगी, उसका पूर्वानुमान लगा लिया था, बल्कि यह एक वास्तविकता थी जो आज़ादी मिलने के तुरंत बाद से कुछ निहित स्वार्थों और सत्ता-सुख के कारण निर्मित हो रही थी। आपात्कालीन व्यवस्था के निर्मित होने की पृष्ठभूमि में आज़ादी के बाद सत्ता के प्रति आस्थावान लोगों की कार्यवाहियों को सूक्ष्मता से देखा जाना चाहिए। वर्तमान सत्ता-संस्थानों के चरित्र को समझने में भी मुक्तिबोध की पंक्तियाँ कई बार और बार-बार बेहद धारदार लगती है। बहरहाल, मुक्तिबोध का आपातकालीन परिस्थितियों को लेकर अनुमान कितना सटीक था यह इन पंक्तियों से पता चलता है-

> ''.....सब चुप साहित्यिक चुप और कविजन निर्वाक्
> चिंतक, शिल्पकार, नर्तक चुप हैं,
> उनके ख्याल से यह सब गप है
> मात्रा किंवदंती।
> रक्तपायी वर्ग से नामिनाल-बद्ध ये सब लोग
> नपुंसक भोग-शिरा-जालों में उलझे,
> प्रश्न की उथली-सी पहचान
> शह से अनजान
> वाक् रुदंती।
> चढ़गया उर पर कहीं कोई निर्दयी
> कहीं आग लग गई,कहीं गोली चल गई।''[1]

और आगे यह भी-

''सब ख़ामोश
मनसबदार
शायर और सूफ़ी
अलगज़ाली, इब्ने सिन्न, अलबरुनी
आलिमो फाज़िल सिपहसालार, सब सरदार हैं खामोश।''[2]

आपातकाल के तमाम घटनाक्रमों में सत्ता की चाकरी करने वालों ने जो माहौल निर्मित किया था, उपर्युक्त पंक्ति को पढ़कर चौंक जाना पड़ता है कि इसकी खबर मुक्तिबोध को आपातकाल के बहुत पहले कैसे लग गयी थीं। 'अंधेरे में' मुक्तिबोध एक बार फिर दर्ज करते हैं-

''....विचित्र प्रोसेशन
गंभीर क्विक मार्च
लगता है उनमें कई प्रतिष्ठित पत्रकार
इसी नगर के।
बड़े-बड़े नाम अरे,कैसे शामिल हो गए इस बैंड दल में...
उनमें कई प्रकांड आलोचक, विचारक, नगमगाते कविगण,
मंत्री भी, उद्योगपति और विद्वान
यहाँ तक कि शहर का हत्यारा कुख्यात
डोमाजी उस्ताद
बनता है बलबन.....।''[3]

मुक्तिबोध सबसे पहले एक दूरदर्शी द्रष्टा हैं और तब जाकर एक गंभीर स्त्रष्टा। राजनीति और पूंजी के गठजोड़ से उभरने वाली विसंगति को मुक्तिबोध ने सबसे सही तौर पर पकड़ा है। आपातकाल में रचनाकर्म को ठीक से खंगालने में मुक्तिबोध की कविता एक सूक्ष्म और धारदार हथियार उपलब्ध करवाती

26जनवरी 1974 को इलाहाबाद में एक लेखक सम्मेलन बुलाया गया। सम्मेलन का आयोजन इलाहाबाद के स्थानीय लेखकों ने आपसी सहयोग के आधार पर किया था। इसे सम्मेलन की विस्तृत रपट 'उतरार्ध-7' में राजकुमार सैनी और 'पहल-2' में डा. कमला प्रसाद पाण्डेय ने दर्ज किया है। आपातकाल लगाए जाने से पूर्व रचनाकार और रचनाकर्म की स्थिति उसके परिवेश में हो रहे बदलाव को इस सम्मेलन ने अपने विमर्श के केन्द्र में रखा था। इस कारण इस सम्मेलन की चर्चा यहाँ आवश्यक है।

इस सम्मेलन के आयोजन में जिनके नाम उल्लेखनीय हैं, वे हैं—श्री भैरवप्रसाद गुप्त, दूधनाथ सिंह, मार्कण्डेय, रघुवंश, लक्ष्मीकांत वर्मा, सतीश जमाली, शेखर जोशी, अमरकान्त, गोपीकृष्ण गोपेश आदि। राजकुमार सैनी ने लिखा कि '....26 जनवरी से लेकर 28 जनवरी तक की रात (नौ बजे) तक बैठकें होती रहीं। मुख्य रूप से गोष्ठियों के विषय थे—'लेखक और आज की वर्तमान स्थिति', 'लेखक और प्रतिष्ठान' और 'लेखक और व्यावसायिक हित'। लेखक सम्मेलन का समापन होने तक एक निष्कर्ष साफ़-साफ़ उभर आया था कि नई और पुरानी पीढ़ी के छोटे या बड़े, प्रतिबद्ध और

अप्रतिबद्ध सभी खेमों के लेखक व्यवस्था का गैर जनतान्त्रिक दबाव महसूस करते हैं और इस बात पर एकमत हैं कि 'लेखन धर्म आज खतरे में है। सभी लेखक इस बात पर सहमत थे कि सभी लेखकों का एक ऐसा संगठन भी बने जो सरकारी और गैर-सरकारी प्रतिष्ठानों की इजारेदारी के खिलाफ लेखकीय हितों की रक्षा के लिए एक जनवादी संघर्ष चलाए।[4] डॉ. कमला प्रसाद की 'पहल-2 में इस सम्मेलन पर भिन्न तरह का मन्तव्य था वे इस रहस्य को तलाश करना चाहते थे जिसके कारण अड़तीस लेखकों के हस्ताक्षर से सभा का आयोजन किया गया था। उन्होंने लिखा-सम्मेलन की चादर में कई छेद शुरु से ही नजर आए। अस्वीकृत रचनाकारों को मंच के बाहर नेतागिरी करते, आशीर्वाद देते देख काफी लोग कुनमुनाने लगे थे। इलाहाबाद में कदम रखते ही श्रीकान्त वर्मा के नेतृत्व में प्रकाशित वक्तव्य कि 'यह सम्मेलन उत्तर प्रदेश के चुनावों के समय किया गया है— अतः यह एक राजनीतिक षड़यन्त्र है-लोगों को पढ़ने को मिला।''[5] श्रीकांत वर्मा कांग्रेस पार्टी के पक्षधर थे और आपातकाल के समर्थक भी माने गए थे। डॉ0 सत्यप्रकाश मिश्र ने लेखक से बातचीत करते हुए बताया भी था कि श्रीकान्त वर्मा को इलाहाबाद इस सम्मेलन को विफल करने के लिए भेजा गया था, और श्रीकान्त वर्मा ने इसकी कोशिश भी की थी। बहरहाल, रपट में यह दर्ज है कि उद्घाटन के समय मंच पर रामजी द्विवेदी, महादेवी वर्मा, सुमित्रानन्दन पंत, भगवती चरण वर्मा और यशपाल थे। इस सम्मेलन में यशपाल ने एक ज़रूरी बात कही थी, हमेशा दो तरह के लेखक रहे हैं—एक जिनका स्थान हाथी की पीठ पर (व्यवस्था के पक्ष में) होता है और दूसरे जिनका स्थान हाथी के पांव के नीचे (व्यवस्था के विरोध में) होता है। उनका इशारा साफ़ था कि व्यावसायिक हित का मसला विचारधारा से काटकर हल नहीं किया जा सकता। हाथी के पांव के नीचे रहने वाला लेखक जब अपनी रचना का संसार उतारता है, तब दूसरी विचारधारा के लिए वह अपने आप दबाव बनता है। सम्मेलन की प्रथम गोष्ठी लेखक और आज की स्थिति पर हुई जिसकी अध्यक्षता हरिशंकर परसाई, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना और चन्द्रभूषण तिवारी कर रहे थे। 'लेखक और प्रतिष्ठान' विषय पर परमानंद श्रीवास्तव, विजयदेव नारायण साही और गिरिराजकिशोर ने अध्यक्षता की, इसमें दूधनाथ सिंह ने लंबा पर्चा पढ़ा जो काफ़ी विमर्शकारी माना गया। तीसरी गोष्ठी मार्कण्डेय और कुमार विकल की अध्यक्षता में 'लेखक और व्यावसायिक हित' विषय पर सम्पन्न हुआ।

इस लेखक सम्मेलन में आखिर में एक प्रस्ताव पारित किया जिस पर गौर किया जाना आवश्यक है कि ठीक आपातकाल से पूर्व रचनाकार की मंशा और उनकी रचनाधर्मिता की कठिनाई किस प्रकार की रही थी। हम संक्षेप में उसका यहाँ उल्लेख करेंगे। ''हिन्दी के लेखकों का यह इलाहाबाद लेखक सम्मेलन वर्तमान परिस्थितियों के विश्लेषण द्वारा इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि पिछले 25 वर्षों के दौरान हमारे देश के शासक वर्ग ने ऐसी स्थितियाँ पैदा कर दी है जिससे न केवल लेखकों के आर्थिक हितों की सुरक्षा और उनकी रचनात्मक स्वाधीनता संकटग्रस्त हुई है, बल्कि समग्र लेखन-यहाँ तक कि सृजनशीलता के अस्तित्व को ही खतरा पैदा हो गया है। वर्तमान शासन व्यवस्था ने हमारे आर्थिक और राजनीतिक जीवन के साथ हमारे समस्त सांस्कृतिक जीवन को कुंठित और विकृत करते हुए सृजनशील लेखन को भी अन्य वस्तुओं की तरह पण्यवस्तु बना दिया है। पिछले कुछ वर्षों में बढ़ते हुए आर्थिक राजनीतिक और सांस्कृतिक संकट के इस दबाव का अनुभव इस सम्मेलन में उपस्थित सभी लेखक करते हैं और उन्हें इस बात की गहरी चिन्ता है कि भारत में जनतांत्रिक प्रवृत्तियाँ बड़ी तेजी से समाप्त की जा रही है।.... इन स्थितियों में हिन्दी लेखकों का यह सम्मेलन देश के सभी लेखकों का आह्वान करता है-

1. अपने लेखन के लिए यदि किसी भी लेखक को शासन द्वारा किसी भी रूप में प्रताड़ित आतंकित अथवा दंडित किया जाता है या उसे उसकी आजीविका से अलग किया जाता है तो लेखक सामूहिक रूप से शासन की ऐसी पुलिस तथा अन्य कार्यवाहियों के विरुद्ध संघर्ष करेंगे। इस संदर्भ में सभी लेखक यह मांग करते हैं कि ऐसी कार्यवाहियों के अंतर्गत शासन द्वारा जो भी लेखक अपनी आजीविका से अलग किए गए हैं उन्हें बिना किसी भी शर्त उनकी आजीविका तुरंत वापस की जाए और जो लेखक गिरफ्तार किए गए हैं उन्हें बिना किसी शर्त तुरंत रिहा किया जाए।

2. राजकीय सांस्कृतिक प्रतिष्ठानों को जनता के सांस्कृतिक तथा राष्ट्रीय उन्नयन तथा विकास के लिए जनतांत्रिक बनाया जाए। ऐसे प्रतिष्ठानों को नौकरशाहों की व्यवस्था से निकाल कर इन प्रतिष्ठानों को स्वायत प्रतिष्ठानों के रूप में लेखकों और कलाकारों द्वारा ही गठित एवं संचालित किया जाए। इनका सम्पूर्ण कार्य विवरण प्रति वर्ष जनता और सभी लेखकों और कलाकारों के सम्मुख प्रस्तुत किया जाए।

3. सभी अर्द्ध सरकारी, गैर सरकारी साहित्यिक तथा सांस्कृतिक प्रतिष्ठान जो साहित्य, संस्कृति और कला का व्यापार करते हैं और जिनका संचालन असाहित्यिक अवांछित व्यक्ति कर रहे हैं, उनका जनवादीकरण किया जाए तथा उनमें प्रभावकारी ढंग से लेखकों का प्रतिनिधित्व बढ़ाया जाए।

4. विश्वविद्यालयों के साहित्य-विभागों के पाठ्यक्रम निर्माण में लेखकों का सहयोग अनिवार्य रूप से लिया जाए। साहित्य के अध्ययन-अध्यापन को जीवन्त बनाने के लिए प्राध्यापकों, लेखकों और छात्रों के बीच अन्तरसम्बन्ध स्थापित किया जाए।

5. शैक्षिक, सांस्कृतिक, प्रशासनिक एवं जनसंपर्क के सभी कार्यों के लिए विदेशी भाषा अंग्रेजी को हटाकर सम्पूर्ण रूप से भारतीय भाषाओं का उपयोग तुरंत किया जाए।

6. संसद लेखकों के इस सम्मेलन द्वारा पारित प्रस्ताव के अनुसार कॉपीराइट कानून में अविलंब परिवर्तन करें।[6]

इस सम्मेलन में जिस प्रकार की चिन्ताएँ ज़ाहिर की गई थीं, सत्ता प्रतिष्ठानों से जिस प्रकार के खतरे की बात उठाई गई थी, 26 जून 1975 के बाद और भी क्रूर तरीके से रचनाकारों, बुद्धिजीवियों पर सत्ता प्रतिष्ठान ने पाबंदी लगायी और परेशानी पैदा की। कहना न होगा, आपातकाल के दौरान सांस्कृतिक जीवन शैली और सृजनशील लेखन दोनों पर ग्रहण लग गया था। सत्ता-तंत्र और उसके द्वारा पोषित पूँजी दोनों के गठबंधन ने आपातकाल की तमाम रचनाधर्मिता को बाधित किया। चाहे वह लाभ-लोभ के बल पर, चाहे भय-आतंक के बल पर हो, लेखक की रचनाशीलता को हरहाल में सत्ता-प्रतिष्ठान ने झुकने, समझौता करने को बाध्य किया। इसी लाभ-लोभ, भय-आतंक को प्रसिद्ध आलोचक मैनेजर

पाण्डेय मुक्तिबोध की कविता 'अंधेरे में' का संदर्भ लेते हुए 'लेखक और लोकतंत्र' शीर्षक के तहत विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। वे बताते हैं - मुक्तिबोध की एक कविता में वर्तमान भारतीय समाज-व्यवस्था और शोषक-सत्ता के भयानक सम्भावित स्वरूप का चित्रण-दुस्वप्न के रूप में किया गया है। आपातकाल के पहले वर्तमान शोषक सत्ता के दमनकारी रूप का यह चित्र कुछ लोगों को केवल सपना प्रतीत होता था, लेकिन आपातकाल के दौरान जब यह क्रूर वास्तविकता बनकर सामने आया तो बहुतों को इसकी सच्चाई का बोध हुआ। 'अंधेरे में' कविता में वर्तमान व्यवस्था के सम्भावित रूप का जो चित्र है, उससे यह सिद्ध होता है कि वर्तमान के यथार्थ की गहरी पहचान से ही भविष्य के स्वरूप का और इतिहास की दिशा का स्पष्ट बोध होता है।

आपातकाल के दौरान कुछ बुद्धिजीवी किराए के विचारों का प्रचार कर रहे थे तो कुछ हतप्रभ होकर मौन की साधना कर रहे थे। कुछ अधर्मी बुद्धिजीवी अपने खोखल में सिमटकर अपने को सुरक्षित समझते हुए तूफ़ान के गुज़र जाने का इन्तजार कर रहे थे। जो लोग आपातकाल के पहले रोज़-रोज़ कहा करते थे कि 'अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाने ही होंगे', उनमें तो कुछ तो विरोध की अभिव्यक्ति से कतराते हुए खतरे से बचने की कोशिश करते रहे और कुछ दूसरे इस खतरे को ही वरदान समझकर उसकी अभिव्यक्ति करते रहे। इस दौर में कुछ लोग अभिव्यक्ति के खतरे उठाने की 'रोमैंटिसिज्म' समझ रहे थे और चुप्पी को चालाकी, अब वही लोग अपनी शहादत की वीरगाथा सुनाते दिखाई पड़ते हैं।[7] जाहिर तौर पर ऐसे लेखकों की एक बड़ी फ़ौज थी जो कई मौकों पर दल और गिरोह बनाकर इंदिरा जी से मिलते थे और कुछ मिल जाने के लाभ-लोभ से मीटिंग किया करते थे। इलाहाबाद लेखक सम्मेलन की चिन्ता कि 'साहित्यिक तथा सांस्कृतिक प्रतिष्ठानों पर असाहित्यिक अवांक्षित लोगों का जो कब्जा है उसे समाप्त कर उसका जनवादीकरण किया जाए।' आपातकाल के दौरान कई लेखक समुदाय इस पर कब्जा प्राप्त करने के लिए व्यक्तिगत तौर पर और सामूहिक रूप से इंदिरा जी से मिलने लगे थे। बिशन टंडन ने जो उन दिनों प्रधानमंत्री कार्यालय में इंदिरा जी के निकट थे, बातचीत में लेखक को ऐसी ही कई मीटिंगों के बारे में बताया है और अपने अनुभवों को 'आपातकाल : एक डायरी' में दर्ज भी किया है। ऐसे में, हिन्दी लेखकों के प्रति जो विश्वास का माहौल होना चाहिए था, कुछ समझौतापरस्त लेखकों के कारण समाप्त हो रहा था। लेकिन ऐसा भी नहीं था, कि आपातकाल का प्रतिरोध नहीं किया जा रहा हो। मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं।... 'ऐसे समय में भी शोषक सत्ता के दमनकारी रूप का विरोध वे ही कर रहे थे जो आपातकाल के पहले भी वर्तमान व्यवस्था के असली स्वरूप को पहचानते थे और शोषित जनता से मुक्ति-संघर्ष से सक्रिय सहानुभूति रखते थे। ऐसे लेखकों के लिए आपातकाल के अन्त के साथ संघर्ष का अन्त नहीं हो गया, बल्कि वह तब तक चलता रहेगा जब तक जनता का मुक्ति संघर्ष चलेगा। आपातकाल के पहले व्यवस्था विरोध की रचनाओं की बाढ़ दिखाई देती थी, व्यवस्था की असली भयानकता के उपस्थित होते ही ऐसी रचनाओं का स्रोत सूख गया, क्योंकि उन रचनाओं की कल्पना वास्तविकता से टकराकर टूट गई।'"[8] ऐसे ही शोषक सत्ता के दमनकारी रूप का विरोध करते ही निर्मल वर्मा ने जुलाई 1976 के 'सेमिनार' में एक लेख लिखा। इस लेख का सत्ता पर असर ऐसा हुआ कि उसने तत्काल 'सेमिनार' के प्रकाशन पर रोक लगा दी। बहुत बाद में ही यह पत्रिका दुबारा प्रकाशित हुई। इस पत्रिका में निर्मल वर्मा ने 'फ़ॉर एन अल्टरनेटिव विज़न' नाम से लेख लिखा, जो बाद में हिन्दी में अनुवाद होकर 'अहिंसा और आज़ादी : आदमी के स्वयं आदमी होने की शर्त (आपातकाल की छाया में) शीर्षक से

प्रकाशित हुआ। इस लेख में उन्होंने भारत के स्वरूप की चर्चा करते हुए सत्ता तंत्र की आलोचना की। उन्होंने कहा-''आपातकाल लगाए जाने से पहले तक भारत दुनिया का अनोखा देश हुआ करता था। जो एक ही समय में ग़रीबी के भार से झुका भी था, और लोकतांत्रिक की चेतना से चमकता भी था और एक के बदले दूसरे का सौदा करने को कतई अप्रस्तुत।''[9] इस चेतना को निर्मल वर्मा परम्परागत विकास के रूप में देखते हुए आगे कहते हैं—''राजा राममोहन राय से गांधी तक राजनीतिक परिवर्तन की सम्पूर्ण कल्पना में क्रांतिकारी बदलाव आया, जो गहराई से ऐसी संस्कृति से अनुप्राणित थे। राजनीतिक एक कलाकृति की तरह सम्पूर्ण अनुभव में सन्निहित थी।...आज़ादी के बाद यही प्रक्रिया निष्फल कर दी गई, शायद वर्तमान इतिहास की सबसे बड़ी त्रासदी है, जिसकी तुलना मात्र चेकोस्लोवाकिया की घटनाओं से की जा सकती है।''[10] यह आलेख आगे चलकर अपने तेवर को और पैना करते हुए कहता है जिसके कारण, शायद इस पर प्रतिबंध लगाना सरकार ने आवश्यक समझा हो।''.... प्रेस और अभिव्यक्ति की आजादी की घोषणा के बाद... 'बुद्धिजीवियों ने शब्दों की आजादी छीने जाने की सही तकलीफ़ महसूस नहीं की सिर्फ़ इसलिए क्योंकि यह वर्ग स्वयं शब्द को स्वयं उसके नैतिक अर्थ से वंचित करने के लिए पूरी तौर पर ज़िम्मेदार रहा है।''[11] लेखक निर्मल वर्मा की यह टिप्पणी असल में तत्कालीन समय के उन लेखकों और बुद्धिजीवियों की मंशा पर टिप्पणी है, जब वैसे लेखक आपातकाल की मंशा का समर्थन कर रहे थे, और अपने विचारधारा को सैद्धांतिकी का आधार देते हुए आपातकाल के दौरान प्रेस पर प्रतिबंध को जायज़ ठहरा रहे थे। इसी आशय का विस्तार करते हुए निर्मल वर्मा ने जब यह कहा कि 'बुद्धिजीवियों ने शब्दों की आजादी छीने जाने की सही तकलीफ महसूस नहीं की' तब वे यह ध्यान दिलाना चाहते थे कि एक बड़ा बुद्धिजीवी तबका इस तरह की तकलीफ को दूसरे आशयों में विन्यस्त करना चाहेगा। निर्मल वर्मा ने कहा कि ''लेकिन इससे यह नतीजा निकालना जैसा कि हमारे वर्तमान (अब तत्कालीन) शासक और कुछ मार्क्सवादी निकालेंगे, कि अभिव्यक्ति की आजादी, प्रेस की स्वतंत्रता और सूचना के तमाम साधनों तक आम नागरिकों की पहुँच का अधिकार महज बूर्जुआ खामख्याली है, जिसे कुछ कल्पित प्रगति के लिए ताक पर उठाकर रखा जा सकता है। यह एक दूसरी तरह की आत्मभ्रांति का शिकार होना है। क्रांतिकारी सुधारों की तमाम वे योजनाएँ दमन का ज़रिया हो सकती है, अगर उनको जाँचने और उन पर अपने अनुभव के प्रकाश में आलोचना करने का अधिकार उन्हीं लोगों से ले लिया जाए जिनके विकास के लिए बनाया गया है।''[12] सत्ता के वे तमाम क्रांतिकारी सुधारों की योजनाएँ तब तक दमनकारी मानी जाएंगी जब तक कि आम जनता को उन योजनाओं के बारे में अपनी बात कहने से रोका जाएगा। विकास का अपना एक समाजशास्त्र होता है जो सीधे तौर पर जनता से संपृक्त होता है न कि सत्ता तंत्र से।'' ...यदि सुधार जनता के लिए है, तो जनता को उसके बारे में अपने अनुभव सरकार तक पहुँचने का स्वतंत्र जरिया मिलना चाहिए। वे नीतियाँ जो जनता का भविष्य निर्धारित करती हैं, नैतिक और वैध रूप में ऐसी स्थिति में नहीं लागू की जा सकती जिसमें जनता उनके बारे में खुलकर बहस करने को आज़ाद न हो।''[13] निर्मल वर्मा के उपर्युक्त तमाम उद्धरण लोकतांत्रिक मूल्यों के भीतर अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को लेकर आपातकाल के दौरान राष्ट्रव्यापी खुली बहस की अनिवार्यता को लेकर लिखी गई थी। इंदिरा सरकार ने इस लेख को तो प्रतिबंधित किया ही, कई महीनों तक (अगस्त 1976 से जून 1977) 'सेमिनार' पत्रिका को भी प्रतिबंधित कर दिया। ज़ाहिर है, सत्ता तंत्र की घबराहट इस कदर बढ़गयी थीं कि वह ऐसे किसी भी लोकतांत्रिक बहस को सामने लाने देना नहीं चाहती थी

जिससे उसे खतरा हो।

आपातकाल के दौरान जब रचनाकर्म को प्रतिबंधित किया जा रहा था और पत्रकारों की कलम खामोश की जा रही थी, तब बड़े पैमाने पर यह कोशिश की जा रही थी, कि रचनाकार और पत्रकार अपनी बात गुप्त तरीके से निकाले जा रहे पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से कह सकें। साहित्यकारों की तुलना में पत्रकारों के सामने यह संकट ज्यादा था ज्योंकि साहित्यकार सीधे-सीधे सत्ता विरोधी वक्तव्य जारी नहीं करता लेकिन पत्रकारों के सामने यह चुनौती रहती है, कि वह सत्ताविरोधी वक्तव्य जारी करे अन्यथा खामोश रहे। प्रसिद्ध कवि, आलोचक कुंवर नारायण ने अपने लेख 'डायग्नीज की धूप : साहित्य और राजनीति' में पत्रकार और साहित्यकार के बीच के भेद को बतलाया है, ''आपातकाल के दौरान दो खास बातें सामने आयी। एक तो उस समय शायद विशुद्ध साहित्यकार की स्थिति उतनी नाजुक नहीं रही जितनी उन साहित्यकारों की जो राजनीतिक लेखन कर रहे थे, या जो पत्रकार भी थे और पत्रकार की हैसियत से बोलते रहने के लिए बाध्य किए जा सके या अपने राजनीतिक विचारों के कारण चुप किए जा सके। पत्रकार की हैसियत से उन्होंने जो कुछ कहा-या जो कुछ कहने के लिए उन्हें मजबूर होना पड़ा-वही कुछ वे साहित्यकार की हैसियत से कहने के लिए बाध्य नहीं थे। साहित्य की चुप्पी राजनीति के खिलाफ़ एक राय भी थी और विरोध भी, लेकिन समाचार माध्यमों पर राजनीतिक और व्यावसायिक आतंक का दबाव इस प्रकार की चुप्पी को असंभव बनाता था। पत्रकार की भाषा साहित्य की अपेक्षा राजनीति की भाषा के अधिक निकट थी और इसलिए अधिक अरक्षित भी।

यों भी एक साहित्यकार की चुप्पी और पत्रकार की चुप्पी में बुनियादी फर्क है। साहित्यकार की चुप्पी उस भाषा की चुप्पी है जिस पर राजनीति का कोई सीधा दबाव नहीं होता, यानी साहित्य भाषा की चुप्पी का मतलब है एक ऐसे वर्ग का खामोश विरोध जो राजनीतिक नहीं साहित्य द्वारा मनुष्य का प्रतिनिधि है, क्योंकि इस वर्ग के बोलते रहने के मतलब थे अपने समय के मनुष्यों की अंतरग भावनाओं, विचारों, समझ और सुख-दुख को जीवन के व्यापक संदर्भ में शब्द देना... एक अच्छा साहित्यकार अपने समय की राजनीति से अलग रहकर भी ऐसा साहित्य रच सकता है जो उस समय का मूल्यवान दस्तावेज हो। एक सोल्ज्हेनित्सीन या पास्तरनाक की पहचान उनका सशक्त साहित्य है उनकी राजनीति के बावजूद।।''[14]

यह सच है कि एक साहित्यकार और पत्रकार की भाषा में फ़र्क होता है, लेकिन भाषा का फ़र्क क्या उसके सरोकारों को भी अलग करता है। इन दोनों का सरोकार क्या है? असल में एक लोकतांत्रिक देश में जब लोकतांत्रिक मूल्यों का क्षरण का कारण सत्ता-तंत्र की तानाशाही व्यवस्था हो, तब आवश्यक रूप से साहित्यकार, पत्रकार और अन्य कला माध्यमों का सरोकार तानाशाह के विरोध में लोकतांत्रिक मूल्यों की सुरक्षा का होता है। अभिव्यक्ति के रूपों में अंतर होने के बावजूद उनका वक्तव्य राजनीतिक हो ही जाता है। इसलिए कोई भी रचना अपने समय की राजनीति से अलग नहीं रह सकता है, अलग नहीं रहना चाहिए क्योंकि साहित्य के लिए राजनीति गर्हित नहीं है। आपातकाल में साहित्यकारों के लिए सत्ता-तंत्र के बरक्स अपना मंतव्य जाहिर करना आवश्यक था। बावजूद इसके कुंवर नारायण की यह बात ज़रूर गौर करने लायक है जो इसी लेख में वे आगे कहते है।'',... आपातकाल के दौरान भी यह स्थिति भी आंख खोल देने वाली थी, शासकों के लिए खासतौर पर कि प्रचार और प्रसार माध्यमों का

पूरा-पूरा कब्जा करके राजनीति में दूसरी संस्कृतियों से संवाद का हर रास्ता अपने लिए भी बंद कर लिया जिसका घातक नतीजा देश से अधिक शासकों को भुगतान पड़ा। उन्होंने अपने बोलने के खिलाफ़ स्वयं ही न बोल सकने वालों का एक सशक्त बहुमत तैयार कर लिया और उसके शिकार हो गए। बोलने की आजादी का अपहरण एकतरफा राजनीतिक कार्यवाही नहीं होती। वह मौन के विपक्ष का अनिवार्य संगठन भी होता है। एक देश के सांस्कृतिक प्रभाव क्षेत्र जितने ही सशक्त, विकसित और मुखर होंगे उनका सम्मिलित मौन भी उतना ही शक्तिशाली और पुरअसर होगा।

जिस समय क्राइस्ट रोमन राजनीति के खिलाफ़ या गांधी ब्रिटिश राजनीति के खिलाफ़ लड़ाई ठानते हैं तो वे राजनीति के बाहर ऐसे दबाव-बिंदुओं को स्थापित करते हैं जो मूलतः राजनीतिक नहीं नैतिक हैं। वे राजनीति से राजनीति की शर्तों पर नहीं लड़ते बल्कि उसके खिलाफ गैर-राजनीतिक मोर्चा स्थापित करते हैं जिसकी शक्ति मूलतः उसके राजनीतिक न होकर नैतिक होने में हैं। एक स्वस्थ समाज में यह जरूरी है कि इस तरह के सांस्कृतिक प्रभाव क्षेत्र या दबाव-बिंदु विकसित हों और दृढ़किए जायें-और मैं साहित्य को भी ऐसी ही एक शक्ति मानता हूँ जिसका मूल दबाव-बिंदु राजनीति के बाहर हो। उसकी स्थिति ऐसी हो कि वह राजनीतिक संस्कृति को समृद्ध भी करे और जरूरत पड़ने पर उस पर नैतिक दबाव भी डाल सके।''[15]

यह कहना होगा कि आपातकाल के दौरान कोई भी बड़ा साहित्यकार, किसी भी तरह से कोई नैतिक दबाव-बिंदु सत्ता-तंत्र के खिलाफ निर्मित नहीं कर रहा था, या तो वह खामोश था या सत्ता के समर्थन में था। विरोध में लिखने वाले साहित्यकार गिने चुने थे और वे जो लिखते भी थे तो संपादक उसे अपनी पत्रिका में या अखबार में छापने से हिचकिचाते थे। इस तरह के साहित्यकारों पर 'पहल-तीन' के संपादकीय में एक सख्त टिप्पणी है जिसे यहाँ यथारूप में दिया जाना उचित होगा,''... साहित्य की दुनिया में भी पूँजीवादी समाज की रक्षा करने वाले लोग जम्हाई ले रहे हैं। वे कौन हैं? अजमेर से 'अस्ति' निकालने वाले लोग, प्रतिक्रियावादियों के बहादुर धर्मवीर भारती, 'त्रयी' की भूमिका को जन्म देने वाले जगदीश गुप्त, नए का प्रतीक मुख पहना हुआ बूढ़ा और संदिग्ध बैताल और देश में बुद्धिजीवियों के अन्दर साम्यवादी षड़यन्त्र को सूंघ लेने वाले नरेश मेहता उन बधिर लोगों में हैं जिन्हें भयावह समाचार अभी भी सुनाई नहीं पड़े हैं। ये लोग साहित्य और कला की अजीबो-गरीब आकांक्षाओं के मारे हुए दुखी लोग हैं, ये वे लोग हैं जो कल सत्ता को बतायेंगे कि लेखक बुद्धिजीवियों, कलाकारों की जमात में किसको गोली से उड़ाना है। ये वे लोग हैं जो हमें खबरदार रखेंगे। दूसरी तरफ साहित्य की जमात में शामिल उन लोगों को भी ढूंढ़कर अलग करना होगा जो अमृतलाल नागर के शब्दों में वामपंथी हथियारों से दक्षिणपंथियों की लड़ाई लड़ रहे हैं।''[16]

वास्तव में 'धर्मयुग' और 'दिनमान' जैसी प्रतिष्ठित पत्रिका से आपातकाल के दौरान यह आशा की जाती थी, कि वह अपना विरोध दर्ज करेंगे और आमजन में प्रतिरोध का मानस निर्मित करेंगे। बहुत दुःखद है कि इन दोनों पत्रिकाओं ने प्रतिरोध की कोई संस्कृति विकसित नहीं कर पाए। आपातकाल से ठीक पूर्व धर्मवीर भारती की कविता 'मुनादी' ज़रूर इस बात का संकेत करती है कि देश में धीरे-धीरे एक ऐसे परिवेश का निर्माण हो रहा है, जहाँ सच बोलना अपराध माना जा सकता है। जे.पी. पर जब लाठी पड़ी तब यह कविता, धर्मवीर भारती ने 9 नवम्बर की रात 10 बजे लिखी—

''खलक खुदा, मुलुक बाश्शा का

हुकुम शहर कोतवाल का
हर खासो-आम को आगाह किया जाता है
कि खबरदार रहें
और अपने-अपने किवाड़ों को अन्दर से
कुंडी चढ़ाकर बन्द कर ले
गिरा ले खिड़कियों के परदे
और बच्चों को बाहर सड़क पर न भेजें
क्योंकि
एक बहत्तर बरस का बूढ़ा आदमी
अपनी काँपती कमज़ोर आवाज़ में
सड़कों पर सच बोलता हुआ निकल पड़ा है।
...और जिसका बच्चा परसों मारा गया
वह औरत आँचल परचम की तरह लहराती हुई
सड़क पर निकल आयी है...''[17]

धर्मवीर भारती की इस कविता का तेवर यह उम्मीद जगाती थी कि आपातकाल के दौरान, ऐसी ही रचनाओं द्वारा वह जनता के बीच मौजूद होंगे, पर वे नहीं थे। इस कविता पर राजेन्द्र मिश्र की टिप्पणी है ''आपातकाल की सही तस्वीर, जे.पी. जिसके बीच खड़े थे लोकतंत्र की मशाल लेकर, कविता का संदर्भ पटना की रैली-यह कहीं की भी रैली हो सकती है। लोगों का सैलाब, लाठियाँ और खामोशी-गुस्से के बीच फूटी कविता। कविता की यात्रा जनता के बीच से हालतों का सच्चा दस्तावेज़ मार खाते लोगों की दास्ताँ, अस्मत लुटती औरतों की कड़वी सच्चाई, भूख से दबते लोग, जीप के नीचे आते लोग... लोकतंत्र के सपने का अंत... कविता आपातकाल का इतिहास है, पर मुनादी सदा वर्तमान है, हर तरह के शोषण और असमानता के खिलाफ़ है।''[18]

असल में आपातकाल के दौरान और उसके बाद भी, आपातकाल लगाए जाने के इंदिरा के फैसले और कार्यवाहियों पर एवं जयप्रकाश के आन्दोलनों और उन पर की गयी कार्यवाहियों पर पक्ष और विपक्ष में साहित्यकार एवं पत्रकारों की कविताएँ, टिप्पणियाँ लिखी गयीं है, लेकिन जैसा कि पूर्व में कहा, जिस तरह की उम्मीद साहित्यकारों और पत्रकारों से की जाती थी, वैसा नहीं था। स्वयं धर्मवीर भारती ने अपनी कविता 'मुनादी' के बाद प्रतिरोध के तमाम तेवर खो दिए थे।

'आपातकाल' शीर्षक से ही कई कविताएँ लिखी गयीं हैं। जिनमें कुछ प्रमुख कविताओं का उल्लेख ज़रूरी है-

उत्तरार्ध-15 में 'आपातकाल' नाम से कविता है। जिनके रचनाकार का नाम पता नहीं चल सका इस प्रकार है-

''चुप, चुप, चुप

कुछ मत कर
मत कुछ बोल...
...अंधियारे की नई मुनादी
पत्थर बनने की आज़ादी
फिर से नया विहान हुआ है
सरकारी एलान हुआ है
एक रास्ता, एक जतन
एक वतन है, एक रतन
टेढ़ा-मेढ़ा कुछ न चलेगा
सीधा कर लो चाल चलन
शासन, अनुशासन, उत्पादन
ही करेंगे राष्ट्र-पतन.....।[19]

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की 'आपातकाल' कविता—

''चासनाला की मौतों पर मत रोओ
पूरा देश ही चासनाला हो गया है
हम सब एक काली अंधेरी खान में बन्द हो गए हैं
पानी भरता जा रहा है
निकलने का रास्ता नहीं दिखता
यही खैर है कि अभी पानी
नाक तक नहीं है
बोल नहीं सकते
पर गरदन टेढ़ी कर सांस ले सकते हैं
और आंखे फाड़कर देख सकते हैं कि
अंधेरा/असहायता/अपमान
सबका एक-सा रंग होता है-
काला....।[20]

भवानी प्रसाद मिश्र का 'आपातकाल' कविता—

''चीज़ों को नाम तो देने पड़ते हैं
बिना नाम दिए। सृष्टि का रूप नहीं बनता....
...जुड़ पाता है आदमी
अभी शासन से और विद्रोह से
अभी राग से या फिर द्वेष से
आरोह से अवरोह से

अखंड काल
आपातकाल में बदल जाता है
विराट हो जाता है कोई
मायावी पल
समूचे युग को निगल जाता है।''[21] (27 जून 1975)

'आपातकाल' शीर्षक के अलावा, आपातकाल के संदर्भ में जो कविताएँ लिखी गयीं, ज़्यादा अर्थपूर्ण दिखलाई पड़ती हैं। वे एक ही साथ व्यवस्था, विद्रोह व्यंग्य, आन्दोलन, जुल्म, अपमान आदि संदर्भों को पकड़ती है। यहाँ भवानी प्रसाद मिश्र की दो और कविताओं का जिक्र हम विशेष तौर पर करेंगे। भवानी भाई आपातकाल के समय त्रिकाल संध्या किया करते थे। उन्होंने सुबह, दोपहर और शाम को एक-एक कविता लिखने का प्रण किया था 'किस्सा त्रिकाल संध्या का' शीर्षक से उन्होंने लिखा ''25 जून 1975 से लगभग अठारह महीनों की अवधि देश के इतिहास में 'न भूतो' तो थी ही, 'न भविष्यति' भी रहेगी। इस अवधि का इतिहास कितनी तरह से सारे संसार से संचित संकीर्ण और विकीर्ण किया जाएगा, कौन जानता है।.... जैसे ही खबर लगी कि इंदिराजी ने आपातकाल की घोषणा करके उन सारे रास्तों को बंद कर दिया है जो प्रजा के सामने किसी भी छोटी-बड़ी अनुचित कार्यवाही के प्रति अपनी असहमति प्रकट करने के लिए मुहैया रहनी चाहिए, वैसे ही दो बरस से उठ रही आकांक्षाओं का रूप एक प्रकार के संकल्प में बदल गया कि जो घटा है-मैं कैसे पोंछने से अपने को जोड़ूँ? बेशक लिखने से।... तो 26 जून से सुबह, दोपहर और शाम रोज एक कविता लिखना शुरू कर दिया और लिखना शुरू करने के पहले ऊपर पन्ने पर लिखा : त्रिकाल-संध्या।।''[22]

भवानी भाई ने 'चार कौए उर्फ चार हौए' नामक कविता का ज़िक्र करते हुए कहा है कि ''इस कविता ने मेरे ऊपर वैसा कुछ उपकार किया है, जैसे 'गीत फ़रोश' कविता ने किया था। मेरी दूसरी आपातकालीन कविताओं के प्रति इसने उत्सुकता जगा दी है।[23] उन्होंने कहा कि ''इनमें जो चार कौए उर्फ चार हौए हैं, उनमें तब मैंने प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति, कांग्रेस अध्यक्ष और श्री संजय को गिना था-अब वे राष्ट्रपति नहीं रहे, इसलिए उनका नाम छोड़कर जब कहीं सुनाता हूँ तो इंदिराजी, देवकांत बरूआ, बंसीलाल और संजय गांधी ये चार नाम गिना देता हूँ।''[24]

कविता कुछ इस प्रकार है—

''बहुत नहीं थे सिर्फ चार कौए थे काले
उन्होंने यह तय किया कि सारे उड़ने वाले
उनके ढंग से उड़ें, रूकें, खायें और गायें
वे जिसको त्योहार कहें सब उसे मनायें।
कभी-कभी जादू हो जाता है, दुनिया में
दुनिया-भर के गुण दिखते हैं औगुनिया में
ये औगुनिए चार बड़े सरताज हो गए
इनके नौकर चील, गरूड़ और बाज हो गए।
हंस, मोर, चातक, गौरेये किस गिनती में

हाथ बांधकर खड़े हो गये सब विनती में
हुक्म हुआ, चातक पंछी रट नहीं लगायें
पिऊ-पिऊ को छोड़ें, कौए-कौए गायें
बीस तरह के काम दे दिए गौरेयों को
खाना-पीन मौज उड़ाना छुटभैयों को
कौओं की ऐसी बन आयी पांचों घी में
बड़े-बड़े मनसूबे आगे उनके जी में
उड़ने तक के नियम बदल कर ऐसे ढाले
उड़ने वाले सिर्फ रह गए बैठे ठाले।
आगे क्या कुछ हुआ सुनाना बहुत कठिन है
यह दिन कवि का नहीं चार कौओं का दिन है
उत्सुकता जग जाए तो मेरे घर ज़ाना
लंबा किस्सा थोड़े में किस तरह सुनाना।''[25]

यह कविता इंदिरा और उनके सहयोगी दोनों का किस्सा बयान करता है और यह भी कि आम जनता पर उसका क्या असर हुआ भवानी भाई की, एक और कविता में आपातकाल पर व्यंग्य है। यह कविता उन्होंने 23 जुलाई 1975 को लिखी थी—

''कैसा मज़ा है
मुँह खोला-भर कि तैयार कोई सज़ा है
दुःशासन को अनुशासन पर्व कहो तो ठीक
पुलिस और सेना की क्रूरता पर गर्व करो तो ठीक
और यह भी कहा कि एक ही व्यक्ति
देश है एक ही व्यक्ति प्रजा है
यह कैसा मज़ा है।...''[26]

आपातकाल की रचनाधर्मिता की पड़ताल करते हुए, प्रसिद्ध कवि, दुष्यन्त कुमार को याद करना आवश्यक है। आपातकाल के दौरान 'कल्पना' और 'सारिका' में जो ग़ज़लें छपती थीं, उन्होंने काफ़ी हंगामा मचाया था। बहुत दिनों तक उनकी ग़ज़लें आम जुबान से लेकर संसद तक दुहरायी जातीं रहीं हैं। 'चल भई गंगाराम भजन कर' कविता, समूचे आपातकाल की भयावहता और तकलीफदेह वातावरण की सच्ची लेकिन सांकेतिक तरीके से अभिव्यक्ति करती है। कविता यूँ है-

''सूखे ताल भरी दोपहरी/प्यासी मारी फिरे टिटहरी
गरमी गहरी से भी गहरी/सहनी है चुपचाप सहन कर
घर के दरवाजों पर पहरा/जलसों पर नारा पर पहरा
सारे अखबारों पर पहरा/खबरें आती हैं छन-छनकर
अपनी कलम उठाकर रख दे/या फिर इसको इसका हक दे

तनिक सचाई की न झलक दे/कोई प्राण नहीं संकट से
यह सर ऊँचा है चौखट से/और फिर तू चलता है तनकर
हर भूखे को मिले निवाले/बीत गए वे दुर्दिम काले
इन अफवाहों को अपना ले
उन अफवाहों का खंडन कर
चल भई गंगाराम भजन कर''[27]

दुष्यन्त की यह कविता गहरी उदासी उत्पन्न करती है। यह उदासी अपने साथ विवशता लाती है और फिर आक्रोश की। दुष्यन्त कुमार की ग़ज़लों की अपनी अदा है। असल में यह अदा, दुष्यन्त के व्यक्तित्व का हिस्सा भी है। 'इंदिरा जी के नाम एक ग़ज़ल' शीर्षक से उन्होंने 1975 में लिखा—

कहाँ तो तय था चिरागां हरेक घर के लिए।
कहाँ चराग़ भी मयस्सर नहीं शहर के लिए।।
यहाँ दरख्तों के साये में धूप लगती है।
चलो यहाँ से चलें और उम्र-भर के लिए।।
खुदा नहीं, न सही, आदमी का ख्वाब सही,
कोई हसीन नज़ारा तो है नज़र के लिए।
न हो कमीज़ तो पांवों से पेट ढक लेंगे,
ये लोग कितने मुनासिब हैं, इस सफ़र के लिए
तेरा निज़ाम है, सिल दे जुबान शायर की
ये एहतियात ज़रूरी है, इस कहर के लिए
उन्हीं से पूछना फूलों का रंग कैसा है
जिन्होंने उम्र गंवाई है, गुलमोहर के लिए
वे मुतमइन है कि पत्थर पिघल नहीं सकता
मैं बेकरार हूँ आवाज़ में असर के लिए।''[28]

इंदिरा जी के 'गरीबी हटाओ' के नारे में आम जनता में आशा का जो संचार किया था, वह धीरे-धीरे खत्म हो गया था। इंदिरा के तमाम लोकलुभावन नारे और योजनाएँ जनता की अपेक्षा सत्ता-तंत्र का विकास कर रही थी। दुष्यन्त जैसे बेबाक और बेखौफ रचनाकार ने सत्ता-तंत्र के इन कारगुज़ारियों को जनता के सामने लाने का काम किया। आपातकाल में जितने निडर तरीके से लेखन किया शायद उतनी निडरता, कुछ अपवादों को छोड़ दिया जाए तो, और किसी ने न दिखाई। कहा जा सकता है कि दुष्यन्त कुमार जैसा सृजनशील रचनाकार आपातकालीन परिस्थितियों की उपज है।

बाबा नागार्जुन, आपातकाल के विरोध में और जयप्रकाश के समर्थन में, चौराहे, नुक्कड़ों पर कविताएँ पढ़ा करते थे, बाद में सम्पूर्ण क्रांति से उनका मतभेद भी हुआ। आपातकाल में जेल गए, छूटे। तत्कालीन समय में सत्ता पर सीधी चोट और विरोध के स्वर का तेवर बाबा नागार्जुन का काफ़ी पैना माना जाता है। वे एक ओर जहाँ कई मुद्दों पर इंदिरा जी की तीखी आलोचना करते हैं, वहीं जयप्रकाश को भी

अपने प्रश्न के घेरे में रखते हैं। जयप्रकाश जी पर जब लाठी बरसायी गयी तो उन्होंने लिखा-

'एक और गांधी की हत्या होगी अब क्या?
बर्बरता के भोग चढ़ेगा योगी अब क्या?
पोल खुल गई शासक दल के महामंत्र की
जय प्रकाश पर पड़ी लाठियाँ लोकतंत्र की'

दूसरी कविता में, इंदिरा जी की ज़्यादतियों पर लिखा—

'इसके लेखे संसद-फंसद सब फिजूल है...
इसके लेखे दंडनीय ही परम सत्य है, ठोस हकीकत
इसके लेखे बंदूकें ही चरम सत्य हैं, ठोस हकीकत
जय हो, जय हो, हिटलर की नानी की जय हो
जय हो, जय हो, बाघों की रानी की जय हो
जय हो, जय हो, हिटलर की नानी की जय हो।

'मोर न होगा...उल्लू होंगे' शीर्षक कविता में बाबा ने इंदिरा जी को लगभग तानाशाह साबित करते हुए लिखा-

खूब तनी हो, खूब अड़ी हो, खूब लड़ी हो
प्रजातंत्र की कौन पूछता, तुम्हीं बड़ी हो
डर के मारे न्यायपालिका कांप गई है,
वो बेचारी अगली गतिविधि भांप गई है
देश बड़ा है, लोकतंत्र है, सिक्का खोटा
तुम्हीं बड़ी हो, संविधान है तुमसे छोटा
तुमसे छोटा राष्ट्र हिन्द का, तुम्हीं बड़ी हो
खूब तनी हो, खूब अड़ी हो, खूब लड़ी हो।''[29]

बाबा की उपर्युक्त उल्लिखित कविताओं की पंक्तियाँ गहरी बेचनी का नतीजा है। यह उस मानसिकता से उपजा है, जहाँ सत्ता-तंत्र प्रचारित कर रहा था 'इंदिरा इंडिया है'। किसी देश के लिए ऐसे नारे उसकी समूची चेतना को पंगु बना देता है। क्या मनुष्य की चेतना किसी एक व्यक्ति को सर्वेसर्वा मान सकती है। हिटलर जब जर्मनी को अपनी पहचान बता रहा था और शक्ति के मद में चूर था, तब क्या उसे मालूम था कि एक दिन इसी जनता के सामने उसे मिट जाना होगा। इंदिरा को इसी जनता ने 1977 में पराजित कर उनके तमाम मंसूबों को जो उन्होंने 1975 से 1976 में बनाये थे, जिसे नागार्जुन ने व्यक्त किया है, समाप्त कर दिया था।

वेणुगोपाल, दो दिसम्बर 1975 को—

''तुम्हीं बताओ-/कहाँ ढूँढे जगह?/ आड़ कहाँ मिलेगी?

घर मकबरा बन चुका है।/पत्थर की मुर्दा आँखों के
पीछे से/तानाशाही नगर चौकन्नी है/चौबींसों घंटे।

5 दिसम्बर 1975 को—

''नहीं।/दरवाज़े मत खोलो। खिड़की भी-
अभी-कभी कहा आकाशवाणी ने
'हर खिलते फूल को टूट जाना होगा'
(कि फूल का खिलना बग़ावत की निशानी है)
'हर पनपते प्यार को मिट जाना होगा'
(कि प्यार एक असामाजिक हरकत है)''[30]

यहीं पर एक बात और ग़ौर कर लेने की आवश्यकता है, जो प्रसिद्ध आलोचक प्रो0 मैनेजर पाण्डेय से बातचीत करते हुए सामने आया कि, बहुत से रचनाकारों ने आपातकाल के समाप्त हो जाने पर आपातकाल के विरोध में कविताएँ लिखीं और उस पर आपातकाल के दिनों की तारीखें डाल दी थीं। इस शोध में इस प्रकार की प्रवृत्तियों पर कोई टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती है। इस पर अलग से छानबीन की जा सकती है। बहरहाल उपर्युक्त सारी कविताएँ आपातकाल का एक काव्यात्मक समाजशास्त्र रचती हैं, जिसमें समाज के उत्पीड़न और व्यथा के तमाम रंग मौजूद हैं। लेकिन इन सबके बावजूद अग्रिम दस्ते के रचनाकारों ने अपनी रचनाधर्मिता, आपातकाल के दौरान नहीं निभायी इसे भूला नहीं जाना चाहिए।

'समयांतर' के अगस्त और सितम्बर 2005 के अंक में सम्पादक पंकज बिष्ट ने जून में आपातकाल लगाए जाने के तीस बरस पूरे होने पर अपनी स्मृतियों को खंगालते हुए हिन्दी साहित्य दुनिया और पत्रकारिता की दुनिया, के अपने निजी संस्मरणों को बड़ी बेबाकी से दर्ज किया है। वैसे भी, पंकज बिष्ट आज तक अपनी पत्रिका के माध्यम से बेबाकपन और प्रतिरोध के लिए जाने और सराहे जाते हैं। उन्हीं के संस्मरणों के आधार पर भी यहाँ आपातकाल की प्रकृति और गति को समझने की कोशिश की जा सकती है।

जब तीसरी दुनिया में, 'मेरा नाम, तेरा नाम वियतनाम' का नारा और भारत में नक्सलवादी आन्दोलन के प्रभाव में 'हमारा बाड़ी तोमार बाड़ी 'नक्सलवादी का नया नारा गूँजने लगा था। तब इसी दौर में पंकज बिष्ट ने लिखा कि उनका उठना बैठना जिन लोगों के साथ हो रहा था, वे नक्सलवाद से जुड़े हुए थे या समर्थक थे। जिनमें कुछ के नाम-आनंदस्वरूप वर्मा, अजय सिंह, त्रिनेत्र जोशी, रत्नधर झा, मंगलेश डबराल, असगर वजाहत, प्रमोद जोशी, मोहम्मद सईद, इब्बार रब्बी, असद जैदी, कैलास साह, रमाकांत, विष्णु चंद्र शर्मा, विनोद खुराना, पंकज सिंह, गिरधर राठी, रामशरण जोशी, सुरेश सलिल, नेत्र सिंह रावत, कंचन कुमार, जय डौढियाल आदि प्रमुख थे। इसके अलावा इन बैठकों में यदाकदा आने वाले आनंद प्रकाश, गोरख पांडे, चंचल चौहान, कांति मोहन, सौमित्र मोहन, हरदयाल, केवल गोस्वामी, प्रदीप पंत, गंगा प्रसाद विमल, श्याम बिहारी राय, रमेश उपाध्याय, राजकुमार सैनी आदि हुआ करते थे। कभी-कभी शमशेर बहादुर सिंह, नागार्जुन और त्रिलोचन भी कॉफ़ी हाऊस में

बैठकों में देखे जाते थे। पंकज बिष्ट ने अपने बारे में कहा है''... मैं न तो जे.पी. का भक्त था, न ही संपूर्ण क्रांति का समर्थक पर मैं इंदिरा गांधी और नेहरू का सदा विरोधी रहा हूँ।''[31] पंकज बिष्ट ने अपने इस लेख में तत्कालीन समय के समूचे पत्र-पत्रिकाओं, अखबारों की स्थिति और उसके सम्पादकों की दशा, दिशा का उल्लेख किया है। फ्रंटियर और ई.पी. डब्ल्यू, दोनों पत्रिकाओं ने आपातकाल लागू होने के बाद अगले अंकों में आपातकाल और इंदिरा गांधी की आलोचना में कठोर संपादकीय लिखे। लेकिन इसे बंद नहीं किया गया था। कारण था कि इसकी विश्वव्यापी प्रतिष्ठा और अकादमिक प्रकृति बतलायी गयी थी, गिरधर राठी की गिरफ़्तारी के साथ 'प्रतिपक्ष' बन्द हो गया था। 'एवरीमैन्स', अंग्रेजी की पत्रिका थी, जिसके सम्पादक अज्ञेय थे। सेंसर के अड़ंगे से इसे बंद करना पड़ा था। 'दिनमान' जो समाजवादी पत्रिका के अलावा जेपी का समर्थक था, आपातकाल के लागू होने मात्र ने इसके संपादक रघुवीर सहाय को इस कदर हिला दिया कि था कि उन्होंने अपने अगले अंक में आपातकाल का समर्थन करते हुए संपादकीय लिख डाला। कमलेश्वर के 'सारिका' का ज़िक्र पिछले अध्याय में किया जा चुका है। 'धर्मयुग' और धर्मवीर भारती 'मुनादी' कविता लिखकर यूं तो इंदिरा जी का विरोध कर रहे थे लेकिन मनोहर आशीष की डाक्यूमेंटरी फिल्म 'सूर्य के अंश' की कमेंट्री लिखकर, सूर्य के अंश के रूप में इदिरा गांधी व संजय गांधी को बतलाया और उनकी सहानुभूति हासिल कर ली।

'टाइम्स ऑफ़ इंडिया' के एक सहायक संपादक के.आर. सुंदर राजन को पुलिस ने दफ़्तर में ही गिरफ़्तार कर लिया था लेकिन उसके संपादक श्याम लाल ने पूरे आपातकाल के दौर में एक भी शब्द अपने नाम से नहीं लिखा। 'एक्सप्रेस समूह' लगातार इंदिरा गांधी की मनमानी का सामना करता रहा। इसके एक संपादक कुलदीप नैयर को छह महीने इसलिए जेल में रहना पड़ा कि उन्होंने इंदिरा जी के सेंसर को लकर पत्र लिखा था। 'स्टेट्समैन' का विरोध भी मुखर था। सरकार ने समाचारों को नियंत्रित करने की नीति से पी.टी.आई और यू.एन.आई. को मिलाकर 'समाचार' नाम की एजेंसी बना दी थी। यह सरकार का एक कारगर कदम साबित हुआ। रामशरण जोशी के घर पर आपातकाल के दौरान छापा पड़ना एक बड़ी घटना थी। 'मेनस्ट्रीम' और 'सेमिनार' के अंक इतने विस्फोटक सामग्री से भरे हुए हुआ करते थे कि अंततः उन्हें भी बंद कर दिया गया था। 'सेमिनार' और निर्मल वर्मा का जिक्र किया जा चुका है। इसी क्रम में 'अंधेरे से' नाम का कहानी संग्रह पंकज बिष्ट और असगर वजाहत का संयुक्त रूप से 1976 में आया। जिसमें पंकज जी की 'खोखल' और वजाहत जी की 'डंडा' आपातकाल के विरोध में लिखी कहानियाँ थीं। इस दौरान हुए अनेक घटनाओं का जिक्र पंकज बिष्ट ने किया है, जिसे अलग से पढ़ा जाना चाहिए। बहरहाल, पत्रकारिता अपनी जिस और जितनी भूमिका में थी, एक लोकतांत्रिक देश के लिए कमतर था।

'उत्तरार्द्ध'-15 के सं. सत्यसाची ने, मई 1977 में देश के बड़े साहित्यकारों के पास, मसलन, भैरव प्रसाद गुप्त, मार्कण्डेय, विजेन्द्र मन्यथनाथ गुप्त, अमरकान्त, नमिता सिंह, कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह, रमेश उपाध्याय, शलभ श्रीरामसिंह, चन्द्रबलि सिंह, रमेशकुन्तल मेध, नामवर सिंह, कुमार विकल, नेमिचन्द्र जैन, दूधनाथ सिंह, शिवकुमार मिश्र, काशीनाथ सिंह, नागार्जुन केदारनाथ अग्रवाल, ज्ञानरंजन, हरिशंकर परसाई, रामविलास शर्मा, शिवराम सिंह चौहान, अमृतराय, त्रिलोचन, विजयदेव नारायण साही, लीलाधर, जगूड़ी, जगदम्बा प्रसाद दीक्षित, वेणुगोपाल, आलोक धन्वा, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल आदि, एक प्रश्नावली भेजी गयी, यह जानने के लिए कि रचनाकार आपातकाल के विषय

में क्या सोचते हैं। उनमें से कई लोगों के जवाब आए जिनमें रमेश उपाध्याय, अनत कुमार, नमिता सिंह, काशीनाथ सिंह, शलभ श्रीरामसिंह, शिवकुमार मिश्र के जवाब आए और जिसे उत्तरार्द्ध- 15 में सत्यसाची ने छापा। शिवकुमार मिश्र को छोड़कर सभी के उत्तर प्रश्नों के क्रम से दिए गए हैं। श्री मिश्र ने यह उत्तर पत्र की भाषा में दिया है। हम यहाँ केवल श्री मिश्र के पत्र का उल्लेख करेंगे जो उन्होंने सागर से 18 जून 1977 को लिखा था। अपने पत्र में श्री मिश्र ने 'धर्मयुग' और 'धर्मवीर भारती' के संदर्भ में एक दिलचस्प प्रसंग का उल्लेख किया है, जिसका उल्लेख करें इससे पूर्व, उन्होंने जो लिखा है, वह उस प्रसंग की पृष्ठभूमि है,'.... आपातकाल के समय जो अपातकाल के विधायकों को गौरवान्वित करने, उनके क्रिया कलापों की प्रशस्ति करने और उनके समक्ष सिजदे करने में सबसे आगे थे, आज वे सबसे बड़े शूरवीरों के रूप में सामने आ गए हैं और यह जानते हुए भी कि आपातकाल का उनका चरित्र किसी से छिपा नहीं रहा, अपनी शूरवीरता का बेशर्मी से बखान कर रहे हैं...[32] ऐसे कई मामले आपातकाल के दौरान और उसके बाद देखे गए थे। बहरहाल, वह प्रसंग द्रष्टव्य जिसका उल्लेख शिवकुमार मिश्र ने किया है,''...29 दिसम्बर, 1975 को किसी गोष्ठी में मुझे धर्मयुग-संपादकों तथा उन्हीं के खैरख्वाह एक 'स्वतंत्र चेता' बुद्धिजीवी महानुभाव से साक्षात्कार का सौभाग्य प्राप्त हुआ, गोष्ठी बड़े पैमाने पर आयोजित थी और उसमें मान्य पत्रों के सम्पादक, बम्बई के बुद्धिजीवी तथा अन्य जन भी बड़ी संख्या में उपस्थिति थे। 'धर्मयुग' परिवार के एक उपसंपादक तथा उक्त 'स्वतंत्र चेता' बुद्धिजीवी महानुभावों के वामपंथ तथा मार्क्सवाद पर किए गए हमले विशेषकर विचार स्वातन्त्र् के मुद्दे पर जब मैंने यह कहा कि मार्क्सवाद के संदर्भ में विचार स्वातन्त्र्य की चर्चा करने में आज आपको सुविधा का अनुभव हो रहा है। किंतु 26 जून 1975 को अपने देश में अभिव्यक्ति की आज़ादी का जो गला घोंटा गया है, उस पर आपकी क्या प्रतिक्रिया है? मैं पूरी जिम्मेदारी के साथ इस सार्वजनिक मंच से यह घोषित कर रहा हूँ कि 26 जून 1975 को हमारे देश में आजादी का गला घोंट दिया गया है। मैं इसके खिलाफ़ लिखना चाहता हूँ किंतु कोई भी पत्र मेरी बातों को छापने के लिए तैयार नहीं है। आप लोगों के मन में अभिव्यक्ति की आज़ादी जैसे मूल्य के लिए इतना दर्द देखकर मुझे प्रसन्नता हुई। क्या आप अपने पत्र में मेरी बातों को छापने के लिए तैयार हैं? हो सकता है इसके दुष्परिणाम हमें भोगने पड़े। हमें जेल जाना पड़े। अपने तईं, मैं इन परिणामों को भोगने के लिए प्रस्तुत हूँ, लेकिन आप बताएं कि क्या आप भी तैयार हैं? बम्बई की इस गोष्ठी में उपस्थित बुद्धिजीवी पत्रकार तथा सामान्य जन मेरे इस कथन के गवाह होंगे। बाद में अपनी पत्रिका में छपी रपट में मेरी यह सब बातें सेंसरशिप के कारण हटा दी गईं किन्तु मेरे पास उस पूरी गोष्ठी के एक-एक वक्तव्य का टेप रिकार्ड है। कम से कम मौखिक रूप से तो यह स्वीकार किया ही जा सकता था कि 26 जून को देश में जो कुछ घटा वह बहुत निंदनीय और गर्हित था। एक शब्द भी प्रतिक्रिया के रूप में अभिव्यक्ति की आज़ादी के इन मसीहाओं के मुंह से नहीं निकला। लोग भले जेल गए हों, यातनाएं भोगी हों, रेणु ने भले अपनी पेन्शन, पद्मश्री छोड़ दी हो, ज़िंदगी को भी दाँव पर लगा दिया गया हो, किंतु फ़कत हजार पांच सौ महीने की नौकरी या सुख-सुविधाओं से भरी जिंदगी का मोह क्या यों ही छोड़ा जा सकता है? आज जब माहौल बदल गया है, ये अभिव्यक्ति की आज़ादी की लड़ाई लड़ने वालों की पहली पंक्ति में बैठ गए। खैर, सन्तोष इस बात का है कि इनका चरित्र निगाह वालों की निगाह से छिपा हुआ नहीं है।[33]

असल में आपातकाल के समूचे परिवेश में साहित्य और पत्रकारिता दोनों ही सेंसर, समझौते,

लोभ-लाभ, भय और संकट त्रासद अनुभवों से गुज़र रहे थे। उजालों में मुस्कराने की अबूझ कोशिश, अंधेरे में समझौते करने की नाकाम उम्मीद लिए, एक शून्य में विचरने के लिए बाध्य साहित्यकार और पत्रकार आपातकाल के दौरान अंधेरे बंद कमरे में चक्कर लगा रहे थे। जिन लोगों ने प्रतिरोध की कोशिश की, वे जेल के अनुभवों से गुजरे, जो बच गए, वे डरे, सहमे। लेकिन अपनी कलम की लौ को जलाए रखा। एक ऐसी व्यवस्था, जहाँ घना अंधेरा हो, सत्ता-संस्थान एक ऐसी विवेकहीन व्यवस्था का नाम हो, जहाँ ईमानदारी अपवाद स्वरूप ही पनप सकें, वैसे में सबकुछ के अलावा ईमानदार लेखन ही उम्मीद जगा सकता है। आपातकाल जैसी व्यवस्था भारत में दुबारा न आ सकें, इसके लिए ज़रूरी है, मुक्तिबोध की यह पंक्ति दुबारा याद करना-

'अभिव्यक्ति के सारे ख़तरे उठाने ही होंगे।'

संदर्भ सूची

(1) मुक्तिबोध की प्रतिनिधि कविताएं, संपादक-अशोक वाजपेयी, राजकमल, पेपरबैक्स, 2002, पृष्ठ-165, 166 (2) वही, पृष्ठ-178 (3) वही, पृष्ठ-136, 137 (4) उत्तरार्द्ध-7 संपादक-सव्यसाची, मई-1974, पृष्ठ-105 (5) पहल-दो, संपादक-ज्ञानरंजन, पृष्ठ-115 (6) उत्तरार्द्ध-7, पृष्ठ-107,108 (7) शब्द और कर्म, मैनेजर पाण्डेय, 1981 पृष्ठ-71 (8) वही, पृष्ठ-71,72 (9) आदि, अन्त और आरंभ, निर्मल वर्मा, राजकमल प्रकान, पृष्ठ-216 (10) वही, पृष्ठ-217 (11) वही, पृष्ठ-219 (12) वही, पृष्ठ- 219 (13) वही, पृष्ठ-222 (14) आज और आज से पहले, कुंवर नारायण, राजकमल, 1999, पृष्ठ-95,96 (15) वही, पृष्ठ-97-98 (16) पहल-3, पृष्ठ-4-5 (17) धर्मवीर भारती ग्रंथावली, खंड-तीन, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1990 (18) साक्षात्कार, जून-जुलाई-2005,पृष्ठ-39,41 (19) उत्तरार्द्ध-15 अगस्त,1977, पृष्ठ-42 (20) सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ग्रंथावली-दो, संपादक -वीरेन्द्र जैन, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण-2004, पृष्ठ-203 (21) भवानी प्रसाद मिश्र रचनावली-चार, संपादक-विजय बहादुर सिंह, अनामिका पब्लिसर्स एण्ड डिस्ट्रीयूटर्स प्रथम संस्करण-2002, पृष्ठ-397,80 (22) भवानी प्रसाद मिश्र रचनावली-8, पृष्ठ-111 (23) वही, पृष्ठ-114 (24) वही, पृष्ठ-113 (25) वही, पृष्ठ-114 (26) भवानी प्रसाद मिश्र रचनावली-4 पृष्ठ-453 (27) दुष्यन्त कुमार रचनावली-दो,संपादक -विजय बहादुर सिंह, किताब घर प्रकाशन, 2005 पृष्ठ-233, 234 (28) वही, पृष्ठ-345 (29) नागार्जुन रचनावली-दो, संपादक-शोभाकांत (30) जमीन, पृष्ठ-24-25 (31) समयान्तर, संपादक - पंकज बिष्ट, अगस्त, 2005 पृष्ठ-20 (32) उत्तरार्द्ध-15 अगस्त,1977, पृष्ठ-124 (33) वही, पृष्ठ-124, 125

भारतीय नवजागरण : स्त्री–प्रश्न और हिंदी साहित्य

रोहिणी अग्रवाल

ढेरों अंतर्विरोधों से अटा पड़ा है भारतीय नवजागरण। सतीप्रथा निषेध कानून को निरस्त कराने के लिए राधाकृष्ण देव सरीखे कट्टरपंथियों के नेतृत्व में चलाया गया राष्ट्रव्यापी अभियान[1] विधवा विवाह कानून के पक्ष में जुटाए गए 987 हस्ताक्षरों के विरोध में जमा 36763 हस्ताक्षर[2] , स्त्री शिक्षा के समर्थन के बरक्स तेजी से फैलता प्रवाद कि शिक्षिता स्त्री विधवा हो जाएगी, बाल विवाह के विरोध में जुटी आम सहमति लेकिन कन्या की न्यूनतम उम्र को लेकर व्यापक मतभेद।[3] किन्तु अंतर्विरोध क्या हमेशा स्खलन या विघटन के ही सूचक हुआ करते हैं। अंतर्विरोध अपने युग में सक्रिय वैचारिक मतभेदों का प्रतिबिंब मात्र ही तो हैं— प्रगतिशील और प्रतिगामी ताकतों के बीच अनवरत चलती टकराहट। अंतर्विरोध मनन और मंथन की प्रक्रिया को भी तीव्रतर करते हैं— एक ही सामाजिक यथार्थ की दो विपरीत व्याख्याओं को सीधी नज़र से देखने का विवेक देते हुए। लेकिन देखने का यह विवेक युगीन प्रवाह से किनारा कर निःसंग दृष्टि अख्तियार करने के बाद ही आ पाता है अन्यथा अपने-अपने पाले में मजबूती से जम कर प्रतिपक्षी को गिराने का अवसर कौन गंवाना चाहेगा। शायद यही वजह है कि नवजागरण के अंतर्विरोध वक्त के संग लंबी दूरी तय करने के बाद ही दीखने लगे हैं। लेकिन वक्त का बीत जाना भी शायद विवेकपूर्ण दृष्टि अपना लेने का इकलौता कारण नहीं। ज़माना गुज़र जाने के बावजूद गुज़रे ज़माने के पक्ष-प्रतिपक्ष के पाले यूं ही अक्षत बने रहते हैं। अंतर्विरोधों को चीन्हने का 'विवेकपूर्ण दर्प' अक्सर उन्हीं पूर्वग्रहयुक्त पालों में से किसी एक में मजबूती से अपने खूंटे गाड़ देने का उद्योग भी है। मुझे स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं कि भारतीय नवजागरण को स्त्रीवादी दृष्टि के साथ देखना-पढ़ना चाहूंगी। स्त्रीवाद स्त्री की दुर्दशा, पीड़ा और दमन पर अरण्य रोदन की परम्परा का विरोध करता है रोना और रोते हुए के आंसू पोंछ देना किसी समस्या का स्थायी समाधान नहीं। इसके लिए ज़रूरी है आंसुओं में आग भर कर उन्हें सक्रिय रूप देना। यह बीहड़ यात्रा तब तक संभव नहीं जब तक पितृसत्तात्मक व्यवस्था को मज़बूती देने में अपनी बराबर की भूमिका पहचान कर स्त्री उसके समानांतर एक नई व्यवस्था गढ़ने का विचार मन में नहीं लाती। क्या नवजागरण आंदोलन के दौरान सजग-चेतन स्त्री ऐसा कर सकी?

(1)

''पढ़ना कितना सुखमय है! कुछ समय के लिए संसार के कष्टों को भुला देने की उसमें कितनी शक्ति है![4]'' बनाम ''लिखाय नहीं देत्यो पढ़ाय नहीं देत्यो / सैंया फिरंगिन बनाय नहीं देत्यो ''[5]

'देवरानी जेठानी की कहानी'— हिंदी का पहला मौलिक उपन्यास! रचनाकाल 1870 से पूर्व का कोई समय क्योंकि 24 जून 1870 को इसे स्त्रीशिक्षा के क्षेत्र में उपयोगी रचना मान कर पश्चिमी क्षेत्र के लेफ्टीनेंट गवर्नर के हाथों सौ रुपये की पुरस्कार राशि से सम्मानित किया गया।

दूसरा महत्वपूर्ण हिंदी उपन्यास 'भाग्यवती'। रचनाकाल 1887। केन्द्रीय विषय ठीक वही— स्त्री शिक्षा का प्रचार-प्रसार। दोनों उपन्यासों का सुर सत्यनारायण व्रत-कथा जैसा विशुद्ध उपदेशात्मक- लड़कियों को पढ़ाओगे तो कुल की मर्यादा, प्रतिष्ठा और समृद्धि बढ़ेगी; नहीं पढ़ाओगे तो आपसी कलह, द्वेष और मूर्खता के कारण स्त्री परिवार और संतान, वर्तमान और भविष्य सब को डुबो देगी। नाक कटेगी सो अलग। 'देवरानी जेठानी की कहानी' के रचयिता पं. गौरीदत्त इस महत् दायित्व को गंभीरतापूर्वक स्वीकार करते हैं कि यह पुस्तक सिर्फ यही दिखाने के लिए रची गई है कि ''बेपढ़ी स्त्री जब एक काम को करती है, उससे क्या-क्या हानि होती है। पढ़ी हुई जब उसी काम को करती है, उससे क्या-क्या लाभ होता है। स्त्रियों की यह बातें जो आज तक नहीं लिखी गई हैं, मैने खोज कर सब लिख दी हैं।'' साथ ही यह ठसके भरी घोषणा भी कि स्त्री-धर्म का उपदेश देने वाली इस पुस्तक की भाषा स्त्रियों की रुचि और बुद्धि के अनुरूप स्त्रियोचित है। श्रद्धाराम फिल्लौरी के सरोकार अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत हैं। वे घर की संकुचित देहरी के भीतर ही शिक्षित-अशिक्षित ललनाओं की कार्य-शैली और नियति के तुलनात्मक अध्ययन के जरिए शिक्षा के महत्व को प्रतिष्ठापित नहीं करते, वरन् उसके कार्यक्षेत्र को घर से बाहर पुरुषों की दौड़धूप, संघर्ष एवं प्रपंच भरी कठिन जिंदगी तक भी ले जाते हैं। उनके अनुसार 'भाग्यवती' का प्रतिपाद्य यह पुष्ट करना है ''विद्या एक ऐसा अभ्यास है कि उससे मन को कभी अवसर नहीं मिलता कि और किसी विकार में प्रवृत्त हो सके। विद्यावान को यदि आपदा भी आ जाती है तो शीघ्र व्याकुल नहीं होता और न कभी उसकी निवृत्ति के साधन में आलस्य करता है।'' (पृ.13) ग्यारह वर्षीया भाग्यवती के पिता पं. उमादत्त के रूप में उपस्थित होकर वे अपनी पत्नी से पुत्री की शिक्षा-दीक्षा में प्रगति की रिपोर्ट भी लेते रहते हैं और उसके पाठ्यक्रम का निर्धारण भी। उल्लेखनीय है कि पंडितानी आम घरेलू स्त्रियों की तरह व्यावहारिक मामलों में बेशक बेहद कट्टर एवं संकीर्ण सोच की स्त्री के रूप में चित्रित की गई है, किंतु वह स्वयं भी पढ़ी-लिखी है। पति को पुत्री की शिक्षा की प्रगति-सूचना देते हुए यह बताती है कि सहस्रनामा गीता के बाद ''मैंने उसको भाषा-व्याकरण, ऋजुपाठ, हितोपदेश और शिक्षामंजरी पढ़ाई। अब वह भूगोल-खगोल नाम का ग्रंथ पढ़रही है और फिर मेरी इच्छा है कि थोड़ी सी गणित विद्या पढ़ा के पीछे से आत्मचिकित्सा (पं. श्रद्धाराम जी का एक ग्रंथ) आरम्भ करा दूंगी क्योंकि उसके पढ़ने से प्राणी को लोक-परलोक दोनों भांति के व्यवहार प्रतीत हो जाते हैं और गृहस्थ धर्म और मनुष्य धर्म को सर्व प्रकार से जान लेता है।'' (पृ.14) इसके अतिरिक्त सीना-पिरोना, पाककला और साहित्यशास्त्र का ज्ञान

तो अनिवार्य है ही। यह शिक्षा स्त्री को आत्मनिर्भर एवं आत्मविश्वास से परिपूर्ण कुशल गृहिणी ही नहीं बनाती, उसमें 'बालकों की न्याई चंचलता, चपलता और थोड़ी सी बात में रूठ जाने और शीघ्र ही संतुष्ट हो जाने हठ बाँध कर बैठ जाने की स्त्रियोचित ओछी अपरिपक्वता को भी नष्ट करती है।'

अब इसके बाद शेष रहता है उक्त प्रस्तावना को गणितीय फ़ार्मूला बना कर पूरे उपन्यास में अनेक पात्रों-प्रकरणों के माध्यम से घटित करना। लेखक क्रमशः भाग्यवती महात्म्य की परतें खोलता चलता है। जैसे ससुराल जाकर कुशल गृह-प्रबंधन से धूर्त नौकरों द्वार ठगी जाने वाली सास की रक्षा कर खोई सम्पत्ति लौटा लाना, ससुराल द्वारा घर से निकाल दिए जाने पर अकेली साधनहीन-सम्पत्तिहीन-बंधुहीन भाग्यवती का कुछ ही वर्षों में समृद्धि एवं ऐश्वर्य से भरपूर साम्राज्य बना लेना, उसी नगर के वासी पिता की आर्थिक -भावनात्मक सहायता लेने से इंकार करती भाग्यवती के लकदक आत्मविश्वास को प्रस्थान बिंदु बना कर इस तथ्य को पुष्ट करना कि ''जो नारी विद्यावती, सो कैसे दुख पाय।'' फिर भाग्यवती के उत्कर्ष के समानांतर है ससुराल पक्ष का निरंतर पतन— अपनी मूर्खता, स्वार्थपरता, कलह-क्लेश और परस्पर अविश्वास के कारण। खाक हो गए ससुराल पक्ष के प्रति द्रवित हो भाग्यवती का लौटना और अपनी सूझबूझ, संयम और स्त्री-गुणों के साथ परिवार को पुनः समृद्धि और प्रतिष्ठा की ऊँचाइयों तक पहुंचा देना। लेखक बेहद गद्‌गद् भाव से दो घटनाओं की ओर संकेत करना भी नहीं भूलता। एक, कुंभ के मेले में अपने परिवार से बिछुड़ जाने पर दूध पीते बालक के साथ रो-रो कर बेहाल नहीं होती भाग्यवती, वरन् अपनी सूझबूझ, धीरज और विद्या-चातुरी के साथ सम्मानपूर्वक बालक के लिए दूध और सुरक्षा का इंतजाम भी करती है, परिवार के साथ मिलने का जतन भी करती है और राजा से पुरस्कार स्वरूप पाए इक्कीस रुपए सास-ससुर के चरणों में अर्पित कर कुलीन बहू के आदर्श की रक्षा भी करती है। दूसरी घटना है चोरी की तहकीकात के सिलसिले में रिश्वत लेने के इरादे से घर आए भ्रष्ट पुलिस कर्मचारियों की बंदरघुड़की के जवाब में कानून की खरी-कड़ी भाषा का प्रयोग—''क्यों जमादॉर जी! आपने हमारे घर की बदनामी या बदमाशी किस मिसल में लिखी देखी है या आपको खुद ही हमारे घर पर कुछ शक हुआ है कि जिसके सबब हमारी तलाशी लोगे? अच्छा, हमको सरकारी हुक्म से कुछ उज्र और इनकार नहीं; पर आप हमको इतनी बात एक कागज पर लिख दें कि हम अपने आप इस घर की तलाशी लेते हैं। और यह भी बता दें कि यदि हमारे घर से चोरी का कुछ माल बरामद न हुआ तो हम हत्तक की नालिश किस पर करें?'' (पृ. 112)

दरअसल भाग्यवती स्त्री शिक्षा के समर्थन में उमड़े राष्ट्रव्यापी ज्वार की जीती जागती मिसाल है। चिट्ठी-पत्तरी बांचने और छोटा-मोटा हिसाब-किताब कर लेने वाली शिक्षिता मां और प्रगतिशील सोच के उदार पिता की संतान के रूप में वह नए वक्त और समाज का प्रारूप रच रही है जहां परिवार को बनाने, नई पीढ़ी को संस्कार देने, मानवीय मूल्यों और भारतीय संस्कृति की रक्षा का गुरु दायित्व उसके कंधों पर है। लोग एकमत हो उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं कि ''काशी भर में आपके समान स्त्री तो कोई नहीं होएगी'' (पृ.44), लेकिन आदर्श भारतीय स्त्री की तरह वह अपने अस्तित्व और उपस्थिति दोनों को अदृश्य कर लेना चाहती है। उसका 'होना' उसके लिए नहीं, 'परिवार' के लिए है— ''मैं दीन, छीन, परम मलीन इस घर की दासी हूं।''(पृ.52) पूरा युग उसकी इस विनम्रता पर बलिहारी है; बलैयां लेते नहीं अघाता लेखक कि यह सब विद्या का प्रताप है। मनुष्य हो चाहे स्त्री, विद्या सबका भाग्य बना देती है। हाय! वे कैसे बुरे माता-पिता हैं कि जो अपनी संतान को विद्या नहीं सिखाते।.... जो यह बात कहा करते

हैं कि स्त्री को विद्या न पढ़ानी चाहिए। और बड़े ही मूर्ख हैं वे लोग जो अपने मुख से ये बातें कहा करते हैं कि विद्या पढ़ी हुई स्त्री बिगड़ जाती है।... क्या यह विद्या का ही प्रताप नहीं कि (भाग्यवती ने) विपत्तिकाल में धैर्य-संतोष को हाथ से न छोड़ा।''(पृ.70)

उद्बोधन! उपदेश! धिक्कार! भारतीय नवजागरण स्त्री-शिक्षा को लेकर किंचित् भी संशयी नहीं। राजा राममोहन राय, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, दयानंद सरस्वती आदि-आदि सभी का स्त्री-शिक्षा के प्रसार में अपना-अपना निश्चित योगदान! शिक्षा के प्रारूप और पाठ्यक्रम को लेकर सबकी एक राय कि आदर्श शिक्षा वही जो लड़की को सुघड़ गृहिणी, समर्पिता पत्नी और कर्त्तव्यपरायण मां बनाए। जाहिर है ईसाइयत और मुसलमानियत-दोनों से बराबर की दूरी बनाए रखने के लिए देशभर में, विशेषकर बंगाल, महाराष्ट्र और पंजाब में हिंदू एवं ब्राह्मण कन्या पाठशालाएं खुलने लगीं।

चूंकि सजग होकर रची गई सोद्देश्यपूर्ण रचनाएँ स्याह-सफ़ेद चरित्रों के जरिए अपने प्रतिपाद्य को सिद्ध करती हैं, अतः स्वाभाविक गति से बहते सामाजिक जीवन के चित्रण की अपेक्षा वहां प्रस्तावित समाज का स्वप्न महत्वपूर्ण हो जाता है। इसी वजह से 'देवरानी जेठानी की कहानी' और 'भाग्यवती' रचनाकार के मानस की सही अभिव्यक्ति नहीं कर पातीं जहां उसके संस्कार और पूर्वग्रह चेतना और संवेदना के साथ निरंतर संघर्ष और संवाद करते रहते हैं' जहाँ नग्न और निरावरण अवस्था में कुछ भेद ढांपते-उघाड़ते अपनी मानसिक संरचना की भीतरी तहों को उघाड़ बैठते हैं। सर्जक की सावधान मुद्रा को धकिया कर प्रवाह में बहता आम आदमी जो किसी भी रचयिता का वास्तविक परिचय है और वही रचना के शब्दों और वाक्यों के बीच छूटी रिक्तियों और दरारों में से छन कर उसकी दृष्टि और पूर्वग्रहों को सतह पर ला देता है। इस दृष्टि से स्त्री शिक्षा के संदर्भ में भारतेन्दु पर बात करना समीचीन लगता है। आधुनिक युग के जनक भारतेन्दु समसामयिक मुद्दों से परिचित थे। उनके दबाव में राजभक्ति और राष्ट्रभक्ति, शृंगार और समाज सुधार के बीच पैंडुलम की तरह दोलायमान भी। स्त्रियों को लेकर मिशनबद्ध रूप से कुछ नहीं लिखा। कहीं बतौर संपादक रचनाकारों से ऐसे ग्राम-गीतों की रचना का आह्वान जिनमें ज्वलंत सामाजिक समस्याों को पिरोया गया हो ताकि 'स्त्रियों और गंवारों' को इनमें पिरोई 'रोचक बातें' 'अच्छी' लगें और 'शृंगार, हास्य रस आदि इसमें मिले रहें जिसमें इनका प्रचार सहज हो जाय।' कहीं बतौर लेखक छिटपुट टिप्पड़ियां कि ''कुलीन प्रथा, बहुविवाह को दूर कीजिए। लड़कियों को भी पढ़ाइए लेकिन भारतेन्दु की यह टिप्पणी पूर्ण नहीं है। 'भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है'—बलिया में दिए गए सुप्रसिद्ध व्याख्यान में वे अपने मंतव्य का खुलासा करते हैं—''लड़कियों को पढ़ाइे किंतु उस चाल से नहीं जैसे आजकल पढ़ाई जाती हैं जिससे उपकार के बदले बुराई होती है। ऐसी चाल से उनको शिक्षा दीजिए कि वह अपना देश और कुल धर्म सीखें। पति की भक्ति करें और लड़कों को सहज में शिक्षा दें।'' (भारतेन्दु समग्र, पृ. 1013) देश और कुल-धर्म पर बलाघात खासतौर पर अवलोकनीय है जो हिंदुत्व और भारतीयता का घालमेल कर हिंदू राष्ट्रवाद की अवधारणा को पुष्ट सहमति देता है। भारतेन्दु भले ही उक्त व्याख्यान में उपकार के बदले अपकार करने वाली पढ़ाई की 'चाल' को नहीं बता पाए, 'मुशायरा' शीर्षक व्यंग्य रचना में ललाइन साहब के मुशायरे के जरिए इस टेढ़ी चाल को पीटने-धकियाने में संकोच नहीं करते। उन्होंने परिकल्पना की है कि इस मुशायरे में लखनऊ, दिल्ली, बनारस, पूरब और दक्खिन यानी देश भर से शायर आए हैं। महफिल जमी है। लाला साहब कलाम पेश कर रहे हैं। वे चुप हुए ही थे कि ''ललाइन साहब से न रहा गया। कुछ जो मेम साहब की तालीम ने तुंदी किया सो चट से कूद परदे के

बाहर बेतकल्लुफ़ तशरीफ़ लाईं और मटक-मटक कर कहने लगीं—

लिखाय नाहीं देत्यो पढ़ाय नाहीं देत्यो/ सैंया फिरंगिन बनाय नाहीं देत्यो
लंहगा दुपट्टा नीक न लागे/ मेमन का गौन मंगाय नाहीं देत्यो....।
हम न सोइबे कोठा अटरिया/ नदिया प बंगला छवाय नाहीं देत्यो....।
सरसों का उबटन हम न लगैवैं/ साबुन से देहियां मलाय नाहीं देत्यो.....।
डोली मियाना प कब लग डोलों/ घेड़वा प काठी कसाय नाहीं देत्यो.....।
कब लग बैठी काढे घुंघटवा/ मेला तमासा जाये नाहीं देत्यो।''

(भारतेन्दु समग्र, पृ.996)

बेचारा देशी भद्रजन! छाती कूट कर स्यापा करे या नज़रें नीची कर अपनी ही करनी (लड़की को अंग्रेजी शिक्षा के रंग में रंगने की धृष्टता) पर पश्चाताप— उसकी मनोदशा पर एक शोक धुन हवा में लहरा देते हैं भारतेन्दु—

''का भवा आवा है ए राम जमाना कैसा
कैसी मेहरारू है ई हाय जनाना कैसा।''

'नील देवी' जैसे पतिपरायणा पत्नी का अभिषेक करने वाले भारतेन्दु घनघोर स्त्रीद्वेषी हैं। उनके सुर में सुर मिला कर कहूं तो स्त्री से भयभीत। 'स्त्री सेवा पद्धति' में पुरुष की बेचारगी पर तरस खाते हुए वे 'मेम साहब' सरीखी स्त्री की वंदना कर रहे हैं— वह स्त्री जो अग्नि की तरह दिन-रात पुरुष की हड्डी जलाया करती है; जो सहस्र नेत्रधारी की तरह श्वसुरकुल में सिर्फ दोष देखती है; वज्रपाणि की तरह पति पर शासन करती है और विष्णु की तरह अपने सुदर्शन चक्र से पुरुष का मस्तक काट डालने को तत्पर है। सत्ता में आते ही यह स्त्री 'कानून ताजीरात शौहर' (रचनाकाल 1883) बनाने में ज़रा भी विलम्ब नहीं करेगी। इस कानून के बाब (प्रकरण), तहमीद (भूमिका), दफा (धारा) सभी पति/ पुरुष की नाक में नकेल डालने के लिए होंगे। यह कानून पति को भी परिभाषित करता है कि ''किसी औरत के तहत हुकूमत में कोई शै जो कि जाहिरा मनकूल (चल) मगर बगैर हुक्म औरत के गैरमनकूल (अचल) है, उस से मुराद शौहर है।'' (पृ. 1003) 'अदूलहुक्मी' 'के लिए शौहर के लिए मेहनत/ बिला मेहनत दो प्रकार की सजाओं का प्रावधान है। ''लफ्ज मेहनत से यह मुराद है कि शौहर कैद (घर की चारदीवारी में बैठने की मजबूरी) भी रहे और गालियों की बौछार भी बरदाश्त करता रहे। लफ्ज बिना मेहनत से मुराद है कि सिर्फ बाहर न जाने पाए।'' अपराध गंभीर हो तो सजाए-मौत का भी प्रावधान है जिसका अर्थ है ''औरत रूठ कर अपने बाप या भाई के घर चली जाय और फिर न आये।'' मिल्टन की महत्वपूर्ण पैरोडी 'रेप ऑव द लॉक' का स्मरण कराती यह व्यंग्य रचना स्त्री की बौद्धिक-मानसिक क्षुद्रताओं, वैचारिक संकीर्णताओं और स्वभावगत क्रूरता को उद्घाटित करती है। स्वार्थपरता, आत्मरतिग्रस्तता, संदेह, अविश्वास, चिड़चिड़ाहट, ईर्ष्या-द्वेष, अंधविश्वास और हठ आदि यदि स्त्रियों का स्वभाव और कर्म है तो मखौल उड़ा कर निंदा करना समस्या का समाधान नहीं, बल्कि बेहद सहानुभूति और उदारता से यह विचार करना है कि नकारात्मकताओं के संचयन का अर्थ है स्वस्थ-सकारात्मक माहौल की अनुपस्थिति। पुरुष/पति अपने लिए यदि घर की चारदीवारी में जबरन बैठे रहने की मजबूरी को कैद समझता है तो क्या स्त्रियाँ सदियों से इस कैद में घुट कर भी उसके शारीरिक-मानसिक-भावनात्मक प्रसादन का सामान नहीं

जुटाती रही हैं? 'ललाइन' यदि पढ़-लिख कर अपने 'होने' को महसूसते हुए खाली हवा में सांस लेने का मानवीय अधिकार पाने की इच्छा जताती है[7] तो अपनी जमीन दरकने के खतरे से गुटबंदी कर स्त्री पर घृणा और तिरस्कार की बौछार क्यों करने लगता है पुरुष?

यह तो घोर अंहनिष्ठ सामंतवादी पुरुष का चरित्र है— अपने मिथ्याभिमान की रक्षा के लिए कुल, जाति, धर्म और संस्कृति की दुहाई देता खोखलापन! समाज निर्माण के लिए ठोस कार्य करती पढ़ी-लिखी चेतन स्त्री से हर खोखलापन घबराएगा ही न! लैंगिक श्रेष्ठता के कारण वर्चस्व को भोगता यह खोखलापन जानता है कि पति की आज्ञापालन कर स्वयं पढ़ने-लिखने के उपरांत कन्या-पाठशाला में 17 वर्ष की वय से पढ़ाने लगी हैं सावित्रीबाई फुले, लेकिन आत्मोन्नति की लगन किसी के इशारे पर रुकती नहीं। प्रकाश-पुंज बन कर अपनी ही सीमाओं का अतिक्रमण करती चलती है। 1853 में बाल-विधवाओं हेतु प्रसूति-गृह 'बाल हत्या प्रतिबंधक गृह' की स्थापना, विधवाओं के केश-मुंडन के विरोध में नाइयों की हड़ताल का नेतृत्व और यौन शोषण की शिकार बाल-विधवाओं की कोख से उपजे 'अवैध' बच्चों की रक्षा के लिए 1863 में अनाथालय की स्थापना— समाज सुधार हेतु उठाए गए क्रांतिकारी कदम हैं, लेकिन हिंदू धर्म, संस्कृति और परंपरा के औचित्य को गलत सिद्ध करने की 'दंडनीय' कोशिशें भी तो हैं। हर पुरुष जोतिबा फुले नहीं होता। होना भी नहीं चाहता। लीक पीटने में सुकून है और फरमाबरदारी का पुण्य भी। कहना न होगा कि व्यंग्य की नुकीली धार भारतेन्दु के भीतरी छिपी 'हिंसक पुरुष लिप्सा' को बाहर ले आती है जो वेश्याओं की मानवीय अस्मिता और मजबूरी को ''द्रव्य लाभ धावमान सांडनी/ सद्गृहस्थ गेह की उजाड़नी'' (पृ. 988) कह कर दुरदुराती है और पत्नी की सत्ता को कुलवधू के खाते में डाल परस्त्री के साथ जुड़े नेह/ वासना के सम्बन्ध को धर्मसम्मत ठहराती है।[8]

भारतेन्दु 'हिंसक पुरुष लिप्सा' की बानगी भर हैं और पूरे युग के प्रतिनिधि भी। अलबत्ता ढेरों अपवाद भी हैं। जोतिबा फुले की तरह ही हैं पुणे के किसी डाकघर में कार्यरत मामूली वेतनकर्मी गोपाल जोशी। इस शख्स ने एक शिल्पी की मानिंद ठोंक-पीट कर गढ़ा है अपनी बालिका पत्नी यमुना उर्फ आनंदी को। पढ़ना-पढ़ना और सिर्फ पढ़ना-बालिका पत्नी को न खेलने-कूदने का अवकाश और न गात में अंगड़ाई लेते यौवन को महसूसने का। पति के सपने (अभिलाषा और दूरदृष्टि) को जीकर डॉक्टर बनना है। डॉक्टर बन कर वह अपनी मृत संतान को लौटा नहीं सकती, लेकिन चिकित्सीय सुविधाओं के अभाव में रोज संतान खोती स्त्रियों की गोद हरी रखने का हुनर तो पा सकती है। सीमित साधनों के बावजूद अपने सपने का पीछा करते हठी गोपाल ने आनंदीबाई को अमेरिका भेज कर डॉक्टर बना दिया है और विस्तृत कर दिया है शिक्षा के क्षितिज, मकसद और महत्व को। पं. रमाबाई गोपाल जोशी के इस अनुष्ठान को आगे बढ़ाने का दायित्व लेती हैं। वे स्त्रियों (विवाहित, अविवाहित, विधवा) को घर की चारदीवारी से बाहर लाकर अध्यापन का विधिवत प्रशिक्षण देना चाहती हैं; छात्राओं की कॉलेज परिसर में रिहाइश की अनिवार्यता की वकालत करती हैं ताकि उनके आचार-व्यवहार एवं नैतिक आचरण को संपुष्ट किया जा सके; और हंटर कमीशन से अनुरोध करती हैं कि भारत में स्त्री चिकित्सकों की कमी को देखते हुए स्त्रियों को मेडीसन पढ़ने की सुविधाएं उपलब्ध कराई जाएं। रमाबाई के लिए शिक्षा का अर्थ मामूली अक्षर-ज्ञान, हिसाब-किताब या छंद रचना नहीं है, अपने को जानना, अर्थोपार्जन कर आत्मनिर्भर होना और सामाजिक कुरीतियों के खिलाफ मोर्चाबंदी करने का नैतिक बल पाना है। यह वही नैतिक बल

है जो ताराबाई शिंदे और रमाबाई को अपनी-अपनी तरह से कर्मक्षेत्र में उतरने की प्रेरणा देता है। बाल-विधवा ताराबाई शिंदे धर्मशास्त्रों का पुनर्पाठ करते हुए पुरुष-धूर्तता और षड्यंत्रों को उद्घाटित करती हैं तो रमाबाई अनमेल विवाह (मानसिक तौर पर अनमेल) के खिलाफ अदालत से न्याय मांगती हैं—''वह विवाह जो सहमति के बिना सम्पन्न हुआ था, उसको विधिमान्य नहीं माना जा सकता।'' अदालती लड़ाई में हार कर भी हार नहीं मानतीं रख्माबाई। उल्लेखनीय है कि जुर्माना और जेल की सजा काट कर रमाबाई ने कट्टरपंथियों के आगे घुटने नहीं टेके, वरन् इंग्लैंड जाकर एम.डी. की उपाधि ली और भारत लौट कर लम्बे समय तक डॉक्टरी भी की। उनकी मृत्यु 91 वर्ष की उम्र में हुई। लेकिन यह भी सच है कि उन्हें अपवाद मान कर देश के चप्पे-चप्पे में अपनी आजादी की गुहार लगाती हर रमाबाई की फ़रियाद पर भारतीय नवजागरण आंदोलन चुप रहा है। यही नहीं, हिंदी पट्टी का साहित्यकार, समाजसुधारक तथा राजनेता उसकी विद्रोही भंगिमाओं को कुचल कर आदर्श हिंदू स्त्री के सांचे में ढालने को कृतसंकल्प है। दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं। एक स्वामी दयानंद सरस्वती की टिप्पणी—''लड़कियों की शिक्षा का चरित्र लड़कों की शिक्षा से भिन्न होना चाहिए।.... हिंदू लड़की को हिंदू लड़कों से भिन्न प्रकृति के कार्य करने होते हैं। अतः मैं उस व्यवस्था को प्रोत्साहित नहीं करूँगा जो उन्हें उनके राष्ट्रीय चारित्रिक गुणों से वंचित कर दे। हम अपनी लड़कियों को ऐसी शिक्षा नहीं देंगे जो उनकी सोच को बदल दे।''[9] दूसरी टिप्पणी लाला लाजपत राय की है— ''अतीत से लेकरवर्तमान तक मेरी, यह दृढ़मान्यता रही है कि पुरुषों में शिक्षा प्रसार की सख्त तथा महत्वपूर्ण जरूरत है परंतु स्त्रियों की शिक्षा उन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कोई सहयोग दे, यह आवश्यक नहीं।''

दुर्भाग्यवश हिंदी साहित्य अंतर्दृष्टि के अभाव में स्त्री शिक्षा के लिए बनाए गए स्त्रियोचित पाठ्यक्रम का अतिक्रमण नहीं कर पाता, किंतु बंगाल की रुकैया सखावत हुसैन फैंटेसी की मदद से 'सुलताना का सपना' (1905) कहानी में एक ऐसे स्त्री-लोक की कल्पना अवश्य करती है जहां स्त्री वैज्ञानिकों ने पुरुषों के उद्धत अहंकार और उपहास को अनदेखा कर स्त्री विश्वद्यिालयों की प्रयोगशालाओं में सूर्य की गर्मी और बादलों की जलराशि को संचित कर लिया है। फिर देश पर आक्रमण के समय देश की परास्त पुरुष सेना को 'जनाना' में बंद कर इन्हीं आविष्कारों को हथियार बना शत्रु से लोहा लेती हैं और जीत हासिल करने के बाद देश और पुरुष-जाति दोनों पर शासन करने लगती हैं। 'पाप और पीड़ा से परे' इस नारी-प्रदेश में 'नेकी का राज' है, प्यार और सच की बुनियाद पर टिका मज़हब है, कुदरत का अनावश्यक दोहन न कर उतना ही उपजाया जाता है जितनी उसकी क्षमता है। हां, मर्दों के पास कोई ताकत और अख्तियार नहीं क्योंकि उनके पास 'सुई में दागा तक डालने की धीरज' नहीं होता। दूसरे, चूंकि उनका नैतिक स्तर भी काफी 'निचला' होता है, इसलिए उनके साथ व्यापार करना भी पसंद नहीं। ज़ाहिर तौर पर यह कहानी औरत के हक में मर्द को नीचा दिखाने के लिए की गई प्रतिक्रियात्मक हरकत कही जा सकती है, लेकिन दो बातों के लिए विशेष स्मरणीय है। एक, शिक्षा का अर्थ तोतारंटत ज्ञान को रोजमर्रा की अनुत्पादक जीवनचर्या में ढाल कर 'सभ्य' पशुवत् जीते चलना नहीं है। शिक्षा व्यक्ति को 'चेतन' करती है और चेतना का अर्थ है विश्लेषण आत्मोन्नयन और स्थिति का अतिक्रमण कर बेहतर समय-समाज का सृजन। शिक्षा व्यक्ति के बौद्धिक एवं भावनात्मक स्तर को उन्नत कर उसे 'मनुष्य' होना सिखाती है और जाहिर है 'मनुष्य' होने का अर्थ अपनी सत्ता को लेकर आक्रांत हुए रहना नहीं, दूसरे की अस्मिता और गरिमा की रक्षा का गुरु दायित्व निभाना है। शिक्षा मनुष्य के रूप में व्यक्ति के समग्र

व्यक्तित्व का निर्माण करती है जहाँ लिंग, जाति, धर्म जैसी विभाजक संकीर्णताएं नहीं होतीं। होती है न्याय-चेतना और विवेक की पुकार। इसलिए सुलताना को नारी प्रदेश की सैर कराती चेतन स्त्री (जिसे सुलताना गलती से सारा आपा समझ बैठती है और फिर सारा आपा ही कहने लगती है) विस्मित है कि सभ्यता की आदिम अवस्था में जीती हिंदुस्तानी स्त्रियां जनाना में बंद होने के लिए तैयार ही क्यों होती हैं? शरीर-बल बुद्धि का मुकाबला कर सकता होता तो शेर और हाथी को वश में करना आसान न होता मनुष्य के लिए। ''अपनी भलाई से आंख मूंद लेने के कारण तुमने अपने पैदाइशी हक को दिए हैं''— सारा आपा का उद्‌बोधन! स्त्री शिक्षा को स्त्री अधिकारों की शिन्ख्त और स्त्री मुक्ति आंदोलन की जरूरत के साथ जोड़ता![10]

इस कहानी में दूसरा उल्लेखनीय बिंदु सारा आपा के मशविरे के रूप में उभरता है कि ''वे (मर्द) कुछ करने लायक हैं ही नहीं। उन्हें तो बस पकड़ कर जनाना में डाल देना चाहिए।'' यह मशविरा पुरुष-द्वेषी स्त्रियों की हिम्मत और हिमाकत को नहीं दर्शाता, जरा सी देर के लिए उन पालों को बदल लेने की ख्वाहिश करता है जिसमें चल रहे सदियों पुराने खेल ने औरत की नाक में नकेल डाल कर बेजान पशु बना दिया है। पाला बदलने (सत्ता हस्तांतरण) की यह कागजी पेशकश ही यदि पुरुष को तिलमिला कर आक्रामक बनाने को काफी है तो क्या इसका सीधा सा अर्थ स्त्री को आरोपित कैद से मुक्त करने का दायित्व नहीं बनता? तसलीमा नसरीन अपनी रचनाओं में कौतुकपूर्वक इसी 'उल्टे खेल' को खेल कर ही तो कट्टरपंथियों की हैवानी हिंसा का शिकार बनी हैं—

(2)

''ऐसा प्रतीत होता है कि अंग्रेज़ों की नीयत हमारे अनंत धर्म को बांझ बनाने की है''[11] बनाम ''जो विधवा विवाह नहीं करती है, उसको पाप तो नहीं होता, पर जो नहीं करतीं, उनको पुण्य अवश्य होता है''[11]

भारतीय नवजागरण आंदोलन का मूल चरित्र सेकुलर नहीं है। मुस्लिम आक्रांताओं और अंग्रेज आकाओं के बीच उसका हिंदुत्व पुराने दर्प और शानो-शौकत के साथ सिर उठाने और विधर्मी का सिर कुचलने को मचलता रहता है। बेशक आत्म साक्षात्कार की ईमानदार प्रक्रिया में वह धर्म के भीतर सन्निहित दुर्बलताओं और जड़ताओं को देख क्षुब्ध है और उन्हें दूर करने को कटिबद्ध भी। राजा राममोहन राय द्वारा सती प्रथा की अमानुषिकता के विरुद्ध अभियान, ईश्वरचंद्र विद्यासागर द्वारा हिंदू विधवाओं की स्थिति में सुधार को लेकर संघर्ष; जोतिबा फुले द्वारा सत्यशोधक समाज की स्थापना, आर्य समाज द्वारा वैदिक धर्म की पुनर्व्याख्या और ब्रह्म समाज द्वारा हिंदू-अंग्रेजी सभ्यता के सम्मिश्रण की प्रगतिशील कोशिशें— भारतीय नवजागरण के सकारात्मक पक्ष को सामने लाती है जहां हिंदू धर्म की जड़ताओं और रूढ़ियों को साफ-साफ पहचानने और फिर उन्हें दूर करने की सजगताएँ स्पष्ट परिलक्षित होती हैं। किंतु आत्मोन्नयन की ये आत्मालोचनात्मक चेष्टाएं उन्नत ग्राफ के रूप में कालांतर में दृष्टिगत नहीं होतीं। इन कुरीतियों को दूर

करने के लिए अंग्रेजी प्रशासन की सहायता से बने कानून कट्टरपंथी हिंदू धर्मावलंबियों के अहं पर करारी चोट करते रहे हैं। ''हम अपने देश को विदेशी की अदालत में अभियुक्त की तरह खड़ा करके विदेशी कानून के अधीन उसका विचार क्यों होने दें? विलायत के आदर्श से एक-एक बात मिला कर हम न लज्जित होंगे, न गौरव ही मानेंगे। जिस देश में जन्मे हैं, उसके आचार,विश्वास, शास्त्र या समाज के लिए दूसरों के या स्वयं अपने सामने जरा भी संकुचित नहीं होंगे। देश का जो कुछ है, सभी को सबल और सगर्व भाव से सिर-माथे पर लेकर देश को और स्वयं अपने को अपमान से बचाएंगे।'' (रवीन्द्रनाथ टैगोर, गोरा, पृ.30) तथा ''मां-बाप की ओर से सुधार सहा जाता है। पहरेदार की ओर से सुधार में सुधार से अपमान कहीं अधिक है। इसलिए वैसा सुधार मानने में मनुष्यत्व नष्ट होता है।'' (वही पृ. 62) रवीन्द्रनाथ टैगोर के 'गोरा' उपन्यास में चित्रित 'हिंदुत्व' वस्तुतः अपने अलगावजन्य पृथक वैशिष्ट्य को जतलाने वाला उद्धत अहंकार भर है। सुचरिता के जरिए लेखक की मान्यता है कि ''सिर पर चढ़ने वाला यह उद्धत 'हिंदूपन' 'सहज प्रशांत भाव नहीं है, अपनी आस्था में परिपूर्ण नहीं है बल्कि सर्वदा दूसरे को चोट पहुंचाने के लिए कमर कसे हुए हैं।' '' (पृ.58) इसलिए आश्चर्य नहीं होता जब वह अभिन्न समझे जाने वाली इकाई-हिंदू एवं भारतीय-में दो फांक करने लगता है- 'प्रत्येक हिंदू के मन में यह चेतना अवश्य जाग्रत होनी चाहिए कि वह हिंदू है, भारतीय मात्र नहीं।'[12] यह गर्वोक्ति एक ओर जहां धार्मिक मामलों में ब्रिटिश सरकार के वर्चस्व को पटकनी देकर उनके अधिकारों को सीमित करती है कि जीवन-मृत्यु के साथ जुड़ी बातों/मुद्दों को छोड़ कर वे भारतीयों के अन्य किसी धार्मिक रीति-रिवाजों एवं कानूनों में हस्तक्षेप नहीं कर सकते, वहीं मुस्लिमों के प्रति सदियों से संचित आक्रोश को वाणी देने का स्पेस भी पा लेती हैं। ''हम राज्य नहीं चाहते, सिर्फ मुसलमान ईश्वर से द्वेष रखते हैं, इसलिए उनका सवंश नाश करना चाहते हैं'' (बंकिम ग्रंथावली, भाग तीन, आनंदमठ, पृ.215)–1772 के संन्यासी विद्रोह की पृष्ठभूमि पर रची बंकिमचंद्र चटर्जी की औपन्यासिक कृति 'आनंदमठ' हिंदू दिलों में पलते मुस्लिम द्वेष के कारण राष्ट्रवादियों की 'गीता' बन जाती है।[13] ''ऐसा भी दिन होगा कि मसजिदें तोड़ कर हम राधा-माधव के मंदिर बनवाएंगे'' (पृ.242) और 'विष्णु पूजा' यानी मुस्लिम बस्तियों में आगजनी का तांडव (पृ. 225)— कहना न होगा कि भारतीय नवजागरण छिन्न-भिन्न हिंदू धर्म के जीर्णोद्धार के राष्ट्रव्यापी लक्ष्य से च्युत होकर उग्र हिंदू राष्ट्रवाद बन जाता है जिसकी अभिव्यक्ति आज बाबरी मस्जिद ध्वंस, गोधरा कांड जैसी कठमुल्ला संकीर्णताओं में हो रही है।

हिंदी पट्टी में नवजागरण की आहटें बंगाल एवं महाराष्ट्र के मुक़ाबले काफी देरी से आई और जब आई तो राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्ति के लक्ष्य से लड़े जाने वाले 1857 के प्रथम स्वतंत्रता आंदोलन के साथ। जाति एवं धर्मगत विद्वेष की सनातन परंपरा के बावजूद यह पट्टी हिंदू-मुस्लिम साझी विरासत को एक महत् मानवीय मूल्यों के रूप में जीने के संस्कार से मंडित रही है। लेकिन बंगाल- महाराष्ट्र से छन कर आती राजभक्ति और उग्र हिंदू राष्ट्रवाद की ध्वनियों ने औसत हिंदू-हृदय में छिपे मुस्लिम द्वेष को खूब हवा दी। भारतेन्दु हरिश्चंद्र 'भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है' जैसे विषय पर विचार करते हुए हिंदू की उदार परिभाषा देकर सेकुलर दिखने की कोशिश करते हैं—''ज़ो हिंदुस्तान में रहे, चाहे किसी रंग, किसी जाति का क्यों न हो, वह हिंदू है'' (भारतेन्दु समग्र, पृ.1013) लेकिन तत्काल अपनी इस मान्यता पर अड़ जाते हैं कि ''सब उन्नतियों का मूल धर्म है। इससे सबसे पहले धर्म की ही उन्नति करनी उचित है।'' हालांकि वे धर्म को समाज-नीति (यानी धर्म का कर्मकांडी स्वरूप) से अलगा कर वास्तविक धर्म का अर्थ

'केवल परमेश्वर के चरण कमल का भजन' बताते हैं, लेकिन साथ ही वैष्णव मत को 'भारतवर्ष की हड्डी-लहू' में मिला धर्म बता कर आर्थिक आत्मनिर्भता और नौकरियों के मामलों में हिंदुओं को 'मुसलमान आदि विधर्मी' से बचने की सलाह देते हैं। मुस्लिम वर्ग से उनका विनम्र निवेदन है—''मुस्लिम भाइयों को भी उचित है कि इस हिंदुस्तान में बस कर वे लोग हिंदुओं को नीचा समझना छोड़ दें। ठीक भाइयों की भांति हिंदुओं से बरताव करें। ऐसी बात जो हिंदुओं का जी दुखाने वाली हो न करें।'' (पृ.1013) स्पष्ट है कि हिंदुत्व के उभार ने उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में राजनीतिक स्तर पर हिंदू-मुस्लिम फंडामेंटलिस्ट ताकतों की साम्प्रदायिक रणनीति को औचित्य दिया; भाषा के स्तर पर हिंदू-उर्दू के बीच धर्म की अभेद्य दीवार खड़ी कर दी; और सामाजिक स्तर पर स्त्री मुद्दों को लेकर छिड़ी व्यापक बहस को आदर्श हिंदू स्त्री की रूढ़छवि में बांध दिया। नौ बरस की उम्र में 'ब्याही' गई इस 'शिक्षित' 'सुयोग्य' कुलवधू के लिए पतृि-पक्ष के पास बस एक ही उपदेश है— मैं तुमसे उसी दिन प्रसन्न हूंगा जब मैं यह सुनूंगा कि तुम्हारी ससुराल वाले तुमसे प्रसन्न है। तुम्हारा पढ़ना-लिखना उसी दिन काम आवैगा जब तुम अपनी सास की आज्ञा में रहोगी.....। अपने धर्म-कर्म पर चलना, ईश्वर को याद रखना। आए-गए का आदर-सम्मान करना, यह अच्छे कुल की बेटियों के धर्म हैं।'' (देवरानी जेठानी की कहानी, पृ.21)

भारतीय नवजागरण का यह एक और बड़ा स्खलन है। उदार चेहरे का मुखौटा लगा कर वह स्त्री की राहों को कीलने का कोई भी जतन नहीं छोड़ता। ईश्वरचंद्र विद्यासागर 1850 में विधवा पुनर्विवाह कर लगे प्रतिबंध को समाप्त करने के लिए अभियान चला कर 1856 में एतद्विषयक कानून पारित अवश्य करा लेते हैं, किंतु समाज इसे मुक्त हृदय से भी स्वीकार नहीं कर पाया। यह बात इस तथ्य से पुष्ट होती है कि कानून पारित होने के बाद 40 वर्षों में कुल पांच सौ विधवा विवाह ही सम्पन्न हो पाए। भारतेन्दु की धर्मग्रहीता मल्लिका 'कुमुदिनी' (संभावित रचना काल 1878-1880 के बीच) आख्यायिका में विधवा नायिका कुमुदिनी का पुनर्विवाह अवश्य कराती हैं, लेकिन इस टिप्पणी के साथ कि यह समाज स्वीकृत प्रथा नहीं है, वरन् बेहद 'गोपनीय कार्य' है। स्वंय लेखकों और बुद्धिजीवियों में विधवा पुनर्विवाह को लेकर घोर आपत्तियाँ थीं। दयानंद सरस्वती केवल संतानहीन विधवाओं के ही पुनर्विवाह के पक्षधर थे तो 'साखी समिति' (1886) की संस्थापक स्वर्णकुमारी देवी उन्हें पढ़ा-लिखा कर स्त्री शिक्षा के महायज्ञ में लगा देने की। पारिवारिक सम्पत्ति में हिस्सेदारी के कारण आंख की किरकिरी की तरह चुभती इस विधवा के जबरन केश काट कर फेंकना, एकवस्त्रा रहकर भूखे-उपासे जीवन जीने का अभ्यास करना, मांगलिक कार्यों के समय अपनी सूरत तक न दिखाना और घर के अंधेरे निर्जन कोनों में ही घर के पुरुष सदस्यों की वासना का शिकार होते रहना- विधवा के यातनापूर्ण जीवन के कठोर तथ्यों पर समाज और समाजसुधारकों का ध्यान नहीं जाता। अंतर्मन में हावी रहता है यह संस्कार कि पति के प्रति अवज्ञा एवं अ-निष्ठा रखना या पूर्वजन्म में उसकी हत्या जैसे जघन्य अपराधों के दंडस्वरूप ही वैधव्य भोगती हैं स्त्रियाँ। इसलिए वे उनके कष्टों से नहीं पसीजते, चौंक कर अपमान से तब बिलबिलाते हैं जब बाल विधवाएं गर्भवती हो जाती हैं। जब वे विधवाएं नहीं, पापिष्ठा और दुश्चरित्राएं हैं जिनकी जगह कुआं-तालाब है, वृंदावन-काशी या चकलाघर। उल्लेखनीय है कि 18वीं सदी के उत्तरार्ध में इन निस्सहाय विधवाओं को आश्रय देने के लिए आगे बढ़े हाथ स्त्रियों-सावित्री बाई और रमाबाई- के ही थे। पं. रमाबाई ने 1889 में हिंदू विधवाओं के लिए 'शारदा सदन' तथा पथभ्रष्ट स्त्रियों व उनकी संतान के लिए 1898 में 'कृपा सदन' की नींव रखी। 'शारदा सदन' में रहने वाली विधवा गोधूबाई से ही विधुर

कर्वे ने पुनर्विवाह किया था। लेकिन विधवा जीवन के अंधेरे पक्ष को देखने से इंकार करते हुए बंकिमचंद्र चटर्जी जैसे राष्ट्रवादी साहित्यकार विधवा पुनर्विवाह के अधिकार को कभी सहानुभूति नहीं दे पाए[14] और न ही ईश्वरचंद्र विद्यासागर को क्षमा।[15]

भारतेन्दु बंकिम की चिंतन-परंपरा को हिंदी पट्टी तक ले आते हैं। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में भारतेन्दु बहस के आवरण में लिपटे शालीन ऊहापोह के साथ बंकिम की मान्यता को समर्थन देते हैं कि विधवा विवाह भले ही शास्त्रसम्मत हो, समाजसम्मत नहीं है। विधवा विवाह के समर्थन में शास्त्रों से उद्धरण जुटाते बंगाली बाबू के तर्कों को निरस्त करते पुरोहित महोदय का दर्पा अवलोकनीय है—''कितने साधारण धर्म ऐसे हैं कि जिनके न करने से कुछ पाप नहीं होता।..... इसी तरह (विधवा) पुनर्विवाह भी है। इसके करने से कुछ पाप नहीं होता और जो न करै तो पुण्य होता है। इसमें प्रमाण श्री पाराशरीय स्मृति में..... इस वचन से, और भी बहुत जगह शास्त्र में आज्ञा है, सो जो विधवा विवाह करती है, उनको पाप तो नहीं, पर जो नहीं करतीं, उनको पुण्य अवश्य होता है और व्यभिचारिणी होने का जो कहो सो तो विवाह होने पर भी जिसको व्यभिचार करना होगा सो करैगी ही।'' (भारतेंदु समग्र, 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', पृ.311) उल्लेखनीय है कि भारतेन्दु का विलोम रचते हुए उनकी प्रणयिनी मल्लिका 'कुमुदिनी' में विधवा विवाह के समर्थन का बोल्ड निर्णय लेती हैं। मल्लिका हिंदी साहित्य में संजीदा रचनाकार के रूप में नहीं उभरतीं। उनकी मूल संवेदना रोमांटिक प्रेम की प्रतिष्ठा करना है। बेशक इस परंपरागत विषय को वे पारंपरिक ढंग से प्रेम-बिछोह-मिलन के रूढ़कथा ढांचे के आधार पर अभिव्यक्त कर सकतीं थीं। लेकिन नायिका को विधवा बना कर संयोग-संघर्ष-प्रतिरोध की मार्मिक कथा बुनते हुए वे जब अभीप्सित लक्ष्य (नायक-नायिका मिलन) तक पहुंचती हैं तो उनकी रचना औसत दर्जे की प्रेम-कहानी न रह कर ज्वलंत सामाजिक मुद्दे के पक्ष में दृढ़तापूर्वक अपनी व्यक्तिगत राय दर्ज करने वाली लेखिका का नैतिक संकल्प बन जाती है। लेकिन मल्लिका सरीखी रचनाकार हिंदी साहित्य के मेनस्ट्रीम में नहीं हैं। वे हाशिए पर डाल कर भुला दी जाने वाली शख्सियत हैं।

जाहिर है पुनर्विवाह न करके 'पुण्य' कमाने वाली सती स्त्रियों की स्तुति में अमूर्त भावोच्छवासों को स्त्री होने की पहली और आखिरी शर्त बना दिया जाता है—''नारी क्षमामयी, दयामयी और स्नेहमयी है। ईश्वर की कीर्ति का चरम विकास है, देवता की छाया है, देवता की सृष्टि है नारी। नारी प्रकाश है, पुरुष छाया है। प्रकाश क्या कभी छाया को छोड़ सकता था?'' (कृष्णकांत का विल, पृ. 400) उल्लेखनीय है कि बंकिमचंद्रीय ये स्तुतियां प्रेमचंद में भी दिखाई देती हैं जहां 'गोदान' में वे स्त्री को लेकर गद्‌गद् भाव से कहते हैं — ''स्त्री पुरुष से उतनी ही श्रेष्ठ है जितना प्रकाश अंधेरे से। मनुष्य के लिए क्षमा और त्याग और अहिंसा जीवन के उच्चतम आदर्श हैं। नारी इस आदर्श को प्राप्त कर चुकी है।... मैं कहता हूं उस (पुरुष) का सारा अध्यात्म और योग एक तरफ और नारियों का त्याग एक तरफ।'' आज की इक्कीसवीं सदी का अहम्मन्य पुरुष-मानस भी इन्हीं स्तुतियों के आलोक से बाहर स्त्री को देखना नहीं चाहता क्योंकि इन स्तुतियों के जाल में बंद फड़फड़ाते परकटे पंछी से अधिक हैसियत नहीं उसकी। स्त्री की महिमा का पोषण करती ये स्तुति-मुद्राएं एक अन्य तरीके से विधवाओं की मानवीय अस्मिता के विरुद्ध समाज में नकारात्मक प्रचार भी करती हैं। पं. रमाबाई अपनी पुस्तक 'द हिंदू स्त्री का जीवन' (1887) में लोक में प्रचलित एक स्त्रीद्वेषी संवाद को उद्धृत करती हैं जहाँ दुनिया में सबसे क्रूरतम शै का नाम गिनाया गया है।

—'पुत्रहीन, निर्धन विधवा का हृदय।' (पृ.65) ताराबाई शिंदे पं. रमाबाई, अज्ञात हिंदू महिला तथा दुखनी बाला- इन चारों विधवाओं के लेखन से गुजर कर एक हैरतअंगेज तथ्य सामने आता है कि हिंदी एवं हिंदीतर भाषाओं का पुरुष समाज इन विधवाओं की आत्माभिव्यक्ति सवालों, धर्म एवं शास्त्र की पुनर्व्याख्या, मानवीय, गुहारों, हक की लड़ाई और पितृसत्तात्मक व्यवस्था की अमानुषिकता के प्रति उनके रोष पर कान भी नहीं देना चाहता। बल्कि क्रूर सत्य तो यह है कि इन विद्रोही स्त्रियों की आवाज को वे बाहर ही बाहर घोंट देना चाहते हैं ताकि अंतःपुर में कैद 'पालतू' स्त्रियां 'बिगड़' कर स्त्री धर्म का पालन करना न छोड़ दें। इसलिए आश्चर्य नहीं होता कि उस काल में इन चारों रचनाकारों, विशेषतः हिंदी पट्टी की अज्ञात हिंदू महिला (जिनकी 1882 में रचित पुस्तक 'सीमंतनी उपदेश' को डॉ. धर्मवीर ने 1984 में खोज निकाला) और दुखिनीबाला (जिनकी जुलाई 1915 मार्च 1916 तक 'स्त्री दर्पण' में धारावाहिक रूप से प्रकाशित पुस्तक 'सरला : एक विधवा की आत्मजीवनी' के प्रज्ञा पाठक ने 2005 में 'कथादेश' में प्रकाशित कराया) को साहित्यिक परिदृश्य से गायब ही कर दिया गया।

(3)

''जैसे गन्ने का रस निकाल लेने से छिलका रह जाता है, वैसे ही हमारी हालत है''[16] बनाम ''अब हमको खुद इस जेलख़ाने से निकलने की तदबीर करनी चाहिए''[17]

ये चारों लेखिकाएं विधवा पुनर्विवाह की हिमायती हैं लेकिन पत्नी की मृत्यु के तुरंत बाद ब्याह का आयोजन करती पुरुष की कुत्सित कामलिप्सा से क्षुब्ध हैं। नैतिकता के दोहरे मानदंड उन्हें आग की तरह सुलगा कर भस्मीभूत किए जा रहे हैं। ''तुम अपनी पत्नियों की मृत्यु के उपरांत अपने मुंह पर कालिख पोत कर, दाढ़ी-मूंछ मुंडवा कर अरण्यवास क्यों नहीं स्वीकारते?'' (ताराबाई शिंदे, स्त्री-पुरुष तुलना, पृ. 26) ताराबाई अखाड़े में ताल ठोंक कर ऐसी निर्लज्ज नैतिकता को पटकनी दे देना चाहती हैं तो अज्ञात हिंदू महिला शास्त्रार्थ की मद्रा में शास्त्रों की ही विसंगतियां सतह पर ले आती हैं। शास्त्रों के अनुसार यदि स्त्री-पुरुष दोनों की उत्पत्ति ब्रह्मा से हुई है तो यह कैसा इन्साफ कि ''आधा जिस्म मर्द का औरत के मरने से दूसरी शादी कर सके और आधा जिस्म औरत का शादी बगैर जेलखाने में मार दिया जाये।'' (सीमंतनी उपदेश, पृ.76) व्यक्तिगत तौर पर अज्ञात हिंदू महिला विधवा पुनर्विवाह से सहमत नहीं। 'पुरुष की हर रोज की मार खाने से रांड रहना अच्छा है' शीर्षक निबंध में वे संतानवती विधवाओं को तो पुनर्विवाह के लिए हतोत्साह करती ही हैं, पति की हिंसा से बचने के लिए भी अकेले रहने को बेहतर विकल्प मानती हैं। सैद्धांतिक तौर पर वे विधवाओं पर ढाए जाने वाले अत्याचारों के खिलाफ खड़ी हैं। वे जन सामान्य/ ब्रिटिश सरकार को बता देना चाहती हैं कि भले ही सती प्रथा देश में समाप्त हो गई है, लेकिन हिंदू घरों में विधवाओं को तिल-तिल जला कर सती करते रहने की प्रक्रिया बदस्तूर जारी है। (पृ.97) 'रांडों पर सितम' शीर्षक निबंध में वे बताती हैं कि पंजाब में विधवा को इतनी अमानुषिक

यातनाएं दी जाती हैं कि वह स्वयं ही तड़प-तड़प कर मर जाए। (पृ. (89-97) पति की मृत्यु होते ही नाखून द्वारा नाक, कान, गले, पांव और बांह के सारे जेवर उतारे जाते हैं, कांच की चूड़ियों को पत्थर से फोड़ा जाता है चाहे इस प्रयास में कलाई लहूलुहान ही क्यों न हो जाए; अर्थी उठने पर दो नाइनों के साथ उसे मुंह-सिर लपेट कर दरिया नहलाने ले जाया जाता है। एक नाइन आगे रास्ता प्रशस्त करती चलती है ताकि सधवा इसका मुंह न देख सके। दरिया या तालाब में उसे कपड़ों समेत धक्का दे दिया जाता है और जब तक सब स्त्रियां नहाने-मुंह हाथ धोने का दस्तूर पूरा कर वहां से रवाना नहीं हो जातीं, उसे उसी तरह पानी में पड़े रहने को मजबूर किया जाता है। नहाने के बाद उन्हीं ग़ीले कपड़ों में घर की ओर रवानगी होती है— माघ का महीना हो तो भी ठंड से बचाने की कोई जुगत नहीं। घर पहुंच कर उन्हीं गीले कपड़ों में अलग एक कोने में बैठा दी जाती है। खाना और पानी जैसी जरूरतों की ओर ध्यान देने का तो सवाल ही नहीं। दुनिया भर की बदरहमियों में सिकुड़ी यह विधवा सात बरस की हो या सत्तर की, अगर मरती नहीं तो जिंदों में भी नहीं रहती। लेखिका कुछ अंतर्विरोधों की ओर इशारा भी करती है कि मां अपनी विधवा लड़की को जेवर जरूर पहनाती है क्योंकि नंगी-बुच्ची बेटी को देख कर उसका कलेजा फटता है, लेकिन मन में अंगड़ाई लेती कामनाओं को पहचान कर उसके पुनर्विवाह का उद्योग नहीं करती क्योंकि वह धर्मपरायणा है। अज्ञात हिंदू महिला इस पाखंड पर जल कर आग-भभूका हो जाती हैं—"वाह री समझ! कोई पूछे इनसे, जब आप पलंग पर गर्म होता हैं, उस वक्त लड़की के मन का क्या बंदोबस्त करती हो? सच है, जेवर बिना नहीं देखी जाती, खाविंद बगैर देखी जाती है। खाविंद बिना उम्र कट जाएगी, जेवर बिना कटनी बड़ी मुश्किल है।" (पृ. 95) लेखिका प्राणपण से जतन करती हैं कि विधवाओं से तमाम लौकिक खुशियाँ छीन लेने वाली रिवायतों के खिलाफ जन-चेतना पैदा की जाए। वे उन्हें धिक्कारती भी हैं और पुचकारती भी हैं कि 'ऐ हिंद की विधवाओं को मारने वालियों, क्यों अपने वास्ते कांटों को फूल समझती हो— एक ऐसी वहमी रिवाज के पीछे जिसका न किसी मजहब से ताल्लुक है, न..... हिंदुओं की किताब में इसका जिक्र है। महाभारत, जिसमें बेशुमार रांड हुई, कहीं इस रस्म का नामोनिशान नहीं पाया जाता।फिर न मालूम आप कौन से धर्मशास्त्र की रीत पर किस पंडित के कहने से इन जान लेने वाली बदरस्मों को नहीं छोड़तीं।" (पृ. 97) वे इस बात पर बार-बार बल देती हैं कि विधवा पुनर्विवाह वैध है। यदि इन्द्रिय संयम रखना कठिन हो तो पथभ्रष्ट होने की अपेक्षा विवाह कर लेने में कोई हानि नहीं।

विधवाओं की स्थिति पर विचार करने के अतिरिक्त अज्ञात हिंदू महिला के स्त्री-प्रश्न पर दो सरोकार खास ध्यान खींचते हैं। एक, विवाह संस्था का पुनरीक्षण, और दूसरे, पति-पत्नी के रूप में स्त्री-पुरुष समानता की अवधारणा पर बल। इसके लिए वे हिंदू शास्त्रों से भी टकराती हैं और मूर्ख स्त्रियों को फटकारने में भी कोताही नहीं करतीं। विचित्र लग सकता है कि अज्ञात हिंदू महिला जिस कड़क आवाज में आंदोलनधर्मी जनून के साथ विधवा पुनर्विवाह की पैरवी करती हैं, उसी उत्साह के साथ विधवाओं को विवाह-मंडप तक ले जाने की अगुवाई करती प्रतीत नहीं होतीं। यह उनकी कथनी-करनी का अंतर नहीं, वरन् हिंदू समाज में विवाह संस्था के अमानुषिक स्वरूप की पड़ताल के बाद उभरा निष्कर्ष है। लेखिका इक्कीसवीं सदी की स्त्रीवादी चिंतक की भांति विवाह संस्था के मौजूदा दमनकारी स्वरूप से क्षुब्ध भर ही नहीं, वरन् उसके खिलाफ अपनी पुरजोर आपत्ति भी दर्ज कराती हैं। "शादी करने से अपने अखत्यारात दूसरे के अखत्यार में देने पड़ते हैं। जब आपने जिस्मी अखत्यार दूसरे को दिए तब दुनिया में अपनी क्या

चीज बाकी रही? अगर इस दुनिया में कुछ खुशी है तो उन्हीं को है जो अपने तई आजाद रखते हैं। हिंदुस्तानी औरतों को तो आजादी किसी हालत में नहीं हो सकती। बाप, भाई, बेटा, रिश्तेदार-सभी हुकूमत करते हैं। मगर जिस कद्र खाविंद जुल्म करता है, उतना कोई नहीं करता। लौंड़ी तो यह सारी उम्र सब ही की रहती है, पर शादी करने से बिल्कुल जरखरीद हो जाती है।'' (पृ. 84-85) उन्हें लगता है कि रंडापा ओढ़कर दूनी उम्र जीने वाली विधवाओं की निर्लज्जता को लेकर समाज में जो मिथक फैला है, वह सही है। फर्क यह है कि समाज इसे तिरस्करणीय दृष्टि से देखता है और लेखिका एक ठोस और श्लाघनीय सच्चाई के रूप में। वे मानती हैं कि ताकतों का जाया न होना और आजादी के सुख को भोगना— इसी का नाम रंडापा है। इस प्रकार मीराबाई के बाद वे हिंदी की दूसरी स्त्री विमर्शकार हैं जो पातिव्रत्य धर्म की चुंधियाती रोशनी के पीचे छिपे जानलेवा अंधेरों को साफ-साफ देख सकी हैं। वे मानती हैं कि हजार में दस दम्पत्ति ही सही मायने में सुखी दाम्पत्य जीवन भोगते होंगे। शेष सब ''जूतीबाजी का तमाशा पड़ोसियों को दिखाया करते हैं।'' उनकी दृष्टि में विघटित सम्बन्ध का कारण है पुरुष का व्यभिचारी स्वभाव। विवाह का अर्थ यदि पति की लातें खाकर उन चरणों को पूजना है तो अज्ञात हिंदू महिला डट कर इस विवाह संस्था का विरोध करती हैं। वे खुल कर कहती हैं—''शादी से बड़ी-बड़ी तकलीफें उठानी पड़ती हैं।'' (पृ. 84) फलतः विधवाओं को चेता देना चाहती हैं कि पहले दूसरों के मजबूर करने पर जिस काम में दुख उठाया, अब उसी बला को जानबूझ कर अपने ऊपर लेने में क्या बुद्धिमानी है।

चूंकि अज्ञात हिंदू महिला स्त्री को विवाह संस्था की जकड़न से मुक्त एक स्वतंत्र मनुष्य के रूप में देखने का विवेक अर्जित कर पाई हैं, इसलिए वे सधवाओं की रोज़मर्रा की गतिशीलता को बाधित करते भारी-भरकम ज़ेवरों और सुहाग-चिन्हों के विरुद्ध बोलने का साहस बटोर पाई हैं। सिर से पैर तक आभूषणों से लदी स्त्री उनके लिए न सौन्दर्य के मानक गढ़ती है, न पति की सम्पन्नता की मिसाल पेश करती है वरन् वह उन्हें कैदी या ढोर-डंगर की याद दिलाती है जिसे मालिक द्वारा बोझ से लाद दिए जाने पर भी काम करते रहना पड़ता है। तिरस्कारपूर्ण उपहास के साथ वे एक-एक जेवर का परिचय देती चलती हैं। मसलन हाथी के पांव की सांकल सरीखी पांवों की सांकल; कैदी की हथकड़ी जैसे हाथों के कड़े; नकेल सरीखी नाक की जंजीर। सिर पर खूंटे के मानिंद गाड़े जाने वाला जेवर 'चौक' और उसके साथ एड़ी तक लटकता परांदा-सोने में कितनी ही तकलीफ क्यों न हो, पति के जीते जी इस सुहाग-चिन्ह को बदन से अलग करना संभव नहीं। पांव की उंगली के मांस को गला डालने वाला 'बिछुवा'। माथे पर बेंदी, बैना, तावीज, झूमर, मोरनी, चांद, शीशफूल, जिनकी कशिश से खून नसों में आने-जाने से रुक जाता है। कानों में चलनी की मानिंद छेद कर पिरोए गए पत्ते, बाली, बूंदे, चांद, मछ, झुमके, कर्णफूल, ठेंठी, ढेडू, डंडी, तदोड़े- कान कट कर पीप-मवाद की नदियां न बहाएं तो क्या करें। गले में गुलूबंद, कंठा, जुगनी, चंपाकली, मालाहार, तिलड़ी, दोलड़ी, पचलड़ी, सतलड़ी, पानहार, हमायल, गुलूबंद, बद्धी; पांवों में कड़े पाजेब, छड़े, बांक, गुजरी, अनोखे, रमझोल, नूपुर-कम से कम पांच-पांच सेर का बोझ एक-एक पांव में फिर पगापन- एक जेवर जो पांवों के ऊपर जंजीरों से बांध दिया जाता है। पांव उठाना तो दरकिनार, एक बालश्ति भर कदम रखना भी संभव नहीं।

आभूषण-चर्चा के बाद वे स्त्री समाज को सवालों से रू-ब-रू कराना चाहती हैं। एक, ज़ेवरों को सुहाग के साथ जोड़ने की कुरीतियों की निरर्थकता; और दूसरे, अपनी मुक्ति के लिए अकेले लड़ायी

लड़ने की नैतिक क्षमता। ताराबाई शिंदे की तरह बेहद कड़वाहट और आक्रामकता के साथ वे धर्मशास्त्रों और पुरुष वर्चस्व के खिलाफ आग उगलती हैं कि सुहागिन स्त्रियों को यदि ये सब जेवर कारण करने की बाध्यता है तो 'सुहागे मर्दों' को क्यों नहीं; कि क्या हिंदुस्तानी मर्दों के प्राण स्त्रियों द्वारा धारण कि गए जेवरों में ही निहित हैं? यदि हां , तो ब्याह होने से पहले तक वह किसके सगुन करने से जीता रहता है और स्त्री की मृत्यु के साथ क्यों नहीं मर जाता? वे तर्क देती हैं कि सुहाग-जिन्ह धर्मशास्त्रों ने नहीं बनाए हैं—''फिर मैं पूछती हूँ—कौन से धर्मशास्त्र में इसका पहनना सुहाग में दाखिल है? मनुस्मृति....के कौन से अध्याय में इस नाक काटने वाली (नथ) का जिक्र है? और विवाह पद्धति के कौन से श्लोक में लिखा है? ... बस साफ जाहिर हो जाएगा कि यह रस्म पुरखों की बनाई नहीं,यह आप ही की ईजाद है।'' (पृ.51) लेकिन यदि बनाई भी हो तो जड़-जर्जर कुरीतियों को दूर करने में देरी ही क्यों? ''जैसे उन्होंने (हमारे पूर्वजों) अपने बड़ों की अच्छी रस्म तोड़ बुरी रस्में निकालीं क्योंकि यह रस्म पुरानी किसी किताब में नहीं.. तुमको भी चाहिए जो खराब दुःख देने वाली रस्म हैं, उनको तोड़ अच्छी रस्म निकालो,... तुम उनकी पैरवी न करो। जैसी उसकी अकल थी, वैसी उन्होंने रस्म निकाली। परमेश्वर की कृपा से तुम भी अकल रखती हो... खूब याद रखो, जब तक खुद इन बेड़ियों को न उतारोगी....जब तक खुद अपने ऊपर रहम न करोगी, मुमकिन नहीं कि हिंदुस्तानी तुम पर रहम करें।'' (पृ.51-56)

'सीमंतनी उपदेश' के लेखों से ज्ञात होता है कि अज्ञात हिंदू महिला न केवल सुशिक्षित थीं, अपितु स्त्री मुद्दों के साथ संजीदगी से जुड़े समाजसुधारकों के निरंतर साहचर्य में भी थीं। वे स्वामी दयानंद सरस्वती से बेहद प्रभावित हैं और आश्वस्त हैं कि आर्यसमाज की स्थापना से हिंदुस्तान से जहालत का पर्दा उठाने और स्त्रियों को 'अविद्या के घोर सागर से निकालने' का मिशन वे अवश्य पूरा कर लेंगे। वे स्त्री-मुक्ति के लिए स्वयं स्त्रियों को आगे आने का आह्वान भी करती हैं—''अब हमको खुद इस जेलखाने से निकलने की तदबीर करनी चाहिए.....बेशक, पहले हमारी हिंदी बहनों को बुरा मालूम होगा मगर ज़रा ग़ौर को दिल में जगह देंगी तब खुद मालूम कर लेंगी कि हम पर किस कद्र मुसीबत है।'' (पृ. 45) लेकिन फिर भी प्रश्न शेष रहता है कि स्त्री की पीड़ा और आरोपित नियति के कारणओं को तफसील से जानते हुए भी लेखिका ने स्वयं सावित्रीबाई फुले या रमाबाई की तरह घूम-घूम कर स्त्रियों को जाग्रत करने का प्रयास क्यों नहीं किया? पंजाब में उस समय आर्यसमाज से दीक्षित उपदेशिकाएं स्त्री-जागृति प्रसार में योगदान दे रही थीं। भगवती माई का नाम इस दिशा में विशेष रूप से लिया जाता है।[18] या हो सकता है पुस्तक की तरह उनके सक्रिय योगदान को भी पितृसत्तात्मक व्यवस्था की दीर्घायु और कुलवधुओं के स्वास्थ्य के लिए नजरअंदाज कर दिया गया हो क्योंकि पुस्तक में संग्रहीत निबंधों की शैली में भावना,आक्रोश, उद्‌बोधन, का जो अतिरेक है, वह एकांत में बैठ कर लिखे गए निबंधों की शैली से मेल नहीं खाता। ये निबंध भाषण और प्रचार की शैली में रचे गए हैं जहां भावनाओं को उभार कर अपने संदेश को आरोपित करना प्रमुख लक्ष्य रहता है, स्थिति का समग्र एवं गहन विश्लेषण कर पूरी समाजशास्त्रीय व्यवस्था की पड़ताल करना नहीं। बहरहाल, भड़काऊ अंदाज में कड़वा सच बोल-लिख कर स्त्रियों को उकसाने (चेतन करने) के अपराध में अज्ञात हिंदू महिला ने एक लंबे अरसे तक हिंदी साहित्य से निर्वासन का दंड तो भोगा ही।

(4)

''मनुष्यों में इतना नैतिक बल नहीं कि एक बात को सरासर बेजा समझते हुए भी उसे छोड़ दें''[19] बनाम ''यहाँ पुरुष सर्व सुखों का अधीश्वर नहीं है और न स्त्री अंतःपुरबद्धा दासी ही है।''[20]

'सीमंतनी उपदेश' में जिस संयम और गंभीरता का अभाव है, वह तेंतीस वर्ष बाद प्रकाशित 'सरला : एक विधवा की आत्मजीवनी' शीर्षक औपन्यासिक कृति में पूरे चरमोत्कर्ष के साथ दिखाई देता है। स्त्री की नारकीय स्थिति के लिए पुरुष अथवा धर्मशास्त्रों को दोषी ठहराने की बजाय यह पुस्तक पितृसत्तात्मक व्यवस्था की आंतरिक संरचना की जांच कर लेना चाहती है जो जन्म या जन्म से पूर्व गर्भ में स्त्री-पुरुष की हीनता-श्रेष्ठता का निर्धाण करती है। लेखिका दुखिनी बाला ने दुख के सागर में डूबते-उतराते इस पड़ताल को अंजाम नहीं दिया है, बल्कि पहले दुख को विश्लेषण के साथ गूंथ कर अंतर्दृष्टि के रूप में पाया है और फिर पश्चिमी ज्ञान और भारतीय शास्त्रों में रुंधे-गुंधे पूर्वग्रहों की निस्सारता को बताया है। स्त्री-पुरुष समानता की अवधारणा को प्रतिपादित करते हुए वे स्त्री-पुरुष के बीच छिड़ी वैचारिक लड़ाई को बढ़ावा नहीं देती, बेहद निःसंग दृष्टि से स्त्री की हाशियाकृत स्थिति की ओर संकेत कर देती हैं। आक्रामक और हावी होने के हठ का अभाव उनकी रचना को वस्तुपरक एवं तर्कसंगत बना देता है। यह एक एक ऐसी विशिष्टता है जो किसी एक खास पाले में खड़े होकर रची गई उस युग की उद्‌बोधनात्मक रचनाओं से पृथक अपनी कोटि स्वयं बनाती हैं।

'सरलाः एक विधवा की आत्मजीवनी' अपने वक्त से आगे की रचना है। स्मृतियों में डूबती-उतराती लेखिका बेहद मितव्ययिता के साथ अपने भीतर बैठी दस बरस की अबोध बालिका के इम्प्रैशंज दर्ज कर रही है जो विधवा होने का अर्थ तक नहीं जानती, 15 वर्ष की अवस्था में जमीन-जायदाद से सम्बन्धित कागजात पर दस्तखत करने के लिए पहली बार ससुराल पहुंचने पर मालूम होता है कि विधवा का अर्थ कुलक्षिणी है, अभागिनी है,कुछ समय बाद छोटे भाई मोहन के ब्याह के वक्त आत्मीय जनों की चौकस वर्जनाओं के बीच वह अपनी नियति और निर्वासन दोनों को साफ-साफ देख प्रश्नाकुल है कि ''यह कैसा और कहां का न्याय है?.... यदि विधवा होने में मेरा दोष होता तो विधवा होने के पहिले मैं अपना ही खात्मा क्यों न करती? मुझे विधवा मान कर समाज ने अन्याय किया है, किंतु वह सुखी है। सुखी ही नहीं, मुझ पर अन्याय करने में मग्न है और तनिक भी कुंठित नहीं होता।..... वह यह नहीं समझता कि शरीर का यदि एक अंग भी हीन रहा है तो आज नहीं तो कल समस्त शरीर नष्ट हो जाएगा।'' (पृ.43) लेकिन अपनी क्षति से ज्यादा व्यथित इस बात पर है कि पुत्रवधू लाडली की अकाल मृत्यु पर कोई शोक क्यों नहीं करता, 'स्यापा' के नाम पर जुट कर बैठी 'स्त्रियों की पार्लियामेंट' क्यों मोहन के पुनर्विवाह हेतु संभावित वधुओं की सूची सुझाने लगती हैं? पति की मृत्यु पर उसकी जिंदगी अंधकारमयी हो गई, लेकिन लाडिली की मृत्यु से मोहन के उल्लास, भविष्य और जीवन-शैली में कोई परिवर्तन क्यों नहीं आया? क्या इसलिए कि ''नर तन बड़ा स्वार्थी है....जतना सम्बन्ध होता है, जितना प्रेम होता है, जितना स्वार्थ होता है..... उसी के अनुसार या उतनी ही माप में हमें दुख पहुंचता है'' (पृ. 52)? लेकिन

यह मत मोहन/पुरुष का है। तो क्या सचमुच नर तन—स्त्री-पुरुष/व्यक्ति-स्वार्थी होता है? हर एक के दुःख-सुख के परिमाप और परिस्थितियाँ अलग-अलग होते हैं? लेकिन परस्पर पूरक कही जीने वाली इकाइयों में अलगाव क्यों? सब जानते हैं कि स्त्री-पुरुष की जैविक भिन्नता सृष्टि की निरंतरता के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु स्वयं प्रकृति-प्रदत्त है, फिर इसमें हीनता-श्रेष्ठता का आरोपण क्यों? बस, बुद्धिमती सरला ही नहीं समझ पाती कि समान मानसिक शक्तियों के बावजूद पुरुष का मान अधिक क्यों? निरंतर विश्लेषण की गहराइयों में अवगाहन करते हुए वह शिक्षा द्वारा अर्जित ज्ञान से इस तथ्य को हस्तगत करती है कि एकमात्र अर्थोपार्जन के मामले में स्त्री पुरुष से पिछड़ी हुई है। तो क्या उसकी पराधीनता का कारण भी यही है? यहां लेखिका पर मार्क्सवादी विचारधारा का प्रभाव लक्षित किया जा सकता है। वे उन्हीं की तरह बल देकर स्त्रियों की आर्थिक स्वाधीनता के जरिए पितृसत्तात्मक व्यवस्था के चेहरे को बदलने का स्वप्न संजोती प्रतीत होती है— ''यदि वह भी उपार्जन करती होती तो पुरुष के समान बाजार में उसका भी मूल्य होता और.... समान आदर की अधिकारिणी भी वह होती।'' (पृ.49) लेकिन यह उनकी विचार-प्रक्रिया का एक पड़ाव भर है। मार्क्सवादियों की तरह वे स्त्री श्रम को उत्पादक कार्यों से काट कर अनुत्पादक कार्यों में लगा कर अलक्षित करना या उत्पादक कार्यों में लगे स्त्री-श्रम को उचित मूल्य-महत्व न देना आदि तथ्यों पर वे दृष्टि केन्द्रित नहीं करतीं। किसी भी विचारधारा के प्रति अ-प्रतिबद्ध दृष्टि उन्हें पुरुष को शोषक-स्वार्थी रूप में देखने का संस्कार ही नहीं देती। बल्कि वे मानती हैं कि 'पुरुष ने प्रेम में पड़ कर स्त्रियों को संसार के कर्मक्षेत्र से अलग कर दिया और स्त्री भी प्रेम के प्याले में मदोन्मत्त हो अपने विशेष कर्त्तव्य को भूल गई और गृह की अधिष्ठात्री देवी बन कर पीछे रह गई और इस प्रकार हीन हो गई।''(पृ.57) लेखिका की इस मान्यता के पीछे धार्मिक-सांस्कृतिक पूर्वग्रह और संस्कारग्रस्तता को चीन्हना कठिन नहीं रहता। यह एक ऐसी मानसिकता है जो कर्मक्षेत्र (प्रत्यक्ष अर्थोपार्जन) से कटी स्त्री को आरामतलब और खुदगर्ज मानते हुए स्त्री विमर्श के वर्तमान स्वरूप पर ही प्रश्नचिन्ह लगा देती है। 'सरलाः एक विधवा की आत्मजीवनी' की महत्ता आत्मकथा है शैली में अपने वैधव्य पर क्रंदन कर सामाजिक सहानुभूति बटोरने में नहीं है। वस्तुतः यह आत्मकथा ही नहीं। यह डिबेट और फैंटेसी जैसी नई कथा-शैली का उपयोग करके स्त्री-पुरुष की समानता की अवधारणा को सिद्ध करने के लिए रची गई औपन्यासिक रचना है। डिबेट इसलिए ताकि युगीन विसंगतियों, यथास्थितिवादियों और वैचारिक संकीर्णताओं से जिरह करके क्रमशः उस दूसरे पक्ष को उद्घाटित किया जा सके जिसे वे हठपूर्वक देखने से इंकार करते हैं। फैंटेसी इसलिए ताकि समसामयिक जड़ताओं का अतिक्रमण कर एक 'मनुष्य लोक' की रचना का 'आनंद' पाया जा सके जहां स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व सही मायने में लैंगिक लोकतंत्र की स्थापना करते हों। स्त्री को पुरुष निरपेक्ष लैंगिक इकाई के रूप में देखने का आग्रह करती यह हिंदी की पहली स्त्रीवादी रचना है जिसमें रुकैया सखावत हुसैन, ताराबाई और अज्ञात हिंदू महिला की तरह न पुरुषों के प्रति घृणा का सैलाब है और न मीराबाई की तरह आदर्श के अमूर्तन में स्वप्न-पुरुष शासित 'स्वतंत्र' स्त्री बनने की दुर्बलता। छोटे भाई मोहन के साथ लेखिका स्त्रीविषयक प्रश्नों पर बहस का आयोजन करती हैं, लेकिन वास्तव में यह बहस/ संवाद नहीं, हुंकार भर कर पुरुष-पक्ष को धैर्यपूर्वक सुनने-जानने की गंभीर कोशिश है। यहां न शास्त्रार्थ का दंभ है, न प्रतिपक्ष के प्रति घृणा। उदारवादी पिता की परवरिश के कारण मोहन में बहन को 'मनुष्य' समझने का संवेदनशील भाव है। अपनी श्रेष्ठ स्थिति के कारण उसमें पुरुषोचित अहम्मन्यता तो है, लेकिन वह उद्धत लम्पटता बन कर स्त्री की गरिमा का

हनन नहीं करती। हां, सृष्टि के विकास-क्रम में स्त्री को जैविक-बौद्धिक-मानसिक सभी दृष्टियों से हीन प्राणी मानने की हठधर्मिता से अवश्य ग्रस्त है। मोहन के माध्यम से लेखिका ने सुविज्ञ-बहुपठित-तार्किक संवेदनशील उदार पुरुष की परिकल्पना की है जो दुनिया भर के ज्ञान को आत्मसात कर स्त्री-पुरुष में असमानता के कारणों की बौद्धिक शिनाख्त का लेना चाहता है। ''गर्भ से ही.... दोनों के भेद का कारण समझना होगा''— अपनी तरफ से बहस को क्रांतिकारी मोड़ पर ले आता है और डार्विन के विकासवाद जैसी पश्चिमी अवधारणा का खुलासा कर अपनी थ्योरी गढ़ता है—''स्त्री वास्तव में अविकास प्राप्त अंडरडेवेलप्ड पुरुष है अर्थात विकास की सीढ़ियों में पुरुष से पहली सीढ़ी स्त्री है अर्थात् जीव विकास की सीढ़ियों पर चढ़ता हुआ आता है। पहले वह स्त्री होता है और उस अवस्था से आगे बढ़विकास प्राप्त कर वह पुरुष होता है। डारविन का मनुष्य विकास प्राप्त स्त्री (इवॉल्व्ड वुमैन) है। इसके साथ ही स्पेंसर का कथन है कि सृष्टि वृद्धि के कर्त्तव्य के कारण स्त्री विकास प्राप्त करने में रोक सी दी जाती है। उसका कथन है कि स्त्री वास्तव में अरेस्टेड मैन है।'' (पृ. 61) वह बहन अर्थात् नारीवादियों/ उदारवादी समाजसुधारकों की इस बात को मानने को तैयार नहीं कि स्त्री पुरुष के समान हर क्षेत्र में बुद्धिमती होती है। वह लोक में प्रचलित स्त्रीद्वेषी उक्तियों को सहमति देते हुए कूटनीति में स्त्री की 'महारत' को जरूर स्वीकार करता है। मोहन/पुरुष का ज्ञान पूर्वग्रहों से आच्छादित है। वह शास्त्र-सम्मत अतार्किक उक्तियों को स्वीकारता है कि ''पुरुष अधिक फुर्तीला, उद्योगी और क्रियाशील होता है, और स्त्री शांत, अप्रतिकारक, निष्क्रिय और क्रियाशून्य होती है'' (पृ.60); कि ''मातृत्व के कर्त्तव्य के कारण उनमें कोमलता आदि कितनी ही बातें रखी गई जिनके कारण संसार के बहुत से कर्मक्षेत्रों में वे पुरुष के बराबर नहीं हो सकतीं'' (पृ.58) कि ''स्त्री पीछा करने वाली (Persuer) और मनुष्य भागने वाला (Persued) है'' (पृ.66)। उल्लेखनीय है कि स्त्री-मन के चितेरे कहे जाने वाले नारीवादी चिंतक एवं लेखक जैनेन्द्र कुमार अपने तमाम उपन्यासों में स्त्री-पुरुष को इसी आखेटक-आखेट बिम्ब में चित्रित करते रहे हैं। यह वही स्थिति है जिसके आधार पर स्त्री के चरित्र और पुरुष के भाग्य को न जानने वाली सूक्तियों का प्रचलन हुआ है और बकौल पं. रमाबाई नवजागरण के दौर में ही ''ऊँची साहित्यिक प्रतिष्ठा रखने वाले हिंदू सज्जन'' 'नरक का द्वार' स्त्री पर घृणा का वमन करने में संकोच नहीं करते।

बेशक इस समूची डिबेट में लेखिका सीमोन द बउवा की तरह स्त्री को स्त्री बनाने वाली पितृसत्तात्मक व्यवस्था के सामाजिक-सांस्कृतिक षड्यंत्रों का खुलासा नहीं कर पातीं, लेकिन मोहन की एकांगी और भ्रमित दृष्टि को तर्कपूर्वक रेखांकित अवश्य करती हैं। ''क्या यह सत्य नहीं कि बुद्धि प्राप्त करता हुआ स्त्री-जीव पूर्ण विकास प्राप्त कर भी स्त्री रहता है और पुरुष-जीव पुरुष? दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र में पूर्ण विकास प्राप्त जीव हैं''—विकासवाद सरीखी वैज्ञानिक अवधारणा की भ्रान्त एवं मनमानी व्याख्या से वे बिल्कुल सहमत नहीं। लेखिका मानती हैं कि स्त्री को हीन बताने वाला समाजशास्त्रीय विधान चूंकि तर्क द्वारा अपनी पैरवी नहीं कर सकता, इसलिए सिद्धांतों के खंडन–मंडन का कुहासा रच कर वह पूरे परिदृश्य को अस्पष्ट और उलझा बनाए रखना चहता है। इसलिए हर बहस का अंत याज्ञवल्क्य-गार्गी शास्त्रार्थ की पुनरावृत्ति भर होने के लिए अभिशप्त है— ''अब इस समय जो हम (मोहन) कह चुके हैं, उसी पर तुम आज मनन करो, अपना सिद्धांत हम तुम्हें फिर सुनावेंगे।'' (पृ.71) संवाद और मनुष्यता के सारे द्वारों और विकल्पों को बंद करता यह आदेश यथास्थितिवाद के पोषण में अपने वर्चस्व की फसल सींचने की मजबूरी है।

संवादहीनता बेबसी के आंसुओं में भी घुल सकती है और फैंटेसी बन कर सृजन के अनंत व्योम में उड़ान भी भर सकती है। इतिहासवेत्ता की तरह स्त्री-पुरुष भेद के कारणों का विश्लेषण कर व्यक्ति किसी निष्कर्ष तक पहुंच जाए तो भी भविष्य के निर्माण के लिए सृजन की नई इबारत उसे स्वयं लिखनी होगी। इसलिए लेखिका पीछे नहीं लौटतीं। स्वप्न में मृत लाडिली के साथ उस स्वर्ग की सैर करती है जहां न पर्दा है, न चारदीवारी, न लिंग भेद है, न विवाह संस्था। 'आत्मानां विद्धि' यहां का मूल मंत्र है जो नए समाज के नए आप्तवचनों में इस प्रकार अभिव्यक्ति पाता है— 'मनुष्य अपना ईश्वर स्वयं है।..... स्वभाव को नियमबद्ध करने से जीवन बिगड़ता है।..... मैं अच्छा हूँ, इसलिए नहीं कि मैं अच्छा और धर्मात्मा हूँ, वरन् इसलिए कि मैं अपने आप में हूँ।..... उन्नति चाहते हो तो जीवन की हकीकतों और सच्चाइयों का साहस के साथ सामना करो।''(पृ. 76-77) हर तरह के दमन-उत्पीड़न के लिए वे मनुष्य की अहंलिप्सा, सत्ता और प्रभुत्व को दोषी मानती हैं, जो पहले प्राणी से उसका 'विवेक' छीनती है, फिर 'मनुष्यत्व' और अंततः स्वयं विनष्ट होने के लिए अग्रसर हो जाती है। इसलिए सृष्टि और मनुष्य-दोनों की रक्षा के लिए जरूरी है इस प्रश्न के बरक्स निरंतर आत्मसाक्षात्कार करते रहना कि ''अपने से श्रेष्ठ कौन सा जीवन उसने उत्पन्न किया है?'' वह स्थल है जहां दुखिनीबाला रुकैया सखावत हुसैन से अलग होकर नारी प्रदेश की प्रगति और उपलब्धियों पर इतराती नहीं, बल्कि स्त्री और पुरुष के सह-अस्तित्वपूर्ण एवं सौहार्दपूर्ण समाज की कामना करती है। उनके इस स्वप्न में आज के समन्वित नारीवाद का अक्स साफ-साफ देखा जा सकता है जो स्त्री-मुक्ति के प्रयास को मानव-मुक्ति का पर्याय बनाता है।

(5)

''हे प्रिय बहनो! तुम मानवी रूप में गृह उपदेष्टा या कल्याणकारिणी देवी हो, मानव-सृष्टि के बीच गार्हस्थ्य, सामाजिक और जातीय जीवन के हेतु एकमात्र आदिशक्ति हो''[21]

अज्ञात हिंदू महिला और दुखिनी बाला के विपरीत बंगमहिला न केवल तद्युगीन साहित्यिक परिदृश्य पर उपस्थिति थीं, वरन् समकालीन लेखकों-आलोचकों-पाठकों के बीच गरिमामयी विदुषी एवं प्रगतिशील लेखिका के रूप में लोकप्रिय भी थीं। विशेष रूप से आचार्य शुक्ल ने उनके लिखे हर शब्द-मौलिक एवं अनुदित—को प्रकाश में लाने और उसे एक सकारात्मक परिप्रेक्ष्य में ने में जरा भी ढील नहीं दिखाई। आचार्य शुक्ल आद्यंत बंगमहिला को भारतीय नारियों के कर्त्तव्य के प्रति आस्थावान लेखिका के रूप में महिमामंडित करते रहे। क्या इसलिए कि आजीवन पर्दे में रहने वाली यह स्त्री पुरुष की उंगली पकड़ कर और उसकी बानी बोल कर सदा अपने को स्थगित करती रही? या इसलिए कि आचार्य शुक्ल के इस कथन ''जो शिक्षा (स्त्री को) निर्लज्ज बनाती है, उसके हम विरोधी हैं।''[22] की मुस्तैद परिपालना में वे स्त्री शिक्षा को 'संगीत[23] और सूई' के साथ जोड़ कर ईसाई मिशनरियों द्वारा हिंदू बालिकाओं के लिए खोले गए बालिका-विद्यालयों को भारतीय संस्कृति से दूर ले जाने वाला उद्योग मानती हैं? आश्चर्य है कि महादेवी वर्मा भी इसी पूर्वग्रह की रक्षा करते हुए हिंदू बालिकाओं के लिए हिंदू शिक्षिकाओं द्वारा शिक्षा प्रदान किए जाने की पैरवी करती हैं। अजीब अंतर्विरोधों से ग्रस्त हैं बंगमहिला—शायद पुरुष आकाओं

की कृपा पाने के लिए। वे पर्दा प्रथा को अशिक्षा का कारण मानती हैं; शिक्षा के साथ स्वाधीनता के घनिष्ठ सम्बन्ध को स्वीकारती हैं और इसी कारण स्वाधीन, शिक्षित, गतिशील यूरोपीय स्त्रियों के साथ-साथ भारत की ब्रह्मसमाजी एवं पारसी स्त्रियों की बेहतर अवस्था का भी स्मरण कर लेती हैं। लेकिन प्रेमविवाह एवं 'पत्यंतर ग्रहण करने में भी स्वतंत्र' और बराबरी के दर्जे के साथ दाम्पत्य सम्बन्धों का निर्वहण करने वाली इन यूरोपीय-भारतीय स्त्रियों की बेहतर दशा को वे कुलीन हिंदू घरों की देहरी से प्रविष्ट करा हिंदू स्त्रियों तक ले जाने की कामना और कोशिश करती नहीं दीखतीं। हिंदू स्त्री को शिक्षित करने में सबसे बड़ी बाधा यह है कि उसे घर से विद्यालय तक लाना-ले जाना पड़ेगा। दूसरे, इसके लिए उन्हें 'अध्यापकों से पाठ लेने या उनके पास परीक्षा देने की स्वाधीनता' देने पड़ेगी। अलबत्ता विवाह-पूर्व या विवाहोपरांत पिता एवं पति के उदार रवैए के कारण वह थोड़ी बहुत शिक्षा ग्रहण कर सकती है और बंगमहिला हैं कि इसी 'अधिकार'/ 'अवसर' पर बाग-बाग हैं। कुलीन हिंदू परिवारों की कट्टर आंतरिक संरचना से पूरी तरह परिचित बंगमहिला उसी यथा स्थितिवाद के पक्ष में खड़ी हो बगावत की आंतरिक प्रेरणा के सारे हथियार फेंक देती हैं और दृढ़तापूर्वक उसी कट्टरता की पैरवी करने लगती हैं कि ''मेरी समझ में हिंदू परिवार की कुलवधुओं को ये दोनों अधिकार मिलना कठिन है; कि '' हिंदू नारी को उच्च शिक्षा पाना और उस शिक्षा का उपयोग करना दोनों बातें असंभव सी जान पड़ती हैं। (पृ.121); कि ''मैं विद्यालय की उच्च उपाधियों को पाने की बात नहीं कहती'' (पृ.113) लेकिन इतनी शिक्षित तो हों कि गृहस्थी के कार्यों का कुशलतापूर्वक निष्पादन कर पति के श्रम-समय-धन की बचत कर सकें। मसलन ''यदि वे घर के महीने भर के आय-व्यय का लेखा, नौकरों का वेतन तथा धोबी के यहाँ जाने वाले कपड़ों का हिसाब इत्यादि अपने हाथ में रख सकें तो भी पति के कामों में सहायता पहुंचा सकती हैं।'' (स्त्रियों की शिक्षा, पृ. 114) दरअसल बंगमहिला ने आ. शुक्ल की स्त्रीशिक्षा विषयक आदर्शवादी रोमांटिक अवधारणा को आत्मसात कर अपना निजी दृष्टिकोण बना लिया है। वे भी उनकी तरह मानती हैं कि स्त्री शिक्षा का आत्यंतिक लक्ष्य स्त्री को नम्र-सलज्ज और शांत बना कर गृहकार्यों में दक्ष करना तथा 'सुमाता' बनने की दीक्षा देना है। 'सुमाता' बनने के लिए जरूरी अर्हताएं गिनाना भी वे नहीं भूलतीं— 'उन्नत चरित्र, उदार हृदय,सत्यवादिनी, सुशिक्षित और स्वधर्मपरायणा।' (पृ. 114) दरअसल सारी बात यही 'स्वधर्मपरायणा' होने पर टिक जाती है। यह वह बिंदु है जो स्त्री के लिए विधि-निषेधों की सूची तैयार करता है और 'पुंयचली' कहीं जाने वाली द्रोपदी में भी पतिव्रत्य का चरम ढूँढता है। अज्ञात हिंदू महिला के विपरीत ध्रुव पर खड़ी होकर बंगमहिला स्त्रियों का उद्‌बोधन कर रही हैं। एक, ''स्त्रियों को उचित है कि लज्जा और नम्रता को सदा अपना आभूषण समझें। जिस स्त्री को लज्जा नहीं है, वह स्त्री पद पाने के योग्य नहीं है।'' (पृ. 103); दूसरा, ''स्त्री जाति का बहुत बोलना और हंसना अनुचित है। इससे उनके दुर्गुण प्रकट होते हैं।'' (पृ.104) तीसरा, ''स्त्रियों को चाहिए कि कभी किसी से तर्क न करें। तर्क करना बहुत ही बुरी बात है।..... पूज्य व्यक्ति यदि कुछ अनुचित भी कहे तो उसका उत्तर न देना चाहिए।''(पृ.104) चौथा, ''स्त्रियों का सतीत्व धर्म ही प्रधान धर्म है।.....अकलंक सती पदवी बहुत यत्न से मिलती है।'' पांचवां, ''सतीत्व धर्म की रक्षा करने हेतु पातिव्रत धारण करना चाहिए। जो रमणी पति पद में तन-मन और वचन से अपना मन लगाती है, वह सती शिरोमणि है।'' (पृ.105)

ये ठीक वही उद्‌गार हैं जो समानता और मुक्ति के स्वप्न देखती भारतीय स्त्री को पुनः कारागार में धकेलने के लिए हिंदुत्व एवं सांस्कृतिक पुनरुत्थान के नाम पर कट्टरपंथियों ने 'आदर्श हिंदू स्त्री' का

मुलम्मा चढ़ा कर गढ़े हैं। इन्हें 'परीक्षागुरु' उपन्यास में मदनमोहन की पत्नी में शत-प्रतिशत घटित होते दिखाया गया है। अकारण नहीं कि 'पति की सच्ची प्रीतिमान, शुभ चिंतक, सुख-दुख की साथिन और आज्ञा में रहने वाली' मदनमोहन की पत्नी का अपना कोई नाम नहीं है। नाम न होना पति के व्यक्तित्व में पूर्ण विलयन का द्योतक है, जबकि नाम पाने की जिद अपनी वैयक्तिकता को सिद्ध करने का निर्लज्ज हठ है। यह 'शुभचिंतक' स्त्री 'अपने पति की पदवी का विचार करके....अपनी अज्ञानता प्रगट करके, स्त्रियों की ओछी समझ जता कर धीरज से अपना भाव प्रगट करती है, परंतु कभी लौट कर जवाब नहीं देती, विवाद नहीं करती। वह बुद्धिमती चुन्नीलाल.... इत्यादि की स्वार्थपरता से अच्छी तरह भेदी है, परंतु पति की ताबेदारी करना अपना कर्त्तव्य समझ कर समय की बाट देख रही है।'' (परीक्षागुरु, पृ.136) लाला श्रीनिवासदास के साथ पुनरुत्थानवादियों का विशाल दल इस स्त्री की बलैयां लेते नहीं अघाता लेकिन विवेकपूर्वक देखने पर क्या उस स्त्री/ पुरुष को हितैषी कहा जा सकता है जो जानते हुए भी विरोधियों की चोलों से अवगत न कराए? क्या ऐसी स्त्री हितोपदेश की कहानी में वर्णित मूर्ख वफादार बन्दर का किरदार निभाती नहीं दीखती जो मक्खी से राजा की रखवाली करने की निष्ठा में उसके प्राण ही ले लेता है? तो क्या ऐसी आदर्श स्त्री की छवि गढ़ने के पीछे उसकी दासता के साथ-साथ मूर्खता एवं जड़ता को भी महिमामंडित करने का षड्यंत्र नहीं ताकि बाद में मुक्ति/चेतना/ समानता की हर कोशिश को धिक्कारा जा सके?

बंगमहिला की सबसे बड़ी लेखकीय दुर्बलता यह है कि वे अपनी दृष्टि और सरोकारों को निर्भीक अभिव्यक्ति नहीं दे पातीं। 'मन की दृढ़ता' कहानी में वे मोहन की अंग्रेज पत्नी रोज को स्वेच्छाचारिणी के रूप में चित्रित करना चाहती हैं, लेकिन पश्चिमी स्त्री की रूढ़खलनायिका छवि के खिलाफ पुरुष रचनाकारों की तरह लुत्फ लेते-लेते वे मोर्चा नहीं खोलतीं बल्कि कहीं स्त्री होने के नाते संवाद करने लगती हैं, उसके दर्द और मन दोनों को पहचान लेती हैं और एक कोने में खड़ी हो उसकी हिम्मत (हिमाकत) पर दांतों तले उंगली भी दबा लेती हैं। मोहन के मित्र सोहन के साथ निर्दोष मैत्री सम्बन्ध को जीती रोज चरित्र-हनन के आक्षेप पर उबल कर पति को धमका रही है—''तुम्हारे देश की स्त्रियों की तरह मैं तुम्हारी दासी नहीं कि जो आज्ञा करो, वही मैं मान लूं.....क़भी मेरी स्वतंत्रता पर हस्तक्षेप न करना।'' (पृ.35) और एक पत्नी के जीवित रहते हुए भी तलाकशुदा रोज से ब्याह रचाने वाले धोखेबाज सोहन को कानूनी कठघरे में खींचने के लिए कृतसंकल्प है। धिक्कार के रूप में भयमिश्रित श्रद्धा एक हसरत और कसक बन कर हर दमित अस्मिता को मुक्ति के लिए उकसाती है। क्या बंगमहिला इसका अपवाद रही होंगी? क्या महिमामंडन के सारे तामझाम के बावजूद वे पुरुष के सुर में सुर मिला कर स्त्री की श्रेष्ठता की बात हृदय की भीतरी गहराइयों से स्वीकार करती रही होंगी? यदि ऐसा होता तो वे न उसकी पराधीन अवस्था को रेखांकित करतीं और न उस अवस्था से निष्कृति के तमाम मुक्ति-द्वारों को बंद देख उन्हें दिलासा देंती—''तुम गृहिणी रूप में गृह की अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी हो।'' (पृ.100) बंगमहिला की साहसहीनता अथवा संकीर्ण दृष्टि को युग की मांग कह कर जस्टीफाई नहीं किया जा सकता। खासतौर पर तब जब उनसे पच्चीस बरस पहले अज्ञात हिंदू महिला पंडितों के साथ-साथ धर्मानुमोदित सारी आचार-संहिताओं को कस कर लात मार चुकी थीं। पतिव्रता धर्म को 'मतलबी धर्म' कह कर खारिज कर देना जिस नैतिक साहस की अपेक्षा रखता है, वह शीलवंती कुलवधू की भूमिका निभाती बंगमहिला में नहीं। यदि कड़वे सत्य को नंगी आंखों से देख कर उतने ही कड़वे नंगे रूप में व्यक्त

करने का नैतिक हौसला उनमें होता तो वे भी जोतिबा फुले, ताराबाई, रमाबाई, अज्ञात हिंदू महिला की तरह धर्मग्रंथों को फूंक कर 'मनुष्य धर्म' की स्थापना करने पर बल देतीं। सौम्य बंगमहिला से यह अपेक्षा तो नहीं की जा सकती थी कि वे अज्ञात हिंदू महिला की तरह शठे शाठ्यम समाचरेत् का मंत्र पढ़परस्त्रीगामी पति के समानांतर पर-पुरुष से सम्पर्क रखने की पेशकश करतीं।[24], लेकिन वे इस तथ्य को रेखांकित अवश्य कर सकती थीं कि ''पंडित लोग स्त्रियों को पतिव्रत महात्म्य सुना कर दबाते हैं और पुरुषों को कोकशास्त्र और नायिकाभेद की रसीली चर्चाएं सुना कर बेबस-अवश स्त्रियों को बाजार में बैठा कर व्यभिचार कराते हैं।'' (सीमंतनी उपदेश, पृ.112) पातिव्रत्य का बखान करने की अपेक्षा यदि वे भी स्त्रियों को चेतन करते हुए समझातीं कि ''बस, अब तुम इस धर्म को छोड़ दो। ऐसी पतिसेवा से स्वर्ग नहीं मिलेगा तो सम्भवतया अपने को ईमानदार और बेहतर अभिव्यक्ति दे पातीं।'' बंगमहिला का समूचा लेखन अपने आपको स्थगित करते रहने वाली स्त्री को प्रतिष्ठित करते हुए इस सूक्ति को आप्त वचन बना देना चाहता है कि ''हिंदू की लड़की मरना बहुत आसान समझती है।'' (कृष्णकांत का विल, पृ. 350) यह वह 'उपदेश' है जो पीड़िता-प्रताड़िता स्त्री को न हिंदू धर्म के अंदरूनी खोखलेपन को देखने की अनुमति देता है, न उसके खिलाफ खड़े होने की। इसके विपरीत यह एक ऐसा धर्मोन्माद है (क्या 'आतंक' बेहतर शब्द नहीं?) पैदा करता है जहां 'धर्म' की रक्षा की खातिर मानव-बम बना कर अपने आप को उड़ा देना बेहतर विकल्प रहता है। ऐसे में आत्महंता मनोवृत्ति को प्रश्रय देने वाली ताकत के हाथ की डुगडुगी बन कर बंगमहिला अपनी ही उपादेयता पर प्रश्नचिह्न लगा देती है।

ज़ाहिर है इसके बाद इस प्रश्न का उत्तर खोजना कठिन नहीं रहता कि क्यों अज्ञात हिंदू महिला एवं दुखिनी बाला का लेखन भुला/ गायब कर दिया गया। अज्ञात हिंदू महिला का सर्वसमावेशी आवेग और दुखिनीबाला का प्रशांत गाम्भीर्य हिंदू धर्म और पितृसत्तात्मक व्यवस्था के पुनर्मूल्यांकन की मांग करते हैं। लैंगिक विभाजन को समाप्त कर वे विचारशील मानवीय इकाई के रूप में स्त्री की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं जबकि तदयुगीन लेखन/ समाज पुरुष को ही 'मनुष्य' की संज्ञा से विभूषित करने की आदी था। उल्लेखनीय है कि 'भाग्यवती' आदि रचनाओं के लेखक 'मनुष्य' को 'पुरुष' के पर्यायवाची शब्द के रूप में प्रयुक्त करते हैं और पितृसत्तात्मक व्यवस्था की इस मनोवृत्ति पर प्रहार करते हुए तसलीमा नसरीन 'औरत के हक में' पुस्तक में एतराज उठाती हैं कि 'मनुष्य' अर्थात् 'पुरुष' के बरक्स स्त्री के लिए कामिनी, ललना, भोग्या, भामिनी, कामिनी, रमणी, वनिता, शर्वरी आदि-आदि पर्याय क्यों? ये सब पर्यायवाची शब्द साभिप्राय गढ़े गए हैं जो हर रूप में पुरुष की भोग-वासना की तृप्ति के लिए स्त्री की उत्पत्ति के मिथ को प्रगाढ़करते हैं। दरअसल विचारशील स्त्रियाँ व्यवस्था के वर्चस्ववादी इरादों के लिए खतरा पैदा करती हैं, इसलिए आत्मसाक्षात्कार, आत्मोन्नयन और वक्त के सृजन की सकारात्मक समतामूलक आवाजों को घोंट कर खोखली आलंकारिकता और सांस्कृतिक श्रेष्ठता की दुहाई दी जाती है। दुराग्रह के सामने न तर्क टिकता है, न तथ्य, न संवाद और न संवेदनशील गहन आस्था, दुराग्रह के संग नत्थी होकर चलती है निर्लज्जता, उद्दण्डता और लाठी हांकते हुए लकीर पीटने की बाध्यता। भारतीय नवजागरण के उदार चरित्र के भीतर से दुराग्रहपूर्ण दुरभिसंधियां जब-तब झलकने लगती हैं। शालीनतावश इन पर पर्दा डालने का संस्कार नवजागरण के पुरोधाओं से जवाबदेही की मांग नहीं करता। लेकिन सच्चाई को नजरअंदाज करना क्या स्वयं सच्चाई का गला घोंटना नहीं है? कम से कम यह सवाल तो पूछा ही जा सकता है कि स्त्री की सामाजिक स्थिति में सुधार के लिए कानूनी अधिकार

मांगता नवजागरणकालीन हिंदी समाज स्त्री स्वरों से इतना भयभीत क्यों हो गया कि उनके साहित्यिक अवदान के साथ-साथ उनके नाम को भी 'खा' गया? ऐसी कौन सी वर्जनाएं और दबाव बनाए कि उन्हें नाम से नहीं, वरन् बंग महिला, अज्ञात हिंदू महिला, दुखिनीबाला सरीखे विशेषणों के साथ जाना गया? नाम छीन लेने का आग्रह क्या व्यक्ति से उसकी वैयक्तिक पहचान छीन लेने की क्रूरता नहीं है? नवजागरणकालीन पुरुष मानसिकता भले ही अपने युग की स्त्रियों के अधिकारों की सीमा तय करने के विवाद में अपनी सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर पा रही थी लेकिन क्या हमारा अपना युग उनकी संकीर्णताओं, द्वंद्वों, पूर्वग्रहों और तिरस्कार उपहास को सही-सही व्यापक पाठक समाज के समक्ष ला रहा है? इस दृष्टि से क्या आधुनिक युग के जनक भारतेंन्दु की व्यंग्य रचना 'पांचवे (चूसा) पैगम्बर' में निबिद्ध अंतर्विरोधी मान्यताओं पर विचार नहीं किया जाना चाहिए? भारतेन्दु व्यंग्य की कंटीली-रसीली धार के साथ लिखते हैं कि इस पांचवें पैगम्बर का नाम चूसा है, विधवा के गर्भ से जन्मा यह व्यक्ति पहले 'हूरा, बंदर, लंका की सेना और मलेच्छ' कहलाता था, लेकिन अब अब 'उन्हीं लोगों का गुरु' है। मूसा के आदेशानुसार उसका जन्म अपनी रोशनी से जमाने को जला कर काला करने और चांद के कलंक को अपना टीका बनाने के लिए हुआ है। इसे दो प्रमुख उद्देशयों की पूर्ति हेतु पृथ्वी पर भेजा गया है। एक शराब को 'हलाल' और 'मजहब की निशानी' बनाना और दूसरे, हाफ सिविलाइज्ड लोगों की रिवायत मूर्तिपूजन को समूल नष्ट कर देना। स्वयं गौरांग होने के कारण यह अंग्रेजों का पक्षधर है। हिंदुओं के लिए इसके तेवर अलबत्ता कड़क हैं। यह उनकी रक्षा परित्राण तभी संभव मानता है जब वे उसके उपदेशों पर पूरी तरह अमल करें। उसके उपदेश हैं—''शराब पियो, विधवा विवाह करो, बाला पाठशाला करो, आगे से लेने जाओ, बाल्यविवाह उठाओ, जाति भेद मिटाओ, कुलीन का कुल सत्यानाश में मिलाओ, होटल में खाओ, लव करना सीखो, स्पीच दो, क्रिकेट खेलो, शादी में खर्च कम करो, मेंबर बनो, दरबारदारी करो, पूजा पत्री करो, चुस्त चालाक बनो, हम नहीं जानते को हम नहीं जानता कहो, चक्करदार टोपी पहिनो वा सिर खुला रक्खो पर पोशाक सब तंग रक्खो, नाच,बाल, थियेटर, अंटा गुड़गुड़ बंग प्रिवी सिवी घरों में जाओ क्योंकि ये काम मूजिब होंगे खुदा और मेरी खुशी के।'' (पृ. 1001) यह पैरोडी अगर अंग्रेजों की शोषक (चूसा) वृत्ति परव्यंग्य है तो भी भीतर तक आहत लेखक की पीड़ा को अवश्य दर्शा देती है जो अंग्रेजियत के रंग में रंगे ब्रह्मसमाजियों के समाजसुधारक जुनून—बालविवाह समाप्ति, जातिभेद समाप्ति, विधवा पुनर्विवाह, कन्या-पाठशाला-के चलते हिंदू धर्म को 'विनष्ट' कर रही है।

हिंदी, हिंद, हिंदू धर्म, हिंदू स्त्री पर केन्द्रित हिंदी नवजागरण तमाम स्खलनों एवं अंतर्विरोधों के बावजूद दो दृष्टियों से खासा महत्वपूर्ण है। एक,हिंदुत्व की प्रतिष्ठा के नाम पर यह साम्प्रदायिक ताकतों को उभारने वाली असहिष्णु हिंसक मनोवृत्ति का पोषण करता है। दूसरे, चूंकि इस काल का समाजसुधारक, लेखक, बुद्धिजीवी स्वयं कुलीन परिवार अथवा मध्यवर्ग से सम्बद्ध रहा है, अतः वह मध्यवर्गीय स्त्री को ही आदर्श स्त्री की रूढ़छवि में बांधता है। उसके वैचारिक परिदृश्य में रोज़ कुंआ खोद कर प्यास बुझाने वाली निम्नवर्गीय स्त्री का कोई अस्तिव नहीं । यह वही सस्कार है जो परवर्ती साहित्य को मध्यवर्गीय समाज की दास्तान बनाता है। इसने अगले कालखण्ड (1917-1950) में रचित साहित्य के ज़रिए स्त्री की भरी-पूरी ठोस मानवीय सच्चाई को अमूर्तीकृत कर जिस प्रकार आदर्श सती स्त्री की रूढ़छवि में बांधा है, उससे आज का स्त्री विमर्श भी दो-दो हाथ करते लहूलुहान हो रहा है। मूसा पैग़म्बर

का जयघोष करते 'भारतेन्दुओं' की वजह से हठ और दुराग्रह भी बढ़ेंगे और विवाद-संवाद का स्वस्थ परिदृश्य धुंधलाएगा भी, लेकिन अज्ञातनामा दुखिनीबालाएं वक्त को कब किस करवट बदल दें, कहना आसान भी तो नहीं।

संदर्भ

(1) राधा कुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास, पृ. 33-37 (2) मोहित हालदार, 'भारतीय नवजागरण और पुनरुत्थानवादी चेतना', पृ.30 (3) ईश्वरचंद विद्यासागर ने 1850 में एक अधिनियम पारित करवा कर लड़की के लिए विवाह की न्यूनतम आयु दस वर्ष कराई जिसे 1887 के नेशनल कांफ्रेंस के अधिवेशन में बहरामजी मलबारी तथा रानाडे ने बढ़ा कर बारह वर्ष कर दिए जाने का प्रस्ताव रखा। इसी समय पति के पाशविक संभोग के कारण अकाल मृत्यु का ग्रास बनी दस वर्षीया फूलमणि की यातना को देखते हुए रानाडे ने सुझाव दिया कि संभोग के लिए स्त्री के संदर्भ में सहमति वय सोलह वर्ष तथा पुरुष के लिए पच्चीस वर्ष हो, किंतु ब्रिटिश सरकार की उदासीनता तथा कट्टरवादियों के विरोध के कारण यह प्रस्ताव पारित नहीं हो पाया। अंततः 1929 में बाल विवाह नियंत्रक अधिनियम पारित हुआ जिसके अंतर्गत लड़कियों के लिए विवाह की न्यूनतम आयु तेरह वर्ष की गई। (4) दुखिनी बाला, सरला : एक विधवा की आत्मजीवनी, पृ.40 (5) भारतेन्दु समग्र, पृ. 996 (6) ''जो अपनी जोरू का हुक्म न मानेगा, वह अदूलहुक्मी का मुजरिम करा दिया जाएगा।'' जैसे ''जोरू ने हुक्म दिया कि कल शाम तक फलाना जेवर या कपड़ा बन कर आवै मगर शौहर तंगदस्ती के सबसे नाहीं ला सकता। इस वास्ते मुजरिम हुआ।'' अथवा ''जोरू को शैतानपरस्ती पर एतकाद है मगर शौहर एक पढ़ा-लिखा आदमी है। लड़कों की खैरियत के वास्ते जोरू ने शौहर को किसी पीर की नेयाज करने को कहा मगर शौहर ने ईमार को पाबंदी से उसको नहीं माना। लेहाजा वह मुजरिम जुर्म दफा हाजा का हुआ।'' भारतेन्दु समग्र, पृ.1007 (7) ''लीक पुरानी कब लग पीटों/ नई रीत रसम चलाय नाहीं देत्यो'' वही, पृ.996 (8) मेवाड़ यात्रा के समय अपने भाई को मल्लिका के संरक्षण का दायित्व सौंपने हेतु लिखा गया यह पत्र उल्लेखनीय है— ''यह तुम जानते हो कि तुम्हारी भाभी की हमको कुछ चिंता नहीं क्योंकि तुम्हारे ऐसा देवर जिनका वर्तमान है, उसको और क्या चाहिए। दो बात की हमको चिंता है। प्रथम कर्जे, दूसरी मल्लिका की रक्षा। थोड़ी सी डिगरी जो बच गई है,उसको चुका देना। और जीवन भर दीन हीन मल्लिका की जिसको हमने धर्मपूर्वक अपनाया है, रक्षा करना।'' भारतेन्दु समग्र, पृ.1074 (9) राधा कुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास, पृ.72 (10) राधा कुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास से उद्धृत लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक की उक्ति, पृ.64 (11) भारतेन्दु समग्र, पृ.311 (12) राधा कुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास, पृ.73 (13) बंकिम ग्रंथावली भाग तीन, आनंदमठ, पृ. 161-162 (14) ''यदि कोई हमसे यह प्रश्न करता है कि स्त्री शिक्षा अच्छा

है या बुरा, तो हमारा उत्तर होगा— स्त्री शिक्षा अतिशय मंगलकर है। सभी स्त्रियों का शिक्षित होना उचित है। किंतु विधवा विवाह के सम्बन्ध में हमारा उत्तर ऐसा नहीं होगा। हम कहेंगे, विधवा विवाह न अच्छा है न बुरा, सभी विधवाओं का विवाह कदाचित नही होना चाहिए, मगर उन्हें पुनर्विवाह का अधिकार अवश्य होना चाहिए। जो स्त्री साध्वी है, पति को मन से प्रेम करती थी, वह कभी पुनर्विवाह के लिए तैयार नहीं होगी। जिन जातियों में विधवा विवाह प्रचलित है, उन जातियों में भी पवित्र स्वभावविशिष्टा, स्नेहमयी, साध्वी, विधवा होने पर दूसरा विवाह नहीं करती।'' मोहित हालदार, 'भारतीय नवजागरण और पुनरुत्थानवादी चेतना' पुस्तक में संकलित बंकिमचंद्र चटर्जी का निबंध 'साम्य', पृ.138-139 (15) लोक में ईश्वरचंद्र विद्यासागर के विरोध को वे रसपूर्वक 'विषवृक्ष' में उद्धृत करते हैं— ''सुना है ईश्वरचंद्र विद्यासागर नाम के कोई एक पंडित कलकत्ता में हैं। उन्होंने विधवा विवाह के समर्थन में कोई किताब लिखी है। जो विधवा के विवाह की शास्त्रीय व्यवस्था देता है, वह अगर पंडित है तो तुम्हीं बताओ कि मूर्ख कौन है?'' तथा ''सार्वभौम महाशय ने विधवा विवाह के विरोध में तर्क उपस्थित किए। उनकी कन्या के विवाह के लिए पांच तोले सोने के बाले मैंने बनने को दिए हैं। अब तो प्रायः सभी लोग विधवा, विवाह के विरोधी हैं।'' बंकिम ग्रंथावली, भाग दो, विषवृक्ष, पृ.42 (16) अज्ञात हिंदू महिला, सीमंतनी उपदेश पृ.41 (17) वही, पृ.45 (18) राधा कुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास, पृ.79 (19) दुखिनी बाला, सरला : एक विधवा की आत्मजीवनी, पृ.73 (20) वही, पृ.77 (21) बंग महिला ग्रंथावली, संपा. सुधाकर पाण्डेय, पृ.100 (22) वही, पृ.113 (23) पुरुष को वेश्यागमन से बचाने के लिए बंगमहिला स्त्रियों को संगीत विद्या में निपुण होने की सलाह देती हैं कि 'जिस आनंद की खोज में वे जगह-जगह टक्कर मारते फिरते हैं, उसे उन्हें घर में ही दें।'' बंगमहिला ग्रंथावली, संपा. सुधाकर पाण्डेय, पृ.118 (24) ''उनको जानकारी से रोकने की यह अच्छी तजवीज है। जब किसी औरत के पास जावें, तुम कहो हम भी दूसरे मर्द के पास जावेंगी। अगर किसी रंडी-लौंडे को घर में लाए, तुम फौरन शादी तोड़ दो।..... फिर जो-जो सदमे तुमको उनकी जानकारी से गुजरते हैं, वे फिर इनके दिल पर बीतेंगे। और उम्मीद है कि शायद इस काम से बाज आ जाएं।'' अज्ञात हिंदू महिला, सीमंतनी उपदेश, पृ.113

विज्ञप्ति

आलोचना के लिए 'देवीशंकर अवस्थी स्मृति सम्मान'

हिन्दी में साहित्यिक आलोचना की संस्कृति को प्रोत्साहित करने के लिए 45 वर्ष की आयु सीमा में आने वाले किसी युवा आलोचक को उसकी उत्कृष्ट आलोचनात्मक कृति अथवा निबन्ध के लिए पुरस्कृत करने के अभिप्राय से प्रतिवर्ष 'देवीशंकर अवस्थी स्मृति सम्मान' प्रदान किया जाता है। इसकी स्थापना वर्ष 1995 में हुई थी।

<u>आलोचना के लिए 'देवीशंकर अवस्थी स्मृति सम्मान' : नियमावली</u>

1. यह सम्मान प्रतिवर्ष देवीशंकर अवस्थी के जन्म दिन पर 5 अप्रैल को प्रदान किया जाता है।

2. सम्मान राशि रु.11000.00 (ग्यारह हजार रुपये) मात्र है।
साथ में प्रतीक चिन्ह और प्रशस्ति पत्र भी जो निर्णायक-समिति के विवेक और सौजन्य से तैयार किया जाता है।

3. यह सम्मान 45 वर्ष की आयु-सीमा में आने वाले युवा आलोचक को दिया जाता है।

4. सम्मान का आधार उत्कृष्टता, प्रासंगिकता, वैचारिक क्षमता, जिम्मेदारी और विश्लेषण की सामर्थ्य माना जाता है।

5. सम्मान किसी प्रकाशित आलोचनात्मक कृति, निबन्ध अथवा पुस्तक समीक्षा पर ही दिया जायेगा।

6. सम्मान के लिए पुस्तक अथवा निबन्ध का पिछले तीन वर्षों (मई 2006 से 31 दिसम्बर 2009 तक) की अवधि में प्रकाशित होना अनिवार्य है।

7. निर्णायक-मण्डल एवं साहित्य प्रेमियों के सुझाव और आग्रह पर उपर्युक्त नियमों के अंतर्गत आने वाले युवा आलोचकों से आग्रह किया जा रहा है कि 'देवीशंकर अवस्थी स्मृति सम्मान' हेतु आलोचना की पुस्तक, पुस्तकें अथवा कोई लम्बे निबन्ध की दो-दो प्रतियाँ (शेष प्रतियाँ 'देवीशंकर अवस्थी स्मृति सम्मान' समिति स्वयं मंगा लेगी) निर्णायक समिति के संयोजक के पते पर 15 दिसम्बर 2009 तक विचारार्थ भेज दें। केवल विशेष परिस्थितियों में इसे 30 दिसम्बर 2009 तक माना जा सकता है। आने वाले वर्षों में भी यही प्रक्रिया बनी रहेगी। किसी अन्य जानकारी के लिए सम्मान समिति से संपर्क किया जा सकता है।

डॉ. कमलेश अवस्थी,संयोजक,
2/346-ए, आजाद नगर, कानपुर-208002, दूरभाष - 0512-2563198

देवीशंकर अवस्थी स्मृति सम्मान पुरस्कार समिति,
26, आर.पी.एस., शेख सराय फेज़-1, नयी दिल्ली- 110017, दूरभाष - 011-26012716

मुख़ातिब

हम तुमसे मुख़ातिब हों, तुम हमसे मुख़ातिब हो।
कहने को वही हो जो करना भी मुनासिब हो।

पाठकों की प्रतिक्रियाएँ किसी भी संपादक के लिए बड़ी मूल्यवान् होती हैं। हम अपने उन सभी पाठकों के आभारी हैं, जिन्होंने 'बहुवचन' के नवोन्मेष को न केवल सराहा, बल्कि अपनी सम्मतियों और सुझावों से हमें दिशा दी। लाचारी है कि हम सभी पत्रों को नहीं छाप सकते। कुछ चुने हुए पत्र और कुछ पत्रों के अंश देना ही यहाँ संभव है। पत्रों के चुनाव का आधार तय करते समय हमने ध्यान रखा कि 'बहुवचन' की सामग्री से संबंधित किसी सार्थक बहस में हमारे पाठकों के सहयोग-भाव की अवमानना न होने पाए।

कुछ उलटबाँसियों जैसी बातें भी हैं.....

'बहुवचन' के अंकों का अब चस्का-सा लग गया है। हम जैसों की दिलचस्पी के कुछ मौजूआत ऐसे हैं कि किसी और हिंदी या उर्दू रिसाले से हमारा मन नहीं भर पाता। तब 'बहुवचन' का और भी बेसब्री से इंतज़ार रहता है।.... अंक 20 और 21 देखकर ही ख़त लिखने का मन हुआ था। अब तो 22वाँ भी पढ़ चुका हूँ। इसलिए तीनों पर एकसाथ ही....।

अंक-20 में विनोद शाही का लेख, जिस मेहनत से लिखा गया है, उसकी क़द्र कौन नहीं करेगा?..... लेकिन बड़े पेंच हैं उसमें। गाँधी को कहीं मार्क्स से भिड़ा दिया गया है, कहीं मिला दिया गया है। शाही जी यह भी फ़रमाते हैं 'मार्क्स बरास्ते विज्ञान जहाँ पहुँचते हैं, गाँधी वहाँ पहले से मौजूद हैं।' यह इतिहास को उलटाकर सिर के बल खड़ा कर देने वाली बात लगती है। लेखक ने जब खुद ही कबूल कर लिया कि गाँधी और मार्क्स को मिलाने के मामले में 'लोहिया और जयप्रकाश के प्रयासों का जल्द ही गर्भपात हो गया', तो फिर शाही साहब, उसी प्रयास का बारबार 'गर्भाधान' कराने की ख़्वाहिश का क्या मतलब? आपको यह यक़ीन है कि 'गाँधी के भीतर से मार्क्स के पुनर्विकास के लिए प्रयास करने की ज़रूरत है'। फिर आप यह भी कहते हैं कि 'गाँधी स्वयं यह काम नहीं कर पाए।' ये सब उलटबाँसियों जैसी बातें हैं! यह मत समझिये कि मैं गाँधी-विरोधी हूँ। लेकिन अपने बारे में यह भी दावा नहीं करता कि मैं गाँधीवादी हूँ या मार्क्सवादी हूँ। मैं तो चाहता हूँ, गाँधी और मार्क्स के बारे में अपनी समझ को साफ़ करने में आप जैसों की मदद पा सकूँ।.... अशोक वाजपेयी ने भी ग़ज़ब ही किया है। अपनी 'रुचियों के परिसर' में गाँधी को इस तरह घसीट लाए हैं कि ग़ज़ब की नई जानकारियाँ देते हैं। जैसे, 'आख़िरीबार ज़िन्ना को मनाने गाँधी गये तो अपने साथ व्हिस्की की बोतल ले गये!' यह जानकारी अशोकजी के हाथ कैसे लगी, इसका कुछ अता-पता नहीं, सिवा इसके कि 'कहा तो यह भी जाता है'! हुज़ूर,कहा तो पता नहीं क्या-क्या जाता है! जो कहा जाता है, वह सबका सब गंभीरता से सुनने का नहीं होता, और अगर सुन भी लीजिए तो कहने का नहीं होता!

21वें अंक में अरविंदाक्षन जी ने मौजूदा 'ज्ञानसमाज' का अच्छा ख़ाक़ा खींचा है। जोसेफ़ फ़्लैंडर्स के लेख का हिंदी अनुवाद देकर आपने साइकोलाजी ऑफ़ इमोशन्स को समझने में मदद की है। शायद, इससे हिंदी के लेखकों को भी इस तरह के काम हाथ में लेने की प्रेरणा मिले। वरना तो हिंदी वालों के लिए ये सब अछूते क्षेत्र हैं। और हाँ, उग्र जी की कविता (संदर्भ 1857) को सामने लाकर आपने ऐतिहासिक महत्त्व का काम किया है।

'कहाँ है हमारे अपने समय का प्रेमचंद'— 22वें अंक में यह सवाल उठाकर आपने प्रेमचंद में अपने समय की ख़ोज और अपने समय में प्रेमचंद जैसी ज़िम्मेदाराना क़लम की खोज की ज़रूरत जताई है। 'ख़ूनी' कहानी के हवाले से आपने प्रेमचंद को गाँधीवादी/मार्क्सवादी जैसी, प्रविधियों से जाँचने की सीमाएँ उजागर कर दी हैं। 'प्रेमचंद के पात्र' वाला खंड प्रासंगिक है लेकिन कुछ और अच्छा भी हो सकता था।.... आगे के अंकों के लिए आपको शुभकामनाएँ।

—इकबाल बहादुर वर्मा, हैदराबाद

'हिंद स्वराज' के सौंवे साल पर ये प्रश्न भी उठाइये

गांधीजी के आर्थिक चिंतन को दुनिया के अर्थशास्त्रियों ने माना है लेकिन उनकी कर्मभूमि वर्धा विकास से कोसों दूर है। यहां के स्थानीय सोशलिस्ट चौक में रोज़ लगते हैं मजदूरों के मेले। जिन्हें काम मिला तो वे खुश, जिन्हें काम नहीं मिला उन्हें पेट की चिंता। पेट की आग शांत करने के लिए तकरीबन 50-60 किलोमीटर सुदूरवर्ती क्षेत्रों से वर्धा शहर में लगभग 700 मजदूर पहुंचते हैं जिनमें से करीब 200 को ही काम मिल पाता है। बाकी 500 को खाली हाथ घर लौटना पड़ता है।

यहां आए 12 से 60 वर्ष के महिला-पुरुष मजदूरों की व्यथा दिल दहलाने वाली है। वे मीलों पैदल चलकर थक जाते हैं, कुछ लोगों को तो 12 बजे रात घर पहुंचने के बाद अगली सुबह 4-5 बजे घर से रोज़ी-रोटी की जुगाड़ में निकल जाना पड़ता है। वर्धा आने पर काम की चिंता सताती है। एक भी मालिक आता है तो अनेक मजदूर उस पर टूट पड़ते हैं। दिनभर कड़कती धूप में गड्ढा खोदकर सौ रुपये मिलते हैं। काम मिल गया तो ठीक है, वर्ना घर लौटने में भी आफ़त। टी.टी. पकड़ ले जाए या छोड़ दे। अधिकांश श्रमिकों में रोज़गार गारंटी योजना के प्रति अनभिज्ञता दिखी। कुछ ने तो जनप्रतिनिधियों को निशाना बनाते हुए कहा कि चुनाव के समय ही नेताओं को ग़रीबों की याद आती है। फिर वे हमसे दूर हो जाते हैं।

आज़ादी के छह दशक के बाद भी वर्धा शहर के आर्वी नाका के समीप वडार समाज विकास की किरणों से मीलों दूर है। करीब हजार-बारह सौ जनसंख्या वाले वडार समाज की अधिकांश स्त्रियां पेट की क्षुधा शांत करने के लिए कचरा चुनने को विवश हैं वहीं पुरुष गड्ढे खोदकर अपना गुज़ारा चलाते हैं। क़रीब 300 बच्चों में से आधे से अधिक बच्चे शिक्षा से वंचित हैं। यहां एक ही व्यक्ति 12 वीं कक्षा तक पहुंच पाया है जबकि 10वीं अनुत्तीर्ण लोगों की संख्या करीबन 10 है। जहां यह कहते नहीं अघाते कि बिजली उत्पादन में हम सक्षम हो रहे हैं, वहीं यहां करीबन 200 घरों में मात्र 20-22 घरों में ही बिजली है।

गजराई ने प्रसव पीड़ा से मृत हुई अपनी पत्नी की दाह-संस्कार के लिए अपने नवजात दूध मुंहे शिशु को मात्र 12 सौ रुपए में बेच दिया। दूसरी तरफ़ यूपी जौनपुर जिला के बंखेड सोनकर ने अपनी पुत्री संगीता के गुर्दे की बीमारी का इलाज ना करा पाने के कारण उन्हें गोमती नदी में फेंक दिया। दोनों प्रकरणों में न तो विपिन गजराई और न ही सोनकर की कोई ग़लती है, दोनों दरिद्रता के सामने विवश हैं।

भूमंडलीकरण की पूरी अवधारणा 'विकास की पूंजी विदेशी पूंजी' के नारे के तहत बुनी गयी है। इसके पीछे एक गैरजिम्मेदाराना तर्क दिया गया है कि विदेशी पूंजी आएगी तो नये कारखाने और कारोबार खुलेंगे। इससे रोज़गार में वृद्धि होगी। राष्ट्रीय आय में वृद्धि होगी, विकास की दर बढ़ जाएगी। आपने हाल ही में देखा कि आर्थिक मंदी से लोग कैसे हलाकान है। आर्थिक मंदी से एक करोड़ से ज़्यादा लोग बेरोज़गार हो चुके हैं। पिछले वर्षों के बेरोज़गारों की संख्या जोड़ दें तो देश में आज सरकारी आंकड़ों के अनुसार 6 करोड़ लोग बेरोज़गार हैं जबकि पांच वर्ष पूर्व 4 करोड़ से कम ही लोग बेरोज़गार थे। साथ ही यह भी कहा गया कि वैश्वीकरण से नए कल कारखाने आएंगे, प्रौद्योगिकी लगेगी। आप देखते ही हैं कि बहुराष्ट्रीय निगम आज हमारे बीच में कोल्ड ड्रिंक्स, आलू चिप्स, टमाटर की चटनी, मसाले आदि बेच रहे हैं। इसमें किस उत्तम कोटि की प्रौद्योगिकी लगती है। यह तो स्थानीय कुटीर उद्योग के सर्वनाश पर तुला हुआ है। विशाल आकार वाले करोड़ों, अरबों के निवेश के अत्याधुनिक कारखानें, महंगी ऊर्जा की

खपत करने वाली प्राकृतिक, भौतिक और आधारभूत संसाधनों की विशाल खर्च करने वाली, आमतौर पर विलासिता में सहायक ऐसी वस्तुओं का उत्पादन करते हैं (जैसे महंगी इमारतें, निजी कारें, बिजली के उपकरण, जवाहरात और आभूषण, महंगे होटल) जो 70से 80 प्रतिशत भारतीयों की पहुँच से बाहर होती है। इसमें रोज़गार भी कम लोगों को मिलता है।

प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह एक अर्थशास्त्री होने के नाते भूमंडलीकरण को ही विकास के दायरे में न लाएं बल्कि उन्हें गांधीजी के आर्थिक चिंतन से भी सीख लेनी चाहिए। यह सब इसलिए कहा जा रहा है जब हम हिन्द स्वराज की सौंवी वर्षगांठ मना रहे हैं तो ऐसे में भारत के विकास के लिए विकल्प के रास्ते तलाशने की ज़रूरत है।

—अमित कुमार विश्वास, वर्धा

वैकल्पिक मीडिया की ज़रूरत

'बहुवचन' के 21 वें अंक में आपने अपने संपादकीय में संचार-माध्यमों के सम्बन्ध में कुछेक ऐसे सवाल उठाए हैं, जो मेरे लिए बहुत ही दुखती हुई रग के समान रहे हैं। यह कैसी विवशता है कि हम वह सब पढ़ने-सुनने-देखने के लिए बाध्य हैं, जिसे हम एक पल के लिए भी नहीं देखना या सुनना चाहते, क्योंकि वह सब मानवीय गरिमा की दृष्टि से, बहुत ही स्पष्ट और निर्विवाद रूप से, बहुत ही गर्हित-कुत्सित है, बहुत ही पतित और अधम है, बहुत ही गन्दा और घृणित है, इसलिये बहुत ही विनाशकारी है, एकदम विष की तरह! और इसके बरक्स हमारा लेखक या बुद्धिजीवी समाज है, जो अपनी रचनाशीलता की हाथ-दांत की मीनारों पर बैठा हुआ अपनी रचना, अपने प्रकाशन, अपनी सराहना, अपनी प्रतिष्ठा, अपने सम्मान, अपने पुरस्कार की दुनिया में आत्ममुग्ध और मगन है— उस विशाल जन की चिन्ता से कतई निस्पृह, जो इन माध्यमों का शिकार बन रहा है। आप इस लेखक-समाज में जाइये, उनकी चर्चा सुनिये, उनकी दैनन्दिन जीवन-चर्या को देखिये, आपको इसको ले कर कोई सचमुच की चिन्ता नहीं मिलेगी, कोई सचमुच का सरोकार नहीं मिलेगा, कोई छोटा-सा भी प्रयत्न या उद्योग या हस्तक्षेप-इसकी कोई बेचैनी नहीं मिलेगी। यह हाल है उनका, जिन्हें हम लेखक, कलाकार, बुद्धिजीवी, और संस्कृतिकर्मी कहते हैं, जिन्हें सबसे अधिक सचेतन और जागरूक तथा समाज का 'पायोनियर' समझा जाता है। आप समझ सकते हैं कि स्थिति कितनी भयावह और दुखद है।

इसलिये मैं जो कहना चाहता हूँ, वह यह है कि सवाल संचार-माध्यमों की 'अर्थवत्ता' का नहीं है। सवाल वर्तमान में, उसकी उस कुत्सित भूमिका का है, जो वे निष्कंटक और अबाध रूप से, बहुत ही आक्रामकता और बहुत ही विध्वंसात्मकता के साथ अदा कर रहे हैं। इन संचार माध्यमों ने हमारे समाज की समूची चेतना-उसके सोच-विचार, उसके मूल्यों-मानकों, रुचि-संस्कृति, आचार-व्यवहार, नीति-नैतिकता पर पूरा कब्जा कर लिया है। आज हमारे पूरे समाज में, क्या सोचना है, क्या करना है, क्या खाना-पीना है, क्या पहनना है, कैसे सजना-संवरना है, कैसे हंसना-बोलना-बतियाना है, क्या पसंद-

नापसंद करना है, कैसे जीवन का सपना देखना है, यह मीडिया इस सबका नियन्ता बल्कि ठेकेदार बन बैठा है। कभी-कभी ऐसा लगता है, जैसे हमारे पूरे देश का समाज एक विशाल शिक्षण-शिविर हो और यह मीडिया ही उसका शिक्षक। अध्यापक, वैज्ञानिक, दार्शनिक, साहित्यकार, संस्कृतिकर्मी, राजनीतिज्ञ, लगता है इन सब की भूमिकाएं समाप्त हो गयी हैं।

यही नहीं, मीडिया का इससे कहीं अधिक गंभीर और खतरनाक जो पहलू है, वह है इसका समाचारों के प्रकाशन या प्रसारण में अनेक बार सत्य को विकृत करने या उसके ऊपर आवरण डालने का कार्य। मीडिया की इस प्रकार की भूमिका के बारे में देश की जनता को बहुत ही कम जानकारी है। जब समाज के शीर्षस्थ माने जाने वाले अधिकांश साहित्यकारों और बुद्धिजीवियों को ही इसके बारे में कोई जानकारी नहीं है, तो फिर आम जनता को क्या कहा जाय? मीडिया के इस चरित्र को यदि किसी प्रसंग में आप किसी सूत्र से जान पाएं, तभी आप इस बात को समझ पाएंगे कि मैं क्यों एकदम 'संदेहवादी' हो चुका हूं और 'एकदम भरोसा' खो चुका हूँ। अभी कुछ ही माह पूर्व लालगढ़के आन्दोलन का केस याद दिलाना चाहूंगा। इलेक्ट्रॉनिक और प्रिण्ट दोनों ही मीडिया ने जो समाचार प्रसारित और प्रकाशित किये थे, आप उनसे अच्छी तरह अवगत होंगे। आप ने देखा होगा कि इस पूरे प्रसंग को कुछ इस प्रकार दर्शाया गया था चूंकि लालगढ़पर माओवादियों ने कब्ज़ा करके उसे मुक्तांचल बना लिया था, इसलिये प0 बंगाल की राज्य पुलिस और केन्द्र के पैरा मिलिटरी बल के द्वारा उसी को मुक्त कराने के लिए यह अभियान चलाना पड़ा। सारे समाचारों को, दृश्यों को इसी रूप में प्रस्तुत किया गया था। परन्तु मैं यदि आपसे कहूं कि लालगढ़के आन्दोलन का वास्तविकता में माओवाद से कोई सम्बन्ध नहीं था और यह आन्दोलन लालगढ़के बहुत ही ग़रीब और बदहाल आदिवासियों का, उनकी अपनी समिति-'पुलिसी संत्रास बिरोधी पब्लिक कमेटी' के नेतृत्व में, उनकी मांगों कर ले कर चल रहा, पूरी तरह से एक लोकतांत्रिक जनआन्दोलन था, तो आपको शायद आश्चर्य होगा और मेरी बातों पर विश्वास नहीं होगा। लेकिन मैं आपसे कहूंगा कि आप कुछ तथ्यों के बारे में सोचिये और अपनी सहज बुद्धि से विचार करिये कि 'आपरेशन ग्रे हाउण्ड' और 'आपरेशन कोबरा' के नाम से लालगढ़ इलाक़े में माओवादियों के हमले और उनके कब्ज़े के खिलाफ़ राज्य पुलिस और केन्द्रीय पैरामिलिटरी बल के द्वारा चलाए जा रहे इस बर्बर दमनपूर्ण अभियान में आखिर ऐसा कैसे हुआ कि इस पूरे अभियान के दौरान एक भी माओवादी न घायल हुआ, न मारा गया, न पकड़ा गया? यही नहीं, एक भी पुलिस वाला भी न घायल हुआ, न मारा गया? मीडिया के अनुसार माओवादी ए.के. 47, राकेट लांचर, राइफलों और विस्फोटकों से लैस थे, जिनसे पुलिस को 'गन बैटिल' करना पड़ रहा था। तो, सवाल यह है कि इस 'गन-बैटिल' में जो गोलियां चलीं, वे कहां से आयीं और उनसे क्यों न तो कोई घायल हुआ, न मारा गया। वास्तविकता यह है कि यह अभियान दीर्घकाल से घोर गरीबी, उपेक्षा, बदहाली और पुलिस अत्याचार की शिकार लालगढ़की आदिवासी जनता को–आक्रोश, विक्षोभ से उफनाते जुझारू जन-आन्दोलन को नेस्तनाबूद करने के लिए, इस पर 'माओवादी' का लेबल लगा कर राज्य और केन्द्र सरकार ने संयुक्त रूप से सशस्त्र कार्रवाई करने की सुनियोजित ढंग से योजना बनायी थी। यह 'गन बैटिल' दिखावटी था। इस तथाकथित अभियान की आड़ में की गयी कार्रवाई के द्वारा वाममोर्चा सरकार ने लालगढ़ में अपने खिलाफ़ उपजे समस्त विक्षोभ, विरोध, घृणा, प्रतिरोध, उनके आन्दोलन और उनकी जायज़ मांगों को नृशंसतापूर्वक कुचल कर आन्दोलनरत आदिवासियों को इलाके से खदेड़ कर बाहर कर दिया गया। यही है लालगढ़ में

शान्ति को पुनर्स्थापित करने की कहानी। इस पूरे अभियान में, वहां की जनता के साथ जो कुछ हुआ, वह कितना बर्बर और कहर बरपा करने वाला था, इसकी पूरी अलग ही दास्तान है, इसका वर्णन करने का यहां अवकाश नहीं है। यही था, वास्तव में, 'माओवादियों' के 'मुक्तांचल' को मुक्त कराना। जिन पत्रकारों को वहां जाने का अवसर मिल सका, उनके बयान इस तथ्य के प्रमाण हैं। नन्दीग्राम और सिंगूर में भी ऐसा ही करने की कोशिश की गयी थी और वहां भी मीडिया ने ठीक यही भूमिका अदा की थी, मगर वहां कई कारणों से न केवल उन्हें कामयाबी नहीं मिल सकी, वरन् मुंह की खानी पड़ी। इन आन्दोलनों के समर्थन में जिस प्रकार प0 बंगाल के लेखकों, कलाकारों और बद्धिजीवियों का समाज हज़ारों-हज़ार की तादाद में सड़कों पर निकला और उसने अपनी आवाज़ बुलन्द की, वह तो आज़ाद भारत में साहित्य के इतिहास की एक बेमिसाल और गौरवशाली घटना है। लेकिन इस घटना के समाचार के आपको हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं में शायद ही कहीं दर्शन हुए हों। वास्तव में, आज साहित्य प्रेमचंद की परिकल्पना के एकदम उलट राजनीति का दुमछल्ला बनकर रह गया है।

ऐसी स्थिति में, जबकि समाचार को इस हद तक एकदम ही दूसरे रंग में रंग कर पेश किया जा रहा हो, तब आज हमारे लिए सबसे ज़रूरी काम हो सकता है, तो वह सच को सामने लाना और अधिकाधिक सामर्थ्य के साथ उसे जनता के सामने उजागर करना। इसी को दूसरे शब्दों में कहें, तो कह सकते हैं, और जैसा कि आपने नाम दिया है—'वैकल्पिक संचार-व्यवस्था'। आपने उचित ही इस सवाल को अपनी चिन्ता का विषय बनाया है। आपका यह कहना भी सही है कि 'हमारी पत्र-पत्रिकाएं-यदि उनके पीछे सही उद्देश्य हो और सच्ची रचनात्मक बेचैनी हो, तो ऐसी वैकल्पिक संचार-व्यवस्था का रूप ले सकती हैं।' और यह भी एकदम सही है कि हमारी पत्र-पत्रिकाओं को समाज के 'सांस्कृतिक बैरोमीटर की तरह होना चाहिए।' लेकिन इसके लिए जो बेहद ज़रूरी है, वह चीज़ अर्थात् गहरी संवेदनशीलता कहां है, जिससे कि सच्ची और गहरी बेचैनी पैदा होती है? दरअसल, हमारा आज का लेखक-समाज, जो विचारधारा, मूल्य, जनवाद, प्रगतिशीलता, मानवीय संवेदना, सामाजिक सरोकार और जाने किस-किस चीज़ का दावा करता है, वास्तव में इन सबसे अधिकांश में असम्पृक्त है। यह सब उसके लिए बहुत कुछ औपचारिक जैसा है। उसकी चिन्ता का विषय मात्र उसका आत्म या व्यक्ति ही है। उसके पास जो अधिकतम 10-12 हज़ार की पाठक-वर्ग की जो छोटी-सी दुनिया है, वह उसी में जीने-मरने में संतुष्ट है। इसके बाहर जो कुछ है, वह न उसके सोच में है, न उसमें उसकी कोई रुचि ही है। उसके दायित्व-बोध के दायरे में वह सब नहीं आता। उसे उस विशाल हिन्दी भाषी जन की कोई चिन्ता नहीं है, जो उसकी उस दुनिया के बाहर पड़ा है। क्या सामान्य जन तक पहुंचने के लिए लेखकों का कोई भी प्रयास, उसके लिए कोई बेचैनी, न पहुंच पाने का कोई दर्द आपको कहीं दिखाई देता है? जो मानसिकता साहित्य-जगत में आज है, उसमें यह संभव भी नहीं है। यह एक हकीक़त है कि आज हमारे लेखकों और संपादकों ने अपने लिए एक दूसरा ही मार्ग अपनाया है। यह मार्ग है जन की ओर उन्मुख हो कर, उनके सहयोग और समर्थन को जुटा कर, अपनी पत्र-पत्रिकाओं के पाठक वर्ग का विस्तार करते हुए उन्हें जन.पत्रिका बनाने के सही और कष्टसाध्य मार्ग पर जाने के स्थान पर, विज्ञापन जुटाने या सरकारी सहायता का जुगाड़ बैठाने और इस प्रकार परमुखापेक्षिता और एक अनिवार्य दीनता की नियति को स्वीकार करके चलने वाला मार्ग। यह मार्ग है, पत्र-पत्रिकाओं को अपनी महत्वाकांक्षाओं की झण्डियां बना कर चलने के व्यक्तिवाद का मार्ग। वास्तव में, आज जब तक लेखक जनता के लगातार ठगे जाने,

लुटते जाने और मार खाने की त्रासद नियति को तथा उसके प्रति अपने दायित्व को भली-भांति महसूस करते हुए, उसके जीवन के साथ अपने को घनिष्ठता से जोड़ने का, उसके साथ अपने को एकाकार करने का संघर्ष नहीं चलाएगा, वह अपने इस व्यक्तिवाद से मुक्ति पाने का संघर्ष भी नहीं चला सकेगा। आज जिस प्रकार से हमारी संवेदनशीलता का ह्रास हो रहा है और वह कुन्द होती जा रही है, उसी का परिणाम है कि हम अपने चारों ओर जीवन के हर क्षेत्र में पूंजीवाद के हमलों के खिलाफ़ कोई प्रतिक्रिया और हस्तक्षेप करने में नितान्त अक्षम सिद्ध हो रहे हैं। इस संवेदना को जगाने और तीव्र करने का काम इस संघर्ष के बिना संभव नहीं है। एक वैकल्पिक संचार-व्यवस्था को जन्म देने का कार्य, वास्तव में इस प्रतिक्रिया और हस्तक्षेप की तीव्र इच्छा के सवाल के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। यह सवाल और कुछ नहीं, आज के समय का सर्वाधिक महत्वपूर्ण सवाल- एक सामाजिक, सांस्कृतिक आन्दोलन के निर्माण के लिए आगे कदम बढ़ाने का सवाल है। लेकिन हमारा लेखक-समाज 'नायक-विहीन समय' और 'किसी बड़े आन्दोलन से रहित समय' का रोना रोता हुआ, किसी 'कल्कि' के अवतार की प्रतीक्षा में बैठा है।

—सुधांशु कुमार मालवीय, इलाहाबाद

पूर्वाग्रह रहित आग्रह सहित

'बहुवचन' का अंक-20 दिल्ली में जब लोकार्पित हो रहा था, मैं वहाँ था। पहली बार मैंने आपको सुना, देखा। संपादक के तौर पर जिस ज़िम्मेदारी के निर्वाह के संकल्प का संकेत आपने अपने वक्तव्य में दिया था, मैंने अंक जब पूरा पढ़ लिया तो यह देखकर बहुत उत्साहित हुआ कि आपके वक्तव्य का एक-एक शब्द 'बहुवचन' की सामग्री से प्रमाणित हो रहा है। इस अंक की वैचारिकी (जो रचनाओं के कथ्य से निर्मित होती है) को लेकर बहुत बहसें हो सकती हैं। कोई यह भी प्रश्न कर सकता है (मैं खुद भी) कि विनोद शाही की गाँधी-भक्ति को इतनी प्राथमिकता क्यों दी गई, कुँवरनारायण पर दो-दो लेख (वह भी इतने लंबे-लंबे) देने के पीछे कौन-सा विवेक है..... वग़ैरह! नीलाभ का उपन्यासांश जिस दुनिया को उघारता है, वह सचमुच अंतर्विरोधों की दुनिया है लेकिन उससे ज़्यादा वह लेखक की व्यक्तिगत कुंठाओं का आत्मकोटर है। लेकिन ये सवाल मैं उठा पा रहा हूँ तो इसलिए कि आपके पूर्वाग्रहरहित, आग्रह-सहित संपादन की शक्ति यही है कि 'बहुवचन' की सामग्री ने मुझे अपने बारे में गहरे सोच-विचार का निमंत्रण दिया। रचनाओं के संयोजन के क्रम में आप बीच में जो टिप्पणियाँ करते जाते हैं, उनसे चीज़ें इस तरह जुड़ जाती हैं कि पढ़ने की उत्सुकता और बढ़ जाती है।

—अमरेश महाजन, गुड़गाँव

यह व्यथा बहुत कुछ कहती है

बीच में 'बहुवचन' जिस दशा को प्राप्त हो गया था, उसे देखकर यह कल्पना करना मुश्किल था कि 'बहुवचन' यह रूप भी ले सकता है। आकार ही नहीं, प्रकार भी बदल गया। 'स्वत्व-विमर्श' में 'स्वत्व'

के प्रश्न को जिन जिन स्तरों पर उठाया गया है, वे सभी स्तर हमारी अवधानता में रहें, तो सोच की एकांगिता से हम बचेंगे। डार्विन की आत्मकथा का अंश आज के वैज्ञानिक और तकनीकी समाज के दावेदारों को ज़रूर पढ़ना चाहिए। निराला के एक गीत की पंक्ति हैं—'वह हँसी बहुत कुछ कहती थी'। डार्विन जब अपनी वैज्ञानिकता की वेदी पर कविता, संगीत जैसी कलाओं की बलि चढ़ जाने की अपनी व्यथा का अनुभव करता है तो लगता है—'यह व्यथा बहुत कुछ कहती है।' अंक-21 में भावों के मनोविज्ञान वाला लेख साहित्य के अध्येताओं की नज़र में लाने का ज़रूरी काम आपने किया है।

—नाहर ठाकुर, राजनाँद गांव (छत्तीसगढ़)

सार्थवती बभूवुः

'बहुवचन' अब जाकर सचमुच 'बहुवचन' हुआ। 'द्रष्टिवती पत्रिका' सार्थवती बभूवुः
लेकिन एक शिकायत है, इसके अंक प्राप्त करने में 'द्रविड़ व्यायाम' करना पड़ता है। अशोकजी के समय तो इसका हर अंक विश्वविद्यालय और शिक्षा-संस्थाओं में तुरंत ही पहुँच जाया करता था। अब कहाँ पहुँचता है और कहाँ खत्म हो जाता है, पता नहीं चलता। कुछ ठिकाने ही तय कर दीजिए।..... अंक-20 और -21 ही देख पाया। साहित्य ही नहीं, अन्य कलाओं की भी एक भरी-पूरी बस्ती.....। हर खंड की शुरुआत में संपादकीय भूमिकाएँ अपनी संक्षिप्तता में कितना कुछ कह देती हैं। किसी भी रचना को बिना पढ़े लाँघकर आगे नहीं बढ़ा जा सकता।

—बनवारी, धनबाद (झारखंड)

विवाद से परे

विभूति जी ने संपादकों की जो टोली चुनी थी, उसको लेकर बहुत विवाद हुआ।....आप तो विवाद में कहीं भी नहीं थे। अंक-20 आया तो आपका नाम देखा। चौंका भी, क्या गड़बड़झाला है?.... लेकिन अब कोई धोखा नहीं है। धोखा तो वे खा गये जो पता नहीं, किन-किन की संपादकीय पात्रता पर उंगली उठा रहे थे। विभूति जी ने आपका चुनाव करके यह करिश्मा कर दिखाया। बधाई आपको दूँ या विभूति जी को!

—विनीत मिश्र, मुजफ्फ़रनगर

नयी तरह से सोचने का मौक़ा

हिंदी पत्रकारिता के बारे में शिकायत रही है कि चिंतनपरक सामग्री के लिए ज़्यादा गुंजाइश नहीं रहती। 'बहुवचन' इस शिकायत को दूर कर रहा है। इससे हिंदी का संसार कुछ अधिक विस्तृत होगा। रंगपुरुष 'हबीब' पर विस्तृत लेख देकर और 'प्रेमचंद के पात्र' नामका एक पूरा खंड संयोजित करके आपने हम पाठकों को नयी तरह से सोचने का मौक़ा दिया।

—मंगल चरण, मुम्बई

गरिष्ठता से बचायें

लंबे-लंबे शोध लेख छापने से 'बहुवचन' कुछ गरिष्ठ हो रहा है। सृजनात्मक सामग्री को अधिक स्थान दें।

—कल्पना वनौधा, दिल्ली

गद्य की स्फीति कविता पर हावी

अंक-20 में 'स्वत्व विमर्श' के तीनों लेख बहुत सुचिंतित है। विनोदशाही और अशोक वाजपेयी, दोनों ने अपनी-अपनी तरह से गाँधी के 'हिंद स्वराज' का संदर्भ लिया। ओरहान पामुक का व्याख्यान छापकर आपने उपन्यास के देश में 'स्व' और 'पर' की सापेक्षता के जिस प्रश्न को उजागर किया है, वह भारतीय उपन्यास के संदर्भ में भी विचारणीय है। व्योमेश शुक्ल की कविताएँ पढ़कर लगा कि गद्य की स्फीति कविता पर हावी हो रही है; आखिर गद्य में कविता कहाँ है—इस पर भी तो रोशनी डालिए।..... अशोक वाजपेयी के दिनों के 'बहुवचन' का स्तर आपने उन्नीस नहीं होने दिया, पर रचनात्मक वैविध्य के मामले में आप आगे हैं। रचनाकारों की दृष्टि से भी और रचनाओं की दृष्टि से भी।

—बालेंदु साहा, कलकत्ता

अंधेरे समय में स्मृतियों की कौंध

अंक-22 अभी अभी देखा। 'प्रेमचंद के पात्र'— यह एक नई परिकल्पना आपकी, बहुत ही लुभा गयी। हालाँकि कुछ अन्य पात्रों पर भी विचार हो सकता था। लेकिन अपने समय में प्रेमचंद के पात्रों की प्रेरणा-छवियाँ तलाशना महत्वपूर्ण है और 'बहुवचन' इस तलाश की राह बनाता है। वामिक़ और कामिल बुल्के का स्मरण आपने कराया। और हाँ, दाराशिकोह का भी। अंधेरे समय में स्मृतियों की इन कौंधों में अकेला इतिहास ही नहीं, वर्तमान भी दिप उठता है— अपनी चुनौतियों के साथ। ताजी साहब का लेख ख़य्याम के समूचे व्यक्तित्व पर प्रकाश डालता है, सिर्फ़ सौंदर्य और शराब के लिए जाने गये ख़य्याम के भीतर से एक समूचे ख़य्याम का खोज!

—इकबाल अहमद, जमशेदपुर

प्रेमचंद में अभी भी अनुद्घाटित है बहुत कुछ

आपके संपादन में 'बहुवचन' के इधर आये अंक देखे।... प्रेमचंद लंबे समय से मेरे भी अध्ययन-मनन के केंद्र में रहे हैं।' इसलिए 'बहुवचन'-22 में आपके संपादकीय में समाहित एतद्विषयक वक्तव्य से लेकर 'प्रेमचंद के पात्र' के अंतर्गत संयोजित-प्रकाशित लेखों को ध्यान से पढ़ गया।... मेरा मानना है, प्रेमचंद के कथा-साहित्य के नाट्यांतरण-मंचन और फ़िल्मांकन पर अभी बहुत गंभीरता से कम ही लिखा गया है।...

यतींद्र मिश्र ने लिखा है कि अब तक प्रेमचंद की कहानियों 'शतरंज के खिलाड़ी', 'कफ़न', 'सद्गति' तथा उपन्यासों 'गोदान' और 'गबन' पर ही फ़िल्में बनी हैं। मेरे संज्ञान में दो नाम और जोड़िये- 1. 'हीरा मोती' नाम से 'दो बैलों की कथा' पर बनी फ़िल्म और 2. 'ईदगाह' पर इसी नाम से बनी फ़िल्म, जिसे बच्चों के लिए ख़्वाज़ा अहमद अब्बास से, आज से कोई चार दशक पहले चिल्ड्रेंस फ़िल्म सोसाइटी ने बनवाया था।

प्रेमचंद की शताब्दी ही नहीं, सपादशती (125वीं वर्षगाँठ) का भी वर्ष गुज़र गया, पर खेदजनक है कि प्रेमचंद के द्वारा लिखी गई फ़िल्मों (जिनके लिए वे अनुबंध करने बम्बई गए व वहीं रहकर उन्होंने लिखा और कुछ में अभिनय भी किया) का एक भी प्रिंट खोजा-सहेजा और प्रदर्शित नहीं किया जा सका है। ज़ाहिर है, प्रेमचंद की फ़िल्मों पर लिखते समय फ़िल्मों से उनके जुड़ाव वाले पक्ष के साथ ही 'हीरा मोती' व 'ईदगाह' पर भी सम्यक् चर्चा के बिना यतींद्र का लेख अधूरा है। हाँ, सारांशतः उनका यह कहना कि प्रेमचंद की कहानियाँ और उपन्यास फ़िल्म माध्यम में अँटते नहीं हैं, सही है। मृणाल सेन ने 'क़फ़न' को अपने समय के साथ जोड़कर बनाया तो प्रेमचंद के कथा-फ्रेम से बाहर आने की स्वतंत्रता का उपयोग कर पाए। परंतु सत्यजित राय ने सामंतवादी दृष्टि तथा 'गुज़िश्ता लखनऊ' की दृष्टि और सोच से बँधकर ही 'शतरंज के खिलाड़ी' बनाई।... परंतु इससे बड़ा सच यह है कि 'शतरंज के खिलाड़ी' कहानी में प्रेमचंद अंग्रेज़परस्त कथाकार के रूप में उभरे हैं। नवाबी दौर की जिस पतनशीलता को उन्होंने इस कहानी में शुरू से ही थोप दिया है, वह 'सोज़े-वतन' से लेकर 'गोदान' तक लिखने वाले प्रेमचंद की कथा-दृष्टि से बिल्कुल मेल नहीं खाती। इस पर कुछ लिखा भी गया है, पर गहराई से लिखा जाना अभी भी शेष है।

प्रेमचंद ने बाल-साहित्य भी लिखा और मनोयोग से लिखा है। बचपन, विमातृत्व, ख़ासकर बच्चों को लेकर उनकी दृष्टि, सोच व लेखन से जुड़े पक्ष भी अभी अनुद्घाटित हैं।...

'प्रेमचंद के नाटकों में मुस्लिम किरदार' लेखक का शीर्षक 'कर्बला' तक ही सीमित रखने में क्या बुराई थी? एक रोचक तथ्य यह भी है कि प्रेमचंद की कहानियों व उपन्यासों का जितना नाट्यांतरण हुआ, उतना किसी अन्य का नहीं। ज़ाहिर है, मंचित भी उतना ही ज़्यादा हुए हैं प्रेमचंद यानी कि उनका साहित्य। यह तथ्य भी भुला दिया जाता है कि 'संग्राम' नाटक भी वस्तुतः उनके उपन्यास का स्वयं उनके द्वारा ही किंचित् संशोधित नाट्यांतरण है। इसे संयोग ही कहेंगे कि प्रेमचंद ने अपनी पहली रचना नाटक के तौर पर ही लिखी थी।

— बंधु कुशावर्ती, लखनऊ

लेखकों के पते

अजित कुमार : 166, वैशाली, पीतमपुरा, दिल्ली-110034
रमेशचंद्र शाह : एम-4, निरालानगर, भदभदा रोड, भोपाल-462003 (म.प्र.)
नंदकिशोर नवल : घाघा घाट रोड, महेंद्रू, पटना-800006 (बिहार)
कर्मेंदु शिशिर : 38/9, न्यू पुनईचक (दुर्गा मिल वाली गली), पटना-800023 (बिहार)
रमण सिन्हा : 86 न्यू ट्रांजिट हाउस, जवाहर लाल नेहरू वि.वि. नई दिल्ली-67
शंभुनाथ : 389, जी.टी. रोड, हावड़ा-711106
प्रणय कृष्ण : टी-10, पंचपुष्प अपार्टमेंट, अशोकनगर, इलाहाबाद-211001
मेहरबान राठौर : 247/180 बी (द्वारा, डा. अशोक कुमार पांडे) एलनगंज, इलाहाबाद- 211002
महेन्द्र राजा जैन : 8-ए, बंदरोड, एलनगंज, इलाहाबाद-211002
केशव तिवारी : द्वारा, पांडे जनरल स्टोर, कचहरी चौक, बाँदा (उ.प्र.)
बख्शीश सिंह : ई-17/18, शालीमार कालोनी, आदर्शनगर, अजमेर- 305001
विवेकानंद : आश्रम चौक, अररिया- 854311 (बिहार)
पीयूष दईया : द्वारा सुनील दईया, बी-201, शालीभद्र नगर, न्यू सापेटिया रोड, बेदला, उदयपुर- 313001(राजस्थान)
मेवाराम : 171, प्रीतमनगर (कबीर मंदिर चौराहे के निकट) इलाहाबाद (उ.प्र.)
हेम ज्योतिका : 65/115, कूर्मांचल निकेतन, पटपड़गंज, दिल्ली-92
रामशंकर द्विवेदी : 1260, नया रामनगर, उरई- 285001 (उ.प्र.)
बजरंग बिहारी तिवारी : 204, दूसरी मंज़िल, टी-134/1, बेग़मपुर, मालवीय नगर, नई दिल्ली-11017
पी.रविः हिंदी विभाग, श्री शंकराचार्य संस्कृत विश्वविद्यालय, कालटी-683574 (केरल)
अमरेंदु कुमार शर्मा : जसीडीह, देवघर, झारखंड, 814142
रोहिणी अग्रवाल : 258, हाउसिंग बोर्ड कालोनी, रोहतक-1 (हरियाणा)